विचार-विज्ञान

डॉ. हरद्वारी लाल शर्मा

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

विचार-विज्ञान

विचार-विज्ञान

डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा

हिंदुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

प्रकाशकीय

हिंदी में ज्ञान-विज्ञान से संबंधित उच्च स्तर के साहित्य का कितना अभाव है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत पुस्तक इसी कमी की पूर्ति को ध्यान में रखकर लिखी गई है।

पुस्तक का विषय तर्कशास्त्र है। इसमें योग्य लेखक ने सुबोध शैली में सोचने की प्रक्रिया, सिद्धांत तथा समस्याओं पर प्रकाश डाला है। पुस्तक चार भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में विचार के स्वरूप का अध्ययन है, दूसरे में विचार के मूल सिद्धांत हैं, तीसरे में विचार का मुख्य कार्य तथा चौथे में परीक्षण है।

पुस्तक इस विषय में रुचि रखनेवाले सामान्य पाठकों के लिए तो है ही, साथ ही इस विषय के विद्यार्थियों के पाठ्य-क्रम का भी इसमें पूरा ध्यान रक्खा गया है। आशा है हिंदी संसार इसका स्वागत करेगा।

हिंदुस्तानी एकेडेमी उत्तरप्रदेश
इलाहाबाद
१५—७—५६

डॉ० धीरेंद्र वर्मा
मंत्री तथा कोषाध्यक्ष

विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, भौतिक और रसायन आदि अनेक विज्ञान उपलब्ध हैं, जिनमें वैज्ञानिकों ने प्रकृति को बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न किया है, अनेक वस्तुओं के स्वरूप और उनके सामान्य नियमों का पता लगाया है। आज हमारे ज्ञान का क्षितिज बहुत विस्तृत हो गया है; हमारा अनुभव अधिक संगठित और व्यवस्थित हो गया है तथा अनेक निर्मूल धारणायें दूर हो गई हैं। हमने इस ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग भी किया है, यद्यपि विज्ञान का यह प्रधान लक्ष्य नहीं है। सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि हम, हृदय से नहीं, बुद्धि से, भावना की अधिक अपेक्षा न करके, विचार करने में समर्थ हो गये हैं।

विचार हमारे वैज्ञानिक अथवा बौद्धिक जीवन का आधार है। जहाँ कहीं, जब कभी हमें सत्य की गवेषणा अथवा सत्य का निर्णय करना होता है, हमारी मानसिक क्रिया विचार-प्रधान होती है। वैज्ञानिक की प्रयोग-शाला में, गवेषक के निरीक्षण में, न्यायाधीश के न्यायालय में तथा व्यवस्थापिका, विधान सभा आदि के वाद-विवाद और अन्तिम निर्णयों में, विचार ही प्रधान रहता है। भावना के सहारे हम न तो किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की खोज कर सकते हैं और न उसे प्रमाणित कर सकते हैं। न्यायाधीश का क्रोध, दया, स्नेह, परम्परा आदि के वशीभूत होना न्याय के लिये हानिकर होता है। इसी प्रकार अन्य स्थलों में भी निष्पक्ष और स्वतंत्र होकर विचार करने का अभ्यास सत्य की रक्षा के लिये आवश्यक है। दैनिक जीवन और सामाजिक सम्बन्धों में भी यदि हम आवेश, आवेग, पक्षपात, अन्ध-विश्वास, रूढ़ि और परम्परा आदि निर्बल भावनाओं से यथाशक्ति काम न लेकर, विचार से काम लें, तो अवश्य ही हमारा व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन अधिक सुखी हो सकता है। वस्तुतः विचार करने का अभ्यास, सत्य-निर्णयों को निर्भय होकर ग्रहण करने का साहस, प्रिय भी असत्य को त्याग देने की शक्ति, न केवल हमारे स्वस्थ मन के लक्षण हैं, बल्कि जीवन में प्रसन्नता के कारण और संस्कृत-मानव-व्यक्तित्व के आधार हैं। हम भावनाओं का निराकरण तो नहीं कर सकते, परन्तु दुर्भावनाओं के निर्मूलन से हम इनका परिष्कार और संस्कार अवश्य कर सकते हैं। सुन्दर रुचि

और उदात्त भावना के लिये विचार-शक्ति का विकास आवश्यक है, यह हमें स्वीकार करना पड़ता है।

विचार बुद्धि की सूक्ष्म और जटिल क्रिया है। इस क्रिया के स्वरूप, त्रिविध प्रकार, गति और चेष्टा को समझने का प्रयत्न इस देश में मनीषी महात्माओं ने बहुत प्राचीनकाल में प्रारम्भ किया। विचारों में संगति तथा व्यवस्था उत्पन्न करना, नानाविध अनुभूतियों में, जो भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्राप्त होती हैं, सामञ्जस्य और सन्तुलन लाना, यह हमारे देश के सत्य-द्रष्टा ऋषियों, शास्त्रकारों तथा आचार्यों का सतत प्रयत्न रहा है। सत्य की तर्क के द्वारा रक्षा और प्रतिष्ठा करना हमारे शास्त्रीय अध्ययन का अङ्ग है। भय, पक्षपात आदि के कारण विचारों का संकोच करना सदैव यहाँ हेय समझा गया। यही कारण है कि यहाँ अनेक मतवाद बुद्धि की स्वतन्त्रता से उत्पन्न हुए; किन्तु हम मतान्धता से दूर रहे। इस देश की बौद्धिक उदारता 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' से स्पष्ट सिद्ध होती है।

यह उदारता संस्कृति और विकास की परिचायक तो है ही, साथ ही यह नवीन गवेषणा के लिये बुद्धि की प्रवृत्ति को पोषक भी है। हमारे देश में भौतिक विज्ञानों की अपेक्षा अध्यात्म और धर्म के ऊपर अधिक बल दिये जाने के कारण, शास्त्रीय गवेषणा का स्तर, विशेषतः व्याकरण, दर्शन आदि में, बहुत ऊँचा रहा है। आधुनिक वैज्ञानिक शोध के लिये बुद्धि की यह उदारता बहुत ही सहायक पृष्ठभूमि प्रदान करती है। मानस के अनन्त अन्तराल में विचार के बल पर स्वतन्त्र उड़ान, जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों का निष्पक्ष और निर्भय मंथन, अन्य दृष्टिकोणों को समझने और आत्मसात् करने की क्षमता, ये सब बुद्धि की आग्रहशून्यता के ही फल हो सकते हैं। यह निश्चय है कि यह निराग्रही बुद्धि मानसिक साधना के द्वारा प्राप्त हो सकती है। परन्तु इस समय क्या, सदैव ही यह अत्यन्त आवश्यक है।

पश्चिम में इस विषय का विकास दूसरी ही पृष्ठभूमि में हुआ। सत्यवीर सुकरात ने तर्क द्वारा विचारों का मन्थन प्रारम्भ किया। अरस्तू ने तर्क-विज्ञान

की नींव डाली जो आज भी योरोपीय विचार-धारा की सुदृढ़ आधार भूमि है। संगति का सिद्धान्त इन्हीं महापुरुष की देन है। उन्होंने तर्क के भिन्न-भिन्न मार्गों का आविष्कार किया और विचार की सूक्ष्म गति का विवेचन किया। इतना ही नहीं, अनेक क्षेत्रों में तर्क के सिद्धान्तों द्वारा, अनुभवों और विचारों को व्यवस्थित करके अनेक विज्ञानों का बीजारोपण किया जिसके कारण वह आज पश्चिमी विज्ञान के जनक माने जाते हैं। वे विचार-विज्ञान के भी जनक हैं। मध्य युग के उत्तर काल तक यह परम्परा उसी रूप में चलती रही। यूरोप की धार्मिक क्रांति के अनन्तर, विचार बहिर्मुख हुआ और उसने पृथ्वी, आकाश और पाताल का दोहन प्रारम्भ किया। वैज्ञानिक गवेषणा के लिए विचार और तर्क का प्रयोग सबसे पहले बेकन ने प्रारम्भ किया। विचार को एक नवीन दिशा मिली और विचार की आगमन प्रणाली का विकास तथा विस्तार हुआ। विज्ञानों में जो प्रगति हुई इससे विचार की अनेक विधाएँ, शोध के अनेक मार्ग, अनुभूतियों को समझने और विशद करने के अनेक साधन उपलब्ध हुए। विचार के ऊपर भी मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक ढंग से विचार प्रारम्भ हुआ। साथ ही, विचार की सीमाएँ भी प्रकट हुईं। तर्क और विचार के अतिरिक्त शोध करनेवाली मानसिक शक्तियों का पता लगाया गया। इस प्रकार पिछले वर्षों में अन्य विज्ञानों की भाँति ही विचार-विज्ञान ने भी विकास किया। इससे मनुष्य को अवश्य ही आत्मबल और आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ है।

कहना होगा कि यह आत्म-बल और बुद्धि की असीम उदारता, दोनों ही आज के बौद्धिक जीवन के लिये उपयोगी हैं। यद्यपि हम केवल विचारमय प्राणी नहीं हो सकते : केवल तर्क के द्वारा मनुष्य का मूल्य केवल दो चार रुपये होगा क्योंकि उसके शरीर में कुछ जल, चीनी, लोहा, चर्बी आदि तत्त्व ही तो हैं जिनका बाज़ार भाव अधिक नहीं है। भावना और मनःप्रसाद आवश्यक हैं। किन्तु आज जिस विकास के स्तर पर हम पहुँच चुके हैं वहाँ विचारों का व्याघात करनेवाली भावनाओं के लिये स्थान नहीं; तर्क का तिरस्कार करनेवाले मनःप्रसाद का अवसर नहीं। अतएव विचार और सत्य को व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में हमें स्थान देना ही होगा।

ऊपर के कथन से स्पष्ट होगा कि विचार हमारे मन की महत्त्वपूर्ण क्रिया है। इसका अध्ययन भी कम महत्त्व का नहीं हो सकता। पाश्चात्य भाषाओं में 'विचार' का वैज्ञानिक अध्ययन सभी दृष्टिकोणों से किया गया है। पश्चिमी देशों में कोई भी बड़ा दार्शनिक और चिन्तक नहीं हुआ जिसने अपनी पैनी दृष्टि इस विषय पर न डाली हो। इसीलिये उन भाषाओं का साहित्य विचार-विषयक पुस्तकों से भरा है। इसके अतिरिक्त, साधारण परिचय के लिये सुगम पाठ्य-पुस्तकों की भी कमी नहीं है। कुछ पुस्तकें हमारे देश के लेखकों ने भी लिखी हैं, जो प्रशंसा के योग्य हैं। परन्तु अधिकांश पुस्तकें केवल अंग्रेज़ी ग्रन्थों का उच्छिष्ट मात्र प्रतीत होती हैं। न उनमें भारतीय पृष्ठ-भूमि है, न विचार की मौलिकता। हिन्दी के राष्ट्र-भाषा घोषित होने के अनन्तर, कई पुस्तकें हिन्दी में भी प्रकाशित हुई हैं; इनकी समालोचना हमें अभीष्ट नहीं। केवल इतना स्पष्ट है कि अभी हिन्दी में यों तो सभी वैज्ञानिक विषयों में गंभीर रचनाओं की आवश्यकता है, पर विचार के ऊपर इस प्रकार के साहित्य का सृजन परमावश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने इस दिशा में अग्रसर होने का साहस अथवा दुःसाहस किया है। यह क्षम्य केवल इसीलिये माना जा सकता है कि एक न एक के साहस के बिना प्रारम्भ असम्भव है। प्रस्तुत पुस्तक को चार भागों में बाँटा गया है : १. विचार के स्वरूप का अध्ययन—यह मुख्यतः मनोवैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें विचार के स्वरूप, उसके क्रम-विकास आदि पर प्रकाश डाला गया है। इसी भाग में वैज्ञानिक दृष्टि-कोण को स्पष्ट किया गया है तथा विचार-सम्बन्धी समस्याओं के स्वरूप का निश्चय किया गया है। २. विचार से सत्य का सम्बन्ध—इस भाग में 'सत्य' के स्वरूप का निर्णय किया गया है, तथा विचार करने में जिन मूल-सिद्धान्तों का उपयोग होता है, उन्हें स्पष्ट किया गया है। यद्यपि यह विषय दार्शनिक है, तथापि इसका यहाँ विवेचन केवल वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। ३. विचार का मुख्य कार्य, अपने मूल-नियमों के अनुसार चलकर, सत्य अथवा प्रकृति में सामान्य सिद्धान्तों की गवेषणा करना है। इस भाग में गवेषणा-पद्धति तथा गवेषणा-सम्बन्धी अन्य

प्रश्नों का विवेचन किया गया है। वस्तुतः इसमें उन सब विषयों का प्रतिपादन है जिन्हें पाश्चात्य न्याय-शास्त्र में Induction अथवा आगमन कहते हैं।
४. सत्य की स्थापना विचार के उन प्रकारों से होती हैं जिन्हें हम युक्ति, प्रमाण अथवा तर्क कहते हैं। इस भाग में इनके स्वरूप और आधार पर विचार किया गया है। सारे प्रमाण संगति के विविध रूप हैं। एक कथन दूसरे सामान्य, व्यापक सिद्धान्तों के अनुकूल अथवा संगत होकर ही सत्य हो सकता है। इसे रूढ़िवादी न्याय-शास्त्र में Deduction अथवा निगमन कहा गया है।

विचार की मूल-भूमि जीवन है। इसलिये विचार-विज्ञान को जीवनोपयोगी बनाने के लिये अनेक उदाहरण और समस्याएँ ली गई हैं जिनका स्थान हमारे जीवन में है। गम्भीर सिद्धान्तों को स्पष्ट और सरल बनाने के लिये कई उदाहरणों का पर्याप्त प्रयोग किया गया है। लेखक का विश्वास है कि दर्शन और विज्ञान ग्रन्थों में साहित्य की रोचकता और प्रसाद का आस्वादन सम्भव है। गम्भीर सिद्धान्तों के गाम्भीर्य को कम किये बिना लेखक ने पुस्तक को सरल, सुरुचि-पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है, साथ ही, इन सिद्धान्तों के व्यावहारिक उपयोग पर यथेष्ट ध्यान दिया है। इन कारणों से यह आशा करना दुराशा मात्र न होगी कि विचार-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करनेवाले पाठक के लिये इसका अध्ययन रुचिकर और लाभ-प्रद सिद्ध होगा।

प्रकाशक की कठिनाई का ध्यान रखते हुए पुस्तक को परीक्षोपयोगी बनाने का प्रयत्न भी किया गया है। प्रकाशक अपनी पुस्तक की बिक्री चाहता है। उसके लिये यह उचित ही है, परन्तु उच्च और गम्भीर साहित्य के सृजन के लिये यह प्रवृत्ति अवश्य बाधक है। जब तक इस प्रकार के प्रकाशनों के लिये विशेष सुविधा प्राप्त नहीं, तब तक प्रत्येक पुस्तक को विश्व-विद्यालय, शिक्षा-समिति आदि की परीक्षाओं के लिये उपयुक्त होना अनिवार्य होगा। इसी दृष्टि-कोण से इस पुस्तक में परीक्षा-समितियों द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम का पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। स्थान स्थान पर परीक्षार्थी छात्रों को उचित और पर्याप्त सामग्री अवश्य ही प्राप्त होगी। पुस्तक के अन्त में प्रश्न और अभ्यास केवल उन्हीं को दृष्टि में रखकर दिया गया है। अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी रूपान्तर भी इसी सुविधा के लिये है।

लेखक का सम्बन्ध अपनी पुस्तक से पिता का अपनी कन्या से सम्बन्ध की भाँति होता है। उसे उसके गुण, माधुर्य, सौन्दर्य की प्रशंसा करने का नैतिक अधिकार नहीं होता। पाठकों को समालोचना का पूर्ण अधिकार है। यदि उनकी समालोचना और सम्मति से लेखक कुछ लाभ उठा सका तो वह अवश्य ही पाठकों के प्रति कृतज्ञ होगा। लेखक ने श्री गणेशप्रसाद गुप्त एम० ए० से अनेक स्थलों पर भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों पर कई सुझाव पाये हैं। वे मेरे सहकारी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

विचार

विचार की उत्पत्ति और आवश्यकता

मनुष्य के लिए जानने की इच्छा उतनी ही स्वाभाविक है जितनी खाने-पीने की इच्छा। सभ्यता के विकास के साथ ही इस इच्छा का भी विकास हुआ है। वह तारे, नक्षत्र, आकाश, समुद्र, नदी, पशु-पक्षी, वनस्पति, मनुष्य, न जाने कितने पदार्थों के विषय में ज्ञान उपार्जन करना चाहता है। वह वायु के चलने, मेह के बरसने, ऋतुओं के परिवर्त्तन आदि अनन्त प्राकृतिक घटनाओं के कारणों को समझना चाहता है। चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, भूकंप, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, विप्लव, आर्थिक उन्नति और अवनति, सामाजिक विकास और ह्रास, आदि अनेक वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय करना तथा इनके सामान्य नियमों का पता लगाना चाहता है। आज मनुष्य के सम्मुख असंख्य प्रश्न हैं, क्योंकि जीवन और विश्व के सूक्ष्म से सूक्ष्म, गूढ़तम स्तरों के विषय में उसकी जिज्ञासा प्रबल है। यह जिज्ञासा हमारे वैज्ञानिक जीवन की आधार-शिला है। माना कि जीवन में इसके अतिरिक्त दूसरी प्रवृत्तियाँ, भावनाएँ और इच्छाएँ हैं, जिनकी तृप्ति हमारे लिए आवश्यक है। परन्तु ज्ञान के लिए यह स्वाभाविक इच्छा मनुष्य को मनुष्यता प्रदान करती है।

इस इच्छा की तृप्ति के लिए हमें अनेक साधन भी प्राप्त हैं। वस्तुओं के रंग, रूप, आकार, स्वाद, स्पर्श आदि का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा हो जाता है। इसे हम प्रत्यक्ष कहते हैं। परन्तु मनुष्य में जानने की शक्ति केवल प्रत्यक्ष तक ही सीमित नहीं है। हम स्मरण द्वारा अपने जीवन के अनेक अनुभवों को पुनः हृदयङ्गम कर सकते हैं। यह स्मृति है। साधारण जीवधारी भी प्रत्यक्ष और स्मृति से काम लेते हैं। उनके जीवन की समस्याएँ इतनी सरल होती हैं कि इनसे इनका काम चल जाता है। मनुष्य में इनसे भी अधिक, कल्पना-शक्ति होती है। कल्पना के द्वारा वह ऐसे संसार की सृष्टि कर सकता है, जिसका

उसने पहले कभी अनुभव न किया हो। उपन्यास, चित्र, काव्य, मूर्त्ति, आदि सब कल्पना की उपज हैं। इसके अतिरिक्त, गृह, ग्राम, नगर के निर्माण के लिए तथा समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि उन्नति के लिए हम अनेक योजनाएँ बनाते हैं। बिना कल्पना ये सब असम्भव हैं। साधारण पशुओं में भी यह शक्ति पाई जाती है, परन्तु मनुष्य में तो इसका रूप स्पष्ट, विकसित और रचनात्मक हो गया है। कल्पना के अतिरिक्त मनुष्य में विचार-शक्ति भी है। इसके द्वारा हम अपने सम्पूर्ण अनुभव को व्यवस्थित, संगठित और संगत बनाते हैं। ऐसा करने से हम नवीन परिस्थितियों को समझने और नवीन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होते हैं। नवीन सत्यों की गवेषणा विचार के द्वारा की जाती है। जब कभी मनुष्य उलझनों का सुलझाव बुद्धि के द्वारा करन चाहता है, वह विचार करता है। वस्तुतः बुद्धि और प्रश्न के संयोग से विचा उत्पन्न होता है।

हम उपर्युक्त को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे।

मुझे एक विशेष अवसर के लिए घर सजाना है। उस अवसर के अनुकूल घर को सजाने के लिए कौन सी सामग्री आवश्यक है, कौन अनावश्यक; प्रत्ये वस्तु का क्या स्थान हो, जिससे सारा प्रबंध नवीन परिस्थिति में उचित, सुख और सुन्दर जान पड़े? इन प्रश्नों का उत्तर घर में रक्खी हुई वस्तुओं के केवल 'प्रत्यक्ष' ज्ञान से नहीं दिया जा सकता। तब मैं ऐसे अवसरों का स्मरण करत हूँ--अपने घर और दूसरों के घर--जब इस प्रकार की परिस्थिति उपस्थित थी 'स्मृति' केवल इतना बता सकती है कि अमुक अवसरों पर क्या किया गया था यह अवसर पूर्व अवसरों से भिन्न और नवीन है। तब केवल 'स्मृति' से काम चल सकेगा। 'कल्पना' के द्वारा हम नवीन चित्रों का ध्यान कर सकते हैं; पर कल्पना स्वभावतः कुछ स्वतंत्र होती है। कल्पना की--क्या अच्छा होता हमारी बैठक कुछ और बड़ी होती और सामने हरी घास का मैदान होता जि 'पार्टी' का प्रबंध हो जाता। बैठने के लिए कुर्सियों के स्थान पर दो बड़े इट के गलीचे......। पर यह तो केवल उड़ान है। मैं इससे जग गया। कल्पना मा मुझे अपने प्रश्न से दूर ले गई। अब बुद्धि से काम लेना है। पहले तो अवसर की आवश्यकताओं को समझा--लगभग बीस आदमियों के रहने, बै

उसने पहले कभी अनुभव न किया हो। उपन्यास, चित्र, काव्य, मूर्त्ति, आदि सब कल्पना की उपज हैं। इसके अतिरिक्त, गृह, ग्राम, नगर के निर्माण के लिए तथा समाज की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि उन्नति के लिए हम अनेक योजनाएँ बनाते हैं। बिना कल्पना ये सब असम्भव हैं। साधारण पशुओं में भी यह शक्ति पाई जाती है, परन्तु मनुष्य में तो इसका रूप स्पष्ट, विकसित और रचनात्मक हो गया है। कल्पना के अतिरिक्त मनुष्य में विचार-शक्ति भी है। इसके द्वारा हम अपने सम्पूर्ण अनुभव को व्यवस्थित, संगठित और संगत बनाते हैं। ऐसा करने से हम नवीन परिस्थितियों को समझने और नवीन समस्याओं को सुलझाने में समर्थ होते हैं। नवीन सत्यों की गवेषणा विचार के द्वारा की जाती है। जब कभी मनुष्य उलझनों का सुलझाव बुद्धि के द्वारा करना चाहता है, वह विचार करता है। वस्तुतः बुद्धि और प्रश्न के संयोग से विचार उत्पन्न होता है।

हम उपर्युक्त को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करेंगे।

मुझे एक विशेष अवसर के लिए घर सजाना है। उस अवसर के अनुकूल घर को सजाने के लिए कौन सी सामग्री आवश्यक है, कौन अनावश्यक; प्रत्येक वस्तु का क्या स्थान हो, जिससे सारा प्रबंध नवीन परिस्थिति में उचित, सुखद और सुन्दर जान पड़े? इन प्रश्नों का उत्तर घर में रक्खी हुई वस्तुओं के केवल 'प्रत्यक्ष' ज्ञान से नहीं दिया जा सकता। तब मैं ऐसे अवसरों का स्मरण करता हूँ--अपने घर और दूसरों के घर--जब इस प्रकार की परिस्थिति उपस्थित थी। 'स्मृति' केवल इतना बता सकती है कि अमुक अवसरों पर क्या किया गया था? यह अवसर पूर्व अवसरों से भिन्न और नवीन है। तब केवल 'स्मृति' से काम न चल सकेगा। 'कल्पना' के द्वारा हम नवीन चित्रों का ध्यान कर सकते हैं; परन्तु कल्पना स्वभावतः कुछ स्वतंत्र होती है। कल्पना की--क्या अच्छा होता कि हमारी बैठक कुछ और बड़ी होती और सामने हरी घास का मैदान होता जिसमें 'पार्टी' का प्रबंध हो जाता। बैठने के लिए कुर्सियों के स्थान पर दो बड़े इटली के गलीचे......। पर यह तो केवल उड़ान है। मैं इससे जग गया। कल्पना मानो मुझे अपने प्रश्न से दूर ले गई। अब बुद्धि से काम लेना है। पहले तो उस अवसर की आवश्यकताओं को समझा--लगभग बीस आदमियों के रहने, बैठने

और भोजन आदि का प्रबंध दो दिन तक के लिए करना है। वे लोग मेरे संभ्रान्त अतिथि हैं। उन पर मैं यह प्रभाव उत्पन्न करना चाहता हूँ कि मैं एक संपन्न, चतुर और अतिथि-सत्कार में कुशल मित्र हूँ। साथ ही, व्यय भी अधिक न हो। कुछ थोड़ा सामान खरीदना पड़े। बैठक और दूसरे कमरों को सजाने के लिए कम से कम वस्तुएँ लानी पड़ें इत्यादि। इस प्रकार अपनी समस्या की वस्तु-स्थिति को सबसे पहले समझने का प्रयत्न किया और इस स्थिति के आधार पर ही इसका सुलझाव किया। इस प्रकार की कल्पना को हम रचनात्मक कल्पना या विचार कहेंगे।

यहाँ यह स्पष्ट हो गया होगा कि बुद्धि में प्रश्न के उपस्थित होने पर विचार का प्रारंभ होता है। यदि प्रश्न का सुलझाव, प्रत्यक्ष, स्मृति अथवा कल्पना के आधार पर हो जाय तो विचार स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होता। यदि परिस्थितियों को ठीक समझकर उन्हीं के अनुसार सुलझाव किया जाये तो बुद्धि की गति संयत होगी। इसी क्रिया का नाम विचार है। यदि हम ध्यान से देखें तो प्रतीत होगा कि हम बहुत बार अनेक प्रश्नों का उत्तर विचार के बल से देते हैं। मेरा छाता कहाँ है? इस मास में व्यय किस प्रकार किया जाय कि कुछ रुपया बच जाय? इस स्थान में कैसा मकान बनाया जाय कि स्वस्थ, सुखप्रद और पर्याप्त हो सके? आदि-आदि। यदि इन प्रश्नों का उत्तर स्मृति आदि पर आश्रित हो तो सरलता तो अवश्य हो जाती है, परन्तु विचार-शक्ति से काम नहीं लिया जाता।

मनुष्य ने विचार-शक्ति को इतना प्रबल और विकसित बना लिया है कि उसने अनेकों ऐसे प्रश्नों का सुलझाव खोज डाला जो उसकी दैनिक आवश्यकताओं से संबंध नहीं रखते और जिनका सुलझाव विचार के अतिरिक्त और किसी प्रकार संभव नहीं। जैसे—ये आकाश के प्रकाश-पिण्ड क्या हैं? क्या इनकी गति नियम के अनुसार है और वह नियम कौन-सा है? ऋतुओं का नियम के अनुसार परिवर्तन, दिन-रात का आना-जाना, समुद्रों की धारा, पर्वतों, झीलों का बनना, भूकंप का होना, समाज का विकास, राष्ट्रों का उत्थान और पतन आदि कितने प्रश्न हैं जिनके विषय में मनुष्य ने विचार किया है, और उनको यथोचित रूप से समझने का प्रयत्न किया है? प्रकृति के अनन्त

पदार्थों का स्वरूप, उनके नियम और गति समझने के लिए मानव-बुद्धि ने सैकड़ों वर्षों से अथक परिश्रम किया है जिसके फल-स्वरूप अनेक आधुनिक विज्ञानों की उत्पत्ति और विकास हुआ है।

सारे विज्ञान मनुष्य की विचार-शक्ति की उपज हैं। प्रत्येक विज्ञान प्रकृति के किसी विशेष क्षेत्र से संबंध रखनेवाले प्रश्नों का उत्तर है। सभ्यता के साथ मनुष्य में जिज्ञासा का भी विकास हुआ। साधारण जीवधारियों में यह जिज्ञासा केवल अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करने तक ही सीमित है। परन्तु मनुष्य में यह इच्छा स्वयं प्रबल आवश्यकता बन गई है।

ऊपर के कथन में स्मरण रखने योग्य बातें ये हैं : (क) विचार की उत्पत्ति बुद्धि में प्रश्न उपस्थित होने पर होती है—प्रश्न चाहे व्यावहारिक हो जैसा ऊपर के उदाहरण में था अथवा वैज्ञानिक अर्थात् जिसका उद्देश्य केवल जानना ही हो। (ख) प्रश्न में नवीनता अवश्य हो जिससे प्रत्यक्ष, स्मृति आदि से उसका सुलझाव न हो सके। (ग) प्रश्न के सुलझाव के लिए बुद्धि केवल उड़ान न भरे, बल्कि यथार्थ वस्तु-स्थिति के अनुकूल ही, उनको सामने रखकर ही—किसी निष्कर्ष पर पहुँचे। इसका अर्थ है कि बुद्धि परिस्थितियों को आधार मानकर ही निष्कर्ष की ओर चले। बुद्धि में गति हो—आधार से निष्कर्ष की ओर – परन्तु गति नियम के अनुसार हो।

विचार का विकास-क्रम : दैनिक जीवन और विज्ञान में विचार का क्रम समान ही रहता है। बहुत बड़ा वैज्ञानिक और साधारण मनुष्य जब कभी बुद्धि से काम लेते हैं, उनकी क्रियायें समान होती हैं, परन्तु भेद केवल उनके क्षेत्र और उनकी विचारधारा की स्वच्छता की कमी या अधिकता में है। विचार, प्रश्न से उत्पन्न होकर निष्कर्ष अथवा परिणाम तक पहुँचने तक, कई भूमियों में होकर गुजरता है। कई स्थानों पर इसकी गति इतनी तेज, कहीं-कहीं इतनी धुँधली रहती है कि इसका स्पष्ट निरीक्षण भी कठिन हो जाता है। मनोविज्ञान ने इस गति का अध्ययन किया है और इसके विकास-क्रम में निम्नलिखित भूमियों का उल्लेख किया है :—

(क) प्रश्न की उपस्थिति : विचार के लिए यह पहली भूमि है। बिना इसके विचार उत्पन्न नहीं होगा। साधारण जीवन में प्रश्न कठिनाई के स्वरूप

में उपस्थित होता है। कठिनाई से कष्ट होता है; कष्ट की निवृत्ति के लिए मन उपाय टटोलता है। बुद्धि के द्वारा उपाय की खोज करना ही विचार-क्रिया है। निश्चय है बिना उपेय अथवा उद्देश्य के उपाय की प्रवृत्ति असंभव है। विज्ञान में यद्यपि कोई कष्ट नहीं प्रतीत होता परन्तु बुद्धि में कोई समस्या अवश्य उलझन उत्पन्न करती है जिसका सुलझाव विचार द्वारा किया जाता है। विज्ञान का प्रारंभ 'आश्चर्य' से माना जाता है। 'आश्चर्य' जिस अनुभव का नाम है उसमें 'जानने की इच्छा' के साथ 'चकित' होना आदि मानसिक कष्ट भी उपस्थित है। छोटे जीवों में न जिज्ञासा है और न आश्चर्य अनुभव करने की शक्ति। इसी कारण वे विचार करने में भी असमर्थ हैं।

उदाहरणार्थ: आस्ट्रेलिया के उत्तरी भाग में एक घास का छोटा मैदान है। वर्षा पर्याप्त होने पर भी वहाँ साधारण घास ही पैदा होती है और उसके समीप के स्थान में तो कुछ भी पैदा नहीं होता। घास के स्थान पर, जहाँ कहीं पैदा हो जाती है, केवल भेड़ें पाली जाती हैं। लोगों के मन में यह बात कभी नहीं आई कि इस स्थान में पर्याप्त वर्षा होने पर भी काफी वनस्पति क्यों नहीं उत्पन्न होती। परन्तु यह प्रश्न कभी कठिनाई के रूप में नहीं उपस्थित हुआ। एक वर्ष इस मैदान की बहुत सी भेड़ें मरने लगीं और दूसरी बीमार हो गईं। व्यावहारिक और वैज्ञानिक, दोनों ही दृष्टि से कठिनाई के साथ प्रश्न उपस्थित हुआ और विचारशील व्यक्तियों ने विचार आरंभ किया।

(ख) प्रश्न का स्पष्टीकरण—विचार के विकास-क्रम में यह दूसरी भूमि है। केवल 'आश्चर्य' को छोड़कर बुद्धि उस आश्चर्य के कारण का निश्चय करती है। प्रश्न का स्पष्ट समझना भी उत्तर की ओर अग्रसर होता है। इसी लिए पहली भूमिका की अनिश्चित भावना को निश्चित प्रश्न का रूप देना यहां आवश्यक है। ऊपर के उदाहरण में भेड़ें क्यों मर गईं? यह प्रश्न अभी स्पष्ट नहीं कहा जा सकता। मरने के कितने ही कारण हो सकते हैं। विज्ञान दैविक कारणों पर विचार नहीं करता। मरने का कारण कोई प्राकृतिक होगा। मरना भी प्राकृतिक कार्य है। इसलिए भोजन, वायु, जल, घातक विष, कृमि आदि कहीं पर मृत्यु का कारण छिपा है। अतएव वैज्ञानिक अपने प्रश्न को इस प्रकार रक्खेगा: हो न हो, मृत्यु का कारण इन्हीं प्राकृतिक वस्तुओं में है। वह इनमें

से किस वस्तु में है ? यही उसे खोज निकालना है। अपने प्रश्न को और भी स्पष्ट बनाने के लिए विचारक उन मरी और बिना मरी भेड़ों के शरीर का परीक्षण करता है। उनके रुधिर, हृदय, स्नायुमण्डल, मस्तिष्क, प्लीहा तथा शरीर के सभी भागों की जाँच करता है। कल्पना कीजिए कि इस छान-बीन में उसे पता लगा कि इन भेड़ों के शरीर में कुछ तत्त्वों की कमी है जो साधारण रूप से नहीं होनी चाहिए। तब तो प्रश्न बहुत ही स्पष्ट हो जायगा। इन भेड़ों के शरीर में इन तत्त्वों की कमी किन कारणों से हुई ? क्या इन तत्त्वों की कमी ही तो इनकी मृत्यु का कारण नहीं है ? इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों प्रश्न स्पष्ट होता जाता है त्यों-त्यों वैज्ञानिक की खोज भी निष्कर्ष की ओर अग्रसर होती है। विचार के विकास में चिन्तक इस भूमि को अधिक से अधिक व्यापक और बुद्धि-गम्य बनाने का प्रयत्न करता है।

(ग) उपयुक्त सामग्री का संकलन अथवा निरीक्षण : प्रश्न स्पष्ट होने पर अब विचार-धारा भी नियम में बँध जायगी। अब बुद्धि को उत्तर पाने के लिए अनिश्चित दिशाओं में नहीं घूमना है। परन्तु उसके लिये दिशायें लगभग निश्चित हैं। 'लगभग' इसलिये कि अन्तिम उत्तर क्या होगा और कौन दिशा में यह उत्तर मिलेगा—यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता अतएव विचारक इस समय उपयुक्त सामग्री को बटोरता है, इसके लिये, यंत्रों की सहायता से यदि सम्भव हो तो, वह अनेक पदार्थों का निरीक्षण करता है। भोजन की घास, पीने का पानी, वायु और उन सारे स्थलों की खोज की जाती है जहाँ पर कारण के मिलने की संभावना है। प्रत्येक वस्तु की छान-बीन, उसका विश्लेषण, स्वस्थ भेड़ों से अस्वस्थ भेड़ों की तुलना—उनके भोजन, पान, वायु आदि का तुलनात्मक निरीक्षण—अथवा जिस देश और दिशा में कारण अथवा उत्तर मिलने की सम्भावना हो वहां निरीक्षण करना—यह विचार के विकास में तीसरी भूमि है।

(घ) परीक्षण : निरीक्षण के उपरान्त परीक्षण और प्रयोग का स्थान है। जहाँ-जहाँ कारण की संभावना की जा सकती थी वह सामग्री निरीक्षण द्वारा मिल गई। हमारे निष्कर्ष का आधार यही सामग्री है। हम एक-एक वस्तु को लेकर परीक्षा और प्रयोग करते हैं। जिस वस्तु की परीक्षा से हमें

कारण मिल जाता है उसी के द्वारा हम उत्तर पर पहुँच जाते हैं। परन्तु कई बार यह भूमि लंबी हो सकती है क्योंकि उत्तर पाने के लिये अनेकों परीक्षाएँ और प्रयोग करने होते हैं। हमारे उदाहरण में वायु का परीक्षण किया गया। उसमें कोई दूषित तत्त्व नहीं मिला और न उसमें कोई ऐसा कारण ही मिला जिससे मरनेवाली भेड़ों के रुधिर में पाई जानेवाली कमी समझ में आ जाये। विचारक ने पानी पर भी प्रयोग किया। एक स्वस्थ भेड़ को उसी पानी पर रक्खा गया परन्तु भोजन भिन्न दिया गया। भेड़ स्वस्थ रही। एक दूसरी भेड़ को वही घास, पर भिन्न भोजन दिया गया। भेड़ बीमार हो गई। बीमार भेड़ का भोजन (घास) बदल दिया गया। वह स्वस्थ हो गई। इस प्रकार अनेक प्रयोगों और परीक्षाओं के बाद अब अनुमान करना शेष रहा। विचार के विकास-क्रम में यह प्रयोग और परीक्षण का चौथा स्तर है। हमारा अंतिम फल इसी भूमि के अनुकूल होगा; इसके प्रतिकूल नहीं। अतएव विचार-धारा के लिये यह नियामक है। इस प्रकार इस स्थल का महत्त्व दुगुना है : प्रथम तो, यह स्थल हमारे अंतिम फल के आधार-रूप सामग्री को स्पष्टतम बना देता है; दूसरे यह बुद्धि को जो अंतिम परिणाम पर पहुँचना चाहती है नियमित बनाता है जिससे परीक्षण और प्रयोग की हुई सामग्री का विरोधी हमारा निष्कर्ष न हो।

(ङ) निष्कर्ष अथवा परिणाम : यह अंतिम भूमि है जहाँ विचार-धारा सफल होती है। यह प्रमाण और तर्क की भूमि है जहाँ बुद्धि निष्कर्ष को स्वीकार करने से पहले उसे कसौटी पर कस देना चाहती है। पूर्ण विश्वास के लिये अथवा किसी फल की सत्यता का निश्चय करने के लिये प्रमाण आवश्यक है। इस भूमि पर प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार होता है : यदि प्रयोग और परीक्षण से अमुक 'फल' झलकता है और यदि यह फल सत्य है तो इसका परिणाम अमुक होना चाहिये। हम देखते हैं कि वस्तुतः हमारा अभीष्ट फल ही प्राप्त होता है इसलिये हमारा फल भी ठीक है और जिस विचार से यह फल प्राप्त हुआ था वह भी ठीक है। ऊपर के उदाहरण में हमारे विचारों से यही परिणाम प्रतीत होता है कि भेड़ों की मृत्यु का कारण उनकी घास में कुछ तत्त्वों की कमी है जो कमी उनके शरीर में भी उन्हीं आवश्यक तत्त्वों की कमी पैदा कर देती है। यदि इनकी घास बदल दी जाये तो इन जानवरों को स्वस्थ हो

जाना चाहिये। वस्तुतः ऐसा ही होता है इसलिये हमारे विचार का फल यथार्थ है। और भी, घास में इन तत्त्वों की कमी इस कारण पैदा होती है कि उस भूमि में ही इनकी कमी है। वैज्ञानिकों ने अब आगे प्रयोग करके सिद्ध किया कि यदि उस पृथ्वी में उन तत्त्वों को मिला दिया जाय तो वह न केवल स्वाथ्य-प्रद घास पैदा कर सकेगी, साथ ही इतनी उपजाऊ हो जायगी कि उसमें अन्न आदि भी पैदा हो सकेगा। इन सब परीक्षणों से यह निष्कर्ष और भी दृढ़ हो गया कि इन तत्त्वों की कमी से ही भेड़ों की मृत्यु हुई, घास में कमी आई और भूमि बंजर दशा में बनी रही। खाद के रूप में इन तत्त्वों को पृथ्वी में पहुँचाने से पृथ्वी उपजाऊ, घास और घास पर पलनेवाली भेड़ें स्वस्थ हो गई। वास्तव में आस्ट्रेलिया के उत्तरवाला बंजरीला मैदान इन प्रयोगों के फल-स्वरूप समृद्धिशाली हो गया है।

किसी भी विकासशील विचार में जो प्रश्न से परिणाम तक पहुँचने का प्रयत्न करता है ये पाँच भूमियाँ होनी चाहियें। इनका स्पष्ट करना, प्रत्येक भूमि पर देखना कि कोई त्रुटि तो नहीं है, वैज्ञानिक का महत्त्वपूर्ण काम है। साधारण मामलों में ये गति इतनी शीघ्र होती हैं कि हम इन्हें अलग नहीं कर पाते। बहुत बार कुछ चलने पर उलझ कर बिना परिणाम पर पहुँचे ही रह जाते हैं। मेरे सिर में दर्द क्यों है? विचारशील व्यक्ति इस प्रश्न पर विचार करने के लिए नियम से अग्रसर होगा। (क) यह दर्द क्यों है? यह प्रश्न की उपस्थिति है जो विचार का प्रारंभ करती है। (ख) इस दर्द का स्वरूप क्या है? क्या इससे सिर में भारीपन है अथवा केवल माथे में ही यह दर्द है? क्या दर्द सारे दिन रहता है अथवा केवल संध्या समय? यह प्रश्न का स्पष्टीकरण है। (ग) अब सही उत्तर के अनुकूल और उपयुक्त सामग्री चाहिए। संभव है, गलत भोजन कारण हो, या खुले में सोना, या आँखों से कुछ अधिक काम लेना, या कमरे और घर की वायु दूषित होना आदि। यह निरीक्षण की भूमि है, इसलिए यहाँ सारी संभावित सामग्री का एकत्र करना आवश्यक है। (घ) इस सामग्री की परीक्षा करना इस समय उपयुक्त है। भोजन में तो कोई पदार्थ ऐसा नहीं प्रतीत होता जो इस समय नवीन हो। संभवतः भोजन दर्द का कारण नहीं है। ओस से बचाववाले स्थान में भी सोने से दर्द दूर नहीं

हुआ, नित्य प्रति भ्रमण को जाने से दूषित वायु कारण नहीं होना चाहिये। बहुत संभव है आँखों से अधिक काम लेना ही दर्द का कारण है। परीक्षण से हम इस परिणाम पर पहुँचे। परंतु अभी इस फल को प्रमाणित और तर्क-सिद्ध बनाना है। (ङ) इसके लिए अन्तिम निष्कर्ष की भूमि है। यदि आँखों पर अधिक भार के कारण ही दर्द है तो इसे दूर करने से दर्द दूर हो जाना चाहिए। पहले की अपेक्षा अब पढ़ना कम कर दिया है। डाक्टर बताते हैं कि मुझे चश्मे की आवश्यकता है। यदि ऐसा करने से दर्द दूर हो जाये तो यह निश्चय समझना चाहिए कि दर्द का कारण केवल आँखों पर भार ही था। यहाँ इस सारी क्रिया में काफी विश्लेषण, निरीक्षण, परीक्षण और तर्क की आवश्यकता हुई। साधारण बुद्धि के लिए यह कठिन काम है। इसलिए बहुधा हम विचार की उलझन से बचने के लिए कोई और उपाय ढूँढ़ निकालते हैं।

विचार का स्वरूप : अब हम अपने विषय में ऐसे स्थल पर आ गये हैं जहाँ विचार के स्वरूप पर विचार कर सकते हैं।

विचार एक बौद्धिक क्रिया है। यह बुद्धि का वह प्रयत्न है जिससे वह किसी समस्या को सुलझाने और समझने के लिए निष्कर्ष तक पहुँचती है। बुद्धि के अतिरिक्त मनुष्य में भावना है जिससे वह सुख-दुःख, क्रोध, प्रेम, भय, द्रोह आदि का अनुभव करता है। भावना का जन्म हमारी मूल प्रवृत्तियों से होता है। ये भावनायें हमारे व्यवहार का कारण होती हैं। भावना के वश में होकर हम व्यवहार द्वारा अपनी अनेक इच्छाओं की पूर्त्ति करते हैं। विचार भी व्यव-हार में सहायक ही नहीं, आवश्यक है क्योंकि अनेक बार जटिल परिस्थितियों को सुलझाने के लिए विचार ही उपाय होता है। इसलिए हमारे जीवन में भावना, विचार और व्यवहार तीनों ही मिश्रित और एक दूसरे पर आश्रित हैं। ये पृथक् नहीं किये जा सकते। परंतु हम तीनों का अलग-अलग अध्ययन कर सकते हैं।

कल्पना कीजिए, तीन व्यक्ति—एक कलाकार, दूसरा व्यवहार-कुशल, तीसरा विचारक—एक पहाड़ी पर खड़े होकर चारों ओर का दृश्य देखते हैं। सामने पहाड़ों की श्रेणियाँ हैं जिन पर घने जङ्गल मालूम होते हैं। उनके नीचे झील है जो नदी को रोककर बनाई गई है। झील के पास बड़ा हरियाला मैदान है

जिसमें खेती नहीं होती है; साधारण जङ्गल भी है जिसमें, इस समय शरद्-ऋतु में, फूलों का खिला हुआ वन महक रहा है। कलाकार के मन में यह सब देखकर भावनाओं का उबाल उठा। वह इसके सौंदर्य पर मुग्ध हो गया। उसके लिए मानो यह अर्ध-देवों का देश है जिसमें स्वर्ग और पृथ्वी पर विचरनेवाली अप्सरायें अवश्य शृंगार करने के लिए एकांत समझकर आती होंगी। यह फूलों का वैभव मानो उन्हीं के लिए है। उन एकांत पर्वतीय देशों में इनकी अवश्य ही रंगशालायें होंगी जहाँ पर इनका अभ्यास होता होगा। चाँदनी रातों में छोटी नावों पर बैठकर इस घने जङ्गलों से घिरी हुई झील में जल-विहार का आयोजन होता होगा।

कलाकार के समीप ही व्यवहार-कुशल मनुष्य है। उसके मन का प्रवाह, दिशा और कल्पना भिन्न हैं। वह सोचता है : इस स्थान का प्रयोग एक दिया-सलाई का कारखाना खोलने के लिए क्यों न किया जाय? यहाँ नर्म लकड़ी का जंगल है। झील से बिजली पैदा की जा सकती है। समीप ही पानी, रेल और मजदूर मिल सकते हैं। सबके लिए रहने का स्थान है आदि-आदि। इस प्रकार इस व्यक्ति के मन में भावना इतनी प्रबल नहीं जितनी कुछ काम करने की इच्छा और उसकी पूर्त्ति के लिए योजना।

तीसरा व्यक्ति विचारशील है। उसके मन में कुछ प्रश्न उत्पन्न हुए जिनका उत्तर जानकर वह अपनी बुद्धि की तृप्ति करना चाहता है। जैसे, इस स्थान पर इतनी वर्षा क्यों होती है? इसका उत्तर पाने के लिए वह इसका भौगोलिक आधार ढूँढ़ता है। वह इस स्थान के अक्षांश का पता लगाता है। पानी लाने-वाली हवाओं की दिशा, पर्वत की श्रेणियाँ तथा और अन्य उपयुक्त सामग्री, जिसका वर्षा से संबंध हो सकता है, उसकी वह खोज करता है। उस सामग्री के आधार पर वह वहाँ इतनी वर्षा होने का कारण समझ पाता है।

ये तीनों व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से एक ही वस्तु को देखते हैं। कला-कार का दृष्टिकोण सौंदर्य और आकर्षण है। वह वस्तु को भावना-वश सुन्दर कल्पनाओं के जाल से ढक देता है। व्यावहारिक मनुष्य उस वस्तु की उप-योगिता पर ही अपनी दृष्टि डालता है। कलाकार की कल्पना सुन्दर या असुन्दर हो सकती है। दूसरे मनुष्य की योजना सफल या असफल हो सकती है।

विचारक उसे विज्ञान की दृष्टि से देखता है। उसकी युक्तियाँ सत्य या असत्य हो सकती हैं। कलाकार उस वस्तु से प्रभावित होता है, व्यावहारिक मनुष्य उसका उपयोग खोजता है और विचारक उसमें सत्य ज्ञान की गवेषणा करता है।

भावना अथवा कामना से विचार नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धि ही इसके लिए समर्थ है। भावना अथवा कामना से प्रभावित होकर बुद्धि, अनेक बार, असद्-विचार में पड़ जाती है। काम, क्रोध, भय, विद्वेष, प्रेम आदि ऐसे प्रबल प्रभाव हैं जो बुद्धि को अपने प्रवाह में बहा लेते हैं तथा इसे विचलित कर अनेक भ्रम में डालनेवाले निष्कर्षों पर पहुँचा देते हैं। इसके विषय में हमें आगे भी विचार करना है। यहाँ इतना कहना काफी होगा कि विचार की सत्यता के लिए बुद्धि को, जहाँ तक सम्भव हो, इन प्रभावों से स्वतंत्र होना चाहिए। सत्य विचार के लिए निष्पक्ष मन की आवश्यकता है। ये प्रभाव बुद्धि में पक्ष अथवा झुकाव उत्पन्न करते हैं। इसलिए विचारधारा का इन प्रभावों से मुक्त होना आवश्यक है।

थोड़ा रुककर, हम अपनी प्रगति का पुनरावलोकन करें।

हमने कहा है कि विचार बुद्धि का कार्य है, भावना अथवा रुचि का नहीं। इन प्रभावों से तो बुद्धि का स्वतंत्र होना ही भला है। विचार का लक्ष्य किसी समझने के योग्य निष्कर्ष पर पहुँचना है जो जाँचने पर सत् अथवा असत् हो सकता है। भावना का उद्देश्य सुन्दरता का अनुभव करना है, परन्तु जाँचने पर हमारी भावना सुन्दर या घृणित हो सकती है। व्यवहार का लक्ष्य उपयोगिता है जो परीक्षा करने पर सफल या विफल हो सकती है। व्यवहार की सफलता के लिए योजना का प्रयोग किया जाता है। भावना अपनी अभिव्यक्ति और तृप्ति के लिए कल्पना की सृष्टि करती है। इसी प्रकार बुद्धि सत्य निर्णय तक पहुँचने के लिए युक्तियों को काम में लाती है।

बुद्धि विचार करने में किसी जटिल परिस्थिति को छोटे सरल भागों में बाँट लेती है। इस क्रिया का नाम विश्लेषण है। मान लीजिए हमारा प्रश्न है: स्वच्छ आकाश में टीन के धरातल पर ओस की बूँदें क्यों जम जाती हैं? इस प्रश्न पर विचार करने में बुद्धि पहले बताई हुई पाँच भूमियों में होकर तो जायगी ही; प्रत्येक भूमि में प्रश्न को सुलझाने के लिए विश्लेषण का प्रयोग करेगी।

ऊपर के प्रश्न में, ओस की बूँदे पानी हैं। पानी मिलने के अनेक साधनों में से भाप भी एक है। संभव है यह ओस भाप से मिली हो। भाप ठंडी होकर पानी बनती है। रात्रि में टीन का धरातल आस-पास के धरातल की अपेक्षा शीतल होता है। तब तो सारी परिस्थिति, टीन का ठंडा होना, वायु में भाप का प्रस्तुत होना, शीतल संपर्क, आदि सरल भागों से मिलकर बनी है। ओस के कारण का पता लगाने के लिए हमें जटिल घटना का विश्लेषण करना पड़ा। इसी प्रकार किसी भी प्रश्न का उत्तर देने के हेतु सफल विचार के लिए विश्लेषण अनिवार्य है।

परन्तु विश्लेषण आवश्यक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है। यदि भिन्न-भिन्न सरल भाग एक दूसरे से अलग ही रहें तो भी विचार न होगा। ठंड के संपर्क से भाप का पानी बन जाना, टीन का अपेक्षाकृत शीतल होना और वायु में भाप का मौजूद होना, ये सभी बातें एक ही विचार-सूत्र में मिलनी चाहियें। विचार पहले परिस्थिति का विश्लेषण कर फिर आवश्यक भागों को एक सूत्र में बाँधता है। इस क्रिया का नाम संश्लेषण है। विचारधारा इन्हीं विश्लेषण और संश्लेषण नामक दो क्रियाओं से मिलकर बनती है।

गणित संबंधी प्रश्नों पर विचार करने में ये दोनों क्रियाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। उदाहरण के लिए, रेखा-गणित का प्रश्न है : सिद्ध करो कि एक बिन्दु से (जो रेखा से बाहर है) जो अनेक रेखायें दी हुई रेखा को मिलाने के लिए बनाई जायें तो उनमें सबसे छोटी रेखा वह होगी जो दी हुई रेखा पर लंब बनाती है। अ ब दी हुई रेखा है; प दिया हुआ बिंदु है। प से अ ब रेखा पर जो अनेक रेखायें बनाई जा सकती हैं
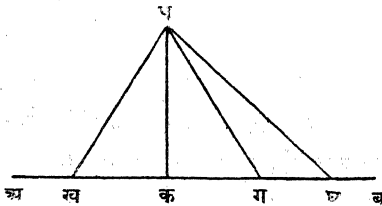
उनमें प क, प ख, प ग, प घ हमने ली हैं यद्यपि ऐसी अनेक रेखायें संभव हैं। इन रेखाओं में प क रेखा अ ब रेखा पर लंब बनाती है। हमें सिद्ध करना है कि यही रेखा सबकी अपेक्षा छोटी होगी।

देखने में परिस्थिति कठिन नहीं प्रतीत होती। परन्तु उत्तर पाने के लिए हमें इसका विश्लेषण करना चाहिए। इस समस्या में अनेक रेखाएँ हैं। इन

रेखाओं में अ ब सरल रेखा दी हुई है। प क एक विशेष रेखा है जो प बिंदु से दी हुई सरल रेखा पर ९०° अंश का कोण अथवा लंब बनाती है। दूसरी रेखाएँ अनगिन हैं। परन्तु इनमें से प्रत्येक रेखा दी हुई रेखा के साथ एक कोण बनाती है जो कोण सदैव ९०° अंश से कम रहता है। न केवल इतना, प क रेखा के साथ प्रत्येक दूसरी रेखा प क ख, प क ग, प क घ आदि अनेक त्रिभुज बनाती हैं। त्रिभुज के कोणों में, तथा भुजाओं में परस्पर संबंध होता है। अर्थात् प्रत्येक त्रिभुज में तीनों कोणों का योग दो समकोण होता है, एक त्रिभुज में एक से अधिक समकोण नहीं हो सकता, तथा बड़ी भुजा के सामने का कोण, छोटी भुजा के सामनेवाले कोण से बड़ा और बड़े कोण के सामने की भुजा छोटे कोण के सामने की भुजा से बड़ी होती है। इस प्रकार विश्लेषण करने पर अनेक छोटे और सरल भाग इस साधारण गणित के प्रश्न में सम्मिलित हैं, ऐसा मालूम हुआ।

विश्लेषण के द्वारा भिन्न और सरल भागों को जान लेने पर, हमें उन भागों को एक साथ रखना है जो हमें उत्तर पाने में सहायक होंगे। प्रश्न यहाँ यह है कि प क रेखा प ख अथवा किसी भी अन्य रेखा की अपेक्षा क्यों छोटी है। ऊपर के भागों से प क ख एक त्रिभुज बनता है। इस त्रिभुज में कोण प क ख ९०° अंश का है। हमारे परिचित नियमों के अनुसार इस त्रिभुज में और कोई कोण ९०° अंश का नहीं होगा, इससे छोटे ही होंगे। अतएव कोण प ख क कोण प क ख की अपेक्षा सदा छोटा रहेगा। यदि ऐसा है तो कोण प ख क के सामने की भुजा कोण प क ख के सामने की भुजा से सदा छोटी रहेगी। यदि त्रिभुज प क ख में प क रेखा प ख से छोटी होगी तो इसी प्रकार अन्य त्रिभुजों में भी प क रेखा छोटी रहेगी। अतः सिद्ध हुआ कि प क रेखा ही सबसे छोटी रेखा है।

इस प्रकार विश्लेषण-संश्लेषण के द्वारा विचार अपने निष्कर्ष पर पहुँच जाता है। प्रश्न यदि कठिन है तो इसका कारण यही है कि हम इसका विश्लेषण करने में असमर्थ हैं। विश्लेषण के लिये न केवल कुशाग्र बुद्धि की आवश्यकता है, वरन् प्रश्न से संबंध रखनेवाली अनेक बातों के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। ऊपर के उदाहरण में, रेखा-गणित के अनेकों सिद्धांतों

के ज्ञान की आवश्यकता थी प्रश्न का विश्लेषण करने के लिये। इस प्रकार भूगोल, खगोल, रसायन-विज्ञान आदि अन्य विज्ञानों में भी अपने-अपने प्रश्नों पर विचार करने के लिये जहां विश्लेषण और संश्लेषण आवश्यक हैं वहाँ अपने-अपने विषयों का परिचय भी अनिवार्य है।

किसी परिस्थिति का सरल भागों में विश्लेषण करके उनका संश्लेषण एक घड़ी को उसके भिन्न-भिन्न अंगों में तोड़कर फिर जोड़ देने के समान नहीं है। न उन भागों की केवल क्रमवार सूची बनाने से ही काम चल सकता है। ऊपर के गणित के प्रश्न में बिन्दु, रेखा, कोण, भुजा, त्रिभुज, लंब, आदि अनेक बातों से संबंध रखनेवाले नियमों की आवश्यकता प्रश्न को सुलझाने में हुई। परंतु केवल नियमों का अलग-अलग ज्ञान, अथवा इनकी सूची प्रश्न को समझने में असफल रहेगी। इन नियमों का परस्पर संबंध है जिससे ये सब मिलकर एक ही समुदाय बनाते हैं। एक नियम से दूसरे पर जाना और इसी प्रकार अंतिम निष्कर्ष तक पहुँचना, यही बुद्धि का कार्य है जिसका नाम विचार है। जिस भाग से चलते हैं, उसका नाम 'आश्रय' है। यह भाग 'क्योंकि' से प्रारंभ होता है। जिस भाग पर पहुँचते हैं वह उसका निष्कर्ष है। यह भाग 'इसलिये' से प्रारंभ होता है। फिर इस निष्कर्ष को समझकर और इसे आश्रय मानकर हम आगे निष्कर्ष निकालते हैं जब तक कि हम अपने अंतिम उत्तर तक नहीं पहुँचते। इस प्रकार एक संपूर्ण विचार में जिसमें अनेक भाग सम्मिलित हैं प्रत्येक भाग स्वयं एक विचार है जिसमें अपना 'आश्रय' और 'निष्कर्ष' विद्यमान है। विचार की इस छोटी इकाई को हम 'युक्ति' कहेंगे। यों एक विचार अनेक युक्तियों से मिलकर बनता है और ये युक्तियाँ एक समझने योग्य अथवा बुद्धि-गम्य श्रृङ्खला के रूप में संश्लिष्ट रहती हैं।

ऊपर के उदाहरण में, युक्तियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की जायँगी : क्योंकि प क ख एक त्रिभुज है, इसलिये त्रिभुज के नियम के अनुसार, इसके तीनों कोणों का योग दो समकोण होगा। क्योंकि तीनों कोणों का योग केवल दो समकोण है और इनमें कोण प क ख स्वयं ९०° अंश का है, इसलिये शेष कोणों में से कोई भी इस कोण से बड़ा न होगा। इसीलिये कोण प ख क कोण प क ख से सदा छोटा रहेगा। अब, क्योंकि छोटे कोण के सामने की भुजा बड़े कोण के

सामने की भुजा से छोटी होती है, इसलिये रेखा प क, प ख की अपेक्षा सदा छोटी रहेगी। जो दशा प ख रेखा के संबंध में है वही किसी भी दूसरी रेखाकी होगी। इसलिये, जिन कारणों से प क रेखा प ख से छोटी है उन्हीं कारणों से प क रेखा अन्य सभी रेखाओं से छोटी होगी। अतएव यही सबसे छोटी रेखा है।

विषय चाहे जो हो, विचार-धारा में एक युक्ति से दूसरी युक्ति पर पहुँचना और इस प्रकार अंतिम परिणाम को सिद्ध करना आवश्यक है। इसी से हमारे विचार में गति के अतिरिक्त प्रगति भी उत्पन्न होती है। किसी भी विचारपूर्ण लेख और भाषण को हम जब समझते हैं तो हमें उसमें एकता प्रतीत होती है। उसके भिन्न-भिन्न भाग एक दूसरे से जटित प्रतीत होते हैं और हमारी बुद्धि आगे बढ़ती हुई मालूम पड़ती है। प्रत्येक पद पर नवीन प्रकाश और नई समझ आती है और अज्ञान और अन्धकार दूर होता प्रतीत होता है। तम से प्रकाश की ओर यह बुद्धि की गति ही प्रगति कहलाती है तथा युक्तियों की यह एकता ही बुद्धिगम्य एकता है। यद्यपि यह एकता और प्रगति कविता और आवेशपूर्ण भाषण में भी मिलती है तथापि वह एकता केवल कल्पनाओं की भावनात्मक एकता है। हमें कल्पना-चित्रों के द्वारा कवि एक सुन्दर कल्पना का दर्शन कराता है जो आह्लादमय होने पर भी असत्य हो सकती है। विचारक युक्तियों के द्वारा किसी निर्णय तक हमें पहुँचाता है जो आह्लादमय न होने पर भी सत्य हो सकता है।

संक्षेप में, हमें विचार के विषय में निम्नलिखित बातें याद करने योग्य हैं :

विचार बुद्धि का कार्य है। इसमें गति के साथ ही बुद्धि प्रगति करती है उलझन से सुलझाव की ओर, प्रश्न से उत्तर की ओर, तम से प्रकाश की ओर। भावना और कामना विचार के लिये असमर्थ हैं। विचार में हम अनेक भूमियों में होकर अंतिम निर्णय तक पहुँचते हैं। हमारा निर्णय सत्य अथवा असत्य हो सकता है। इसमें हम कवि की कल्पना से अथवा व्यावहारिक मनुष्य की योजना से काम नहीं लेते। विचार युक्तियों के द्वारा किया जाता है। कठिन परिस्थिति को समझने के लिये हम विचार के द्वारा उसका विश्लेषण करते हैं। इसके अनन्तर हम उपयुक्त भागों को सूत्रबद्ध करने के

लिये उनका संश्लेषण करते हैं। संश्लेषण में अनेक विचारों और युक्तियों को एकता में लानेवाला सूत्र बुद्धिगम्य है, भावनामय नहीं।

विचार और अविचार : विचार का मार्ग कठिन है। इसके कई कारण हैं। विचारक को धैर्य की अतीव आवश्यकता है। बुद्धि की प्रगति के लिये उसे कई कठिन भूमियाँ पार करनी पड़ती है। प्रत्येक पद पर विश्लेषण, निरीक्षण, परीक्षण और तर्क से काम लेना पड़ता है जिसके लिये कुशाग्रता के अतिरिक्त पर्याप्त पूर्वज्ञान अनिवार्य है। विश्लेषण की सफलता के लिये प्रत्येक सरल विभाग को अलग-अलग समझना चाहिये जिसके लिये शुद्ध भाषा का प्रयोग होना चाहिये। कठिनता को सरल बनाने के लिये यदि हमने विश्लेषण कर भी लिया तो कल्पना के द्वारा सरल भागों को फिर से संगठित करना कम कठिन नहीं है। विचार करने में कल्पना उड़ान नहीं भर सकती। उसे अनेक भागों और अनेक सिद्धान्तों को इस प्रकार इकट्ठा करना है जिससे वे मिलकर एक निष्कर्ष की ओर ले जा सकें। यहां कल्पना रचनात्मक होनी चाहिये। इस प्रकार हम देखते हैं कि विचार करने में मन को अनेक कठिन चेष्टाएँ करनी पड़ती हैं जिनमें परिश्रम और मानसिक व्यायाम होता है।

विचार करना बाग की सैर नहीं, बल्कि पर्वत की चढ़ाई है। मार्ग यहाँ समतल नहीं जहाँ फूलों की बहार हो। विचार के मार्ग में अनेक खाड़, चट्टानें और कंकड़ हैं जहाँ फिसल जाने का भय है। अनेक लोग फिसल जाते हैं। परन्तु जो लोग शिखर तक पहुँच पाते हैं उन्हें सत्य का प्रकाश, ज्ञान की किरणों और सद्विश्वास की सुगन्धि प्राप्त होती है। साधारणतया यदि हम अपने मन के सारे बोझ को खोज डालें तो उनमें अनेक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और व्यक्तिगत विश्वास मिलेंगे जो निर्मूल हैं। ये विश्वास हमारे अविचार या असद्विचार हैं जो हमारे दैनिक आचरण और व्यवहार को चलाते हैं। इसलिये हमारा व्यवहार इतना असफल और अविचारपूर्ण रहता है।

विचार की कठिनता के कारण हम अनेक अन्य उपायों को स्वीकार कर लेते हैं जिनसे हमें साधारण आचरण के लिये पर्याप्त विश्वास मिल जाते हैं। हमें यह जानकर आश्चर्य होगा कि यद्यपि हम अपने आपको स्वतंत्र व्यक्ति

मानते हैं तो भी हमारे ऊपर कितने ही अन्य प्रभावों का अधिकार रहता है। इन अधिकारों का प्रभाव इतना दृढ़ होता है कि हम इन पर अविश्वास या सन्देह करना भी पाप समझते हैं, उनको विचार के द्वारा निर्मूल और भ्रामक सिद्ध करना तो मानों हमारी सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। ऐसे प्रभावों में से धर्म बहुत ही प्रबल है। जिन धार्मिक विश्वासों में हमारा जन्म, पालन और शिक्षण होता है, वे बचपन के संस्कार के लिये अतीव कोमल मन के गहरे स्तरों में मानो प्रविष्ट हो जाते हैं जिनका परीक्षण भी हमारे लिये कठिन है। शिक्षा के द्वारा अन्य सामाजिक, नैतिक तथा अन्य विश्वास भी बुद्धि में भर दिये जाते हैं। मनुष्य में दूसरे के विचारों को बिना परीक्षा ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति कुछ तो स्वाभाविक है ही, कुछ शिक्षा और समाज की दूसरी शक्तियों के द्वारा शिशु-बुद्धि अनेक विश्वासों को ग्रहण करने के लिये वाध्य होती है। इस प्रकार अनेक अन्धविश्वास, असद्-विचार जो हमारे नहीं है, परन्तु जो अधिकार द्वारा हमें दूसरों से मिले हैं, हमारे आचरण को प्रभावित करते रहते हैं।

विचार करना बुद्धि के लिये साहसिक कार्य है। नवयुवक जिस प्रकार उत्साह के साथ नई खोज और छान-बीन करता है, नवीन पर्वत-शिखरों, वनों, अनजाने समुद्रों और भयावह यात्राओं में अपने आप को डाल सकता है, वह उत्साह वृद्ध में कम होता जाता है। विचार करने में भी अपने पुराने विश्वासों की उथल-पुथल करनी पड़ती है जिसके लिये साहस की आवश्यकता होती है। सम्भव है विचार के उपरान्त हमें अपने विश्वास बदलने पड़ जायँ। परन्तु जिस प्रकार दुर्बल आंखों वाला मनुष्य साधारण धूप को सहन न कर सकने के कारण काला चश्मा चढ़ा लेता है, उसी प्रकार हम सत्य का प्रकाश न सह सकने के कारण अनेक रूढ़ि-गत विश्वासों का चश्मा लगा रखते हैं। साहस-शून्य हमारे वृद्ध-जन इसी कारण नवीनता के विरोधी होते हैं। अभाग्यवश धर्म और समाज का शासन भी इन्हीं साहस-शून्य और परम्परा के पुजारी लोगों के हाथों में होता है जिसके फल-स्वरूप सामाजिक दमन होता है।

———

विज्ञान

वैज्ञानिक दृष्टिकोण : मनुष्य का अनुभव बहुत विस्तृत और विचित्र है। नीले, स्वच्छ आकाश में चन्द्रोदय को देखकर अनेक भावनाएँ और अनेक विचार उसके मन में उठने लगते हैं। कोई तो उसमें सुन्दरी के मुख का सौन्दर्य देखकर आह्लाद का अनुभव करता है; दूसरा, उसके शीतल और प्रसन्न प्रकाश में सुधा की वर्षा का अनुभव कर भक्ति-भाव से नम्र हो जाता है; तीसरा, शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को खिलने वाली वनस्पतियों को खोजने के लिये वन में निकल जाता है, क्योंकि उसे चिकित्सा के लिये औषधियाँ बनानी हैं। चौथा, विचार करना प्रारम्भ करता है और इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि यह प्रकाश-पिण्ड एक उपग्रह है जो कुछ साधारण तत्त्वों से मिलकर बना है, जिसकी गति, मार्ग, परिधि आदि अमुक हैं, आदि आदि। मनुष्य के ये अनुभव भिन्न-भिन्न हैं और प्रत्येक अनुभव, अपनी जगह पर सच्चा है। प्रत्येक अनुभव के पीछे एक दृष्टिकोण है जो उस अनुभव को एक अर्थ प्रदान करता है। पहले व्यक्ति का अनुभव भावना-मय है। वह कल्पना से काम लेता है और चन्द्रमा में नव-यौवना के मुख विकास का दर्शन करता है। इसका दृष्टि-कोण कलात्मक है, इसकी कल्पना सुन्दर हैं। इससे 'आह्लाद' की प्राप्ति होती है। वह सुन्दर वस्तु को देखकर अपने ही अन्तर में रहने वाली सौन्दर्य-भावना में मग्न हो जाता है। उसका हृदय शान्त और प्रसन्न हो जाता है। इस भावना से जुड़े हुए अनेक और भी अनुभव, अनेक सुखद स्पर्श, अनेक सुगन्ध, संगीतमय शब्द और ध्वनियाँ उसके मन में प्रवाह रूप से बहने लगते हैं। इस व्यक्ति की अनुभूति 'रस' 'माधुर्य' अथवा 'सौन्दर्य' की अनुभूति कहलायेगी।

दूसरा व्यक्ति चन्द्रमा में 'दिव्यता' का अनुभव करता है। वह संसार की लघुता और अपूर्णता के साथ इस दिव्य ज्योति की भव्यता और पूर्णता की तुलना करता है। इसकी किरणें कितने तापों और संसार के ज्वरों को शान्त करती हैं; जीवन में कितनी तरलता उत्पन्न करतीं हैं और हृदय में कितने उदात्त

भावोंका संचार करती हैं। अवश्य ही इनमें अमृत है, अवश्य ही यह 'सुधाकर' हैं। यह अवश्य ही दिव्य और भव्य पदार्थ है; इसको नमस्कार करना चाहिये। यह अवश्य ही सृष्टि का प्रत्यक्ष देवता है जिसे परम-पिता ने सन्तप्त मनुष्यों के लिये अमृत-वर्षा करने को नियत किया है। इस मनुष्य का अनुभव भी भावना-मय है। वह अपनी ही हृदय-गत भावना में मग्न और प्रसन्न है; वह पदार्थ वस्तुतः क्या है, यह प्रश्न उसके सामने नहीं है। वह केवल 'आत्म-निवेदन' की भावना में सन्तुष्ट है। यह उस व्यक्ति का धार्मिक दृष्टि-कोण है।

तीसरा मनुष्य व्यावहारिक है। वह एक इच्छा लिये हुए है। पूर्ण-चन्द्र के प्रकाश में उसे इसकी पूर्त्ति की आशा है। यही इच्छा उसे प्रेरित करती है वन में पूर्ण चन्द्रमा के प्रभाव से खिली हुई वनस्पतियों को खोजने के लिये। उसे न तो चन्द्रमा में किसी माधुर्य, न किसी भव्यता का ही अनुभव होता है। उसे चिन्ता है, व्यग्रता है। अभीष्ट फल मिलने से वह प्रसन्न होता है, न मिलने से दुःखी। इस व्यक्ति का दृष्टिकोण केवल व्यवहार की सफलता है।

चौथा मनुष्य अपने अन्तर की भावनाओं में नहीं उलझता। वह इस दृश्य के आस्वाद की परवाह नहीं करता, न वह इसे अज्ञेय भव्यता का रूप ही समझता है। न उसे कोई अर्थ-चिन्ता है। वह अपने को ही अपने अनुभवों का केन्द्र नहीं मानता; प्रत्युत उसके अनुभवों का केन्द्र वह वस्तु ही है। वह उसे जानने योग्य वस्तु मानता है, और वस्तु के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न उसके मन में उठते हैं। यह पदार्थ क्या है? इसकी गति किन नियमों से बँधी हुई है? क्या इसका प्रकाश स्वयं अपना ही है? इसके घटने बढ़ने का क्या कारण है? पृथ्वी आदि नक्षत्र और ग्रहों से इसका क्या सम्बन्ध है? इत्यादि। इस प्रकार यह व्यक्ति इन प्रश्नों का उत्तर चाहता है। ग्रह आदि के सम्बन्ध में वह बहुत-सी बातें पहले से जानता है। अपने पूर्वज्ञान की सहायता से वह इस परिस्थिति का विश्लेषण करता है, और इसके बाद इन अलग-अलग भागों को संगठित करके अपने निष्कर्ष पर पहुँच जाता है। संक्षेप में, वह विचार करता है। उसका उत्तर सत्य अथवा असत्य हो सकता है। सत्य निष्कर्ष पर पहुँचने से उसे आन्तरिक आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द का स्वरूप भी प्रकाश-मय अथवा ज्ञानमय है। इसे हम बौद्धिक आनन्द कह सकते हैं। यह उसी

प्रकार का आनन्द है जिसे एक बालक गणित का कठिन प्रश्न अपनी शक्ति से सही हल कर लेने पर अनुभव करता है। इस व्यक्ति का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है।

संसार के अनेक पदार्थों और जीवन की अनेक समस्याओं को हम कला, धर्म, नीति, समाज, उपयोग, संस्कृति, विज्ञान आदि अनेक और भिन्न स्थानों से देख सकते हैं। इसलिये एक ही वस्तु के सम्बन्ध में हमें अनेक धारणायें प्राप्त हो सकती हैं। मनुष्य को ही लीजिये। कला की दृष्टि से, मनुष्य का शरीर सुन्दरता के सममान, सन्तुलन आदि नियमों का पालन करने के कारण सृष्टि की सुन्दर वस्तु है। धर्म के लिये मनुष्य ऊँचे से ऊँचे भव्य भावों का अनुभव करने में समर्थ है। साथ ही पाप और पुण्य, उचित और अनुचित आदि नैतिक प्रश्नों पर वह विचार कर सकता है और अपने आचरण की पवित्रता का महत्व समझ सकता है। वह सामाजिक प्राणी भी है। उसकी मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास केवल समाज के माध्यम द्वारा ही सम्भव है। उपयोग की दृष्टि से, वह सब जीवों से अधिक बलवान् और बुद्धिमान् जीव है। साथ ही, अपनी शक्तियों का संस्कार भी कर सकता है। विज्ञान अनेक हैं और प्रत्येक विज्ञान अपने-अपने दृष्टि-पथ से मनुष्य के संबन्ध में भिन्न-भिन्न धारणाएँ उपस्थित करता है। शरीर-विज्ञान मनुष्य को अनेक जीवाणुओं का संगठित समाज मानता है। दूसरी दृष्टि से, वह एक जटिल यंत्र है जो गणित के नियमों का पालन करता है। तीसरे, वह बहुत-सी रासायनिक क्रियाओं का केन्द्र है। मनोविज्ञान उसे अनेक अनुभूतियों का केन्द्र समझता है। भौतिक विज्ञान ने विश्लेषण से पता लगाया है कि मनुष्य जिस वस्तु का नाम है, उसमें ६५ प्रतिशत जल का अंश है; शेष भाग में कुछ शक्कर, नमक, लोहा, आदि साधारण तत्व हैं जो बाज़ार में थोड़े से मूल्य में मिल सकते हैं।

इस स्थान पर, हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्पष्ट समझना है। यह आधुनिक युग की देन है। इसके द्वारा अनेक धार्मिक कुप्रथाएँ तथा रूढ़ियाँ निर्मूल सिद्ध हो गईं। धर्म ने संसार का जो चित्र मनुष्य के सामने रक्खा था उसमें स्वर्ग और नरक के लिये स्थान था; भूगोल, खगोल आदि अनेक विषयों पर

धर्म ने बहुत-सी भ्रामक धारणायें उपस्थित कीं जिससे व्यर्थ भय उत्पन्न हो गये। सबसे बड़ी हानि धार्मिक दृष्टि से यह हुई कि इससे बुद्धि द्वारा गवेषणा के द्वार बन्द हो गये और धार्मिक ग्रन्थ और कुछ नेता ही सारे सत्य के स्रोत स्थापित किये गये। आधुनिक युग ने बुद्धि को धर्म के बन्धन से मुक्त किया और विचार-शक्ति के लिये, सत्य की खोज के लिये, अनन्त अन्तराल खोल दिये। निर्भय होकर बुद्धि ने अनेक विज्ञानों की स्थापना की, विचार-शक्ति को उन्नत बनाया और सत्य की कसौटी और सत्य की खोज के लिये एक नवीन पद्धति का आविष्कार किया।

संक्षेप में, वैज्ञानिक दृष्टि-कोण के लक्षण निम्नलिखित हैं :—

(१) विज्ञान बुद्धि या विचार-शक्ति को सत्य की खोज के लिए उपयुक्त और समर्थ मानता है। भावना या इच्छा किसी सत्य निर्णय पर पहुँचने के लिये असमर्थ हैं। परन्तु शुद्ध भावना और इच्छा शक्ति हमारे विचार के लिये सहायक सिद्ध हो सकती हैं और भावना का वेग, उद्वेग, भय, मोह और इच्छा-शक्ति की दुर्बलता विचार-क्रिया के लिये बाधक सिद्ध हो सकते हैं। सत्य का निश्चय और उसकी गवेषणा बुद्धि स्वयं कर सकती है—इस दृष्टिकोण ने हमें मानसिक दासता के स्थान पर स्वाधीनता प्रदान की है। हमारे धार्मिक ग्रन्थ, पूर्वज, परम्परा, नेतागण तथा अधिकारी वर्ग आदि सभी हमारे आदर के योग्य हैं, परन्तु किसी वास्तविक सत्य का निर्णय ये सभी नहीं कर सकते जब तक उस सत्य को बुद्धि ग्रहण करने में असमर्थ है। बुद्धि किसी भी अधिकार को सत्य के विषय में मानने के लिये तैयार नहीं। उसके लिये अधिकार, चाहे वह धर्म अथवा किसी और सत्ता का हो, मान्य नहीं। बुद्धि केवल प्रमाण और युक्ति के आधार पर ही किसी निर्णय पर पहुँचती है और केवल प्रामाणिक और युक्तियुक्त सत्य को ही स्वीकार करने में समर्थ है।

(२) इसका यह अर्थ नहीं कि विज्ञान और सब दृष्टि-कोणों को व्यर्थ अथवा असत्य समझता है। यह अवश्य है कि आधुनिक 'विज्ञानवाद' और 'वादों' की भाँति एकाङ्गी और पक्ष-पूर्ण हो गया जिसके कारण हमने जीवन के सभी पहलुओं को विज्ञान की दृष्टि से देखने का प्रयास किया। इसका फल निश्चय ही अच्छा नहीं हुआ और हमारे जीवन के दूसरे आवश्यक अंग और

दृष्टिकोण दुर्बल पड़ गये। हमें नैतिकता, धर्म, सामाजिकता, कला उतने ही आवश्यक हैं जितना विज्ञान। केवल विज्ञान के ऊपर ही बल देना हानिकर सिद्ध हुआ है। जीवन की पूर्णता के लिये हमें केवल विज्ञान के प्रमाण और युक्तियाँ ही न चाहिये; प्रत्युत सभी दृष्टि-कोणों का विकास, जीवन के विविध अङ्गों की तृप्ति आवश्यक है। अतः नवीन विज्ञान इस बात को मानने लगा है कि यह केवल सत्य के एक अंश को ही समझता है और वैज्ञानिक दृष्टि-कोण दूसरे जीवन के लिये उपयोगी दृष्टि-कोणों का निषेध नहीं कर सकता।

वैज्ञानिक 'सत्य' सत्य का केवल एक अंग है। विज्ञान का सत्य 'वास्तविक' है जिसका मतलब है कि कोई 'वस्तु' क्या है? किन तत्वों से मिलकर बनी है? इस वस्तु के छोटे से छोटे अंश कैसे बने हैं और उनकी क्रिया और प्रतिक्रिया कैसे होती है? दूसरी वस्तुओं के सम्पर्क अथवा मिश्रण से कौन-सा नवीन प्रभाव उत्पन्न होता है? आदि 'वस्तु' से सम्बन्ध रखने वाले अनेक प्रश्न विज्ञान के लिये महत्वपूर्ण हैं। इसी वस्तु-गत अथवा 'वास्तविक दृष्टि कोण के द्वारा विज्ञान ने बिजली, पानी, किरण, रंग, आकर्षण, अग्नि, बादल, वर्षा, पेड़, पौधे, पत्ते इत्यादि अनन्त वस्तुओं को अलग-अलग लेकर उन्हें समझने का प्रयत्न किया है और इन वस्तुओं के गुण, दशा, क्रिया आदि का ज्ञान उपार्जन किया है। किन्तु किसी वस्तु का महत्त्व उसकी 'वस्तु-सत्ता' जानने से ही समाप्त नहीं हो जाता। प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध 'मनुष्य' से है जिसका अर्थ है कि उस वस्तु का मनुष्य के नैतिक, धार्मिक, कलात्मक, सामाजिक अंगों पर प्रभाव है। यह प्रभाव मनुष्य के विकास, सुख और जीवन के लिये महत्त्वपूर्ण है। विज्ञान इस प्रभाव का निषेध नहीं कर सकता।

(३) वैज्ञानिक ज्ञान का केन्द्र 'वस्तु' है, उस वस्तु का मनुष्य के ऊपर प्रभाव क्या है—यह उसके 'वास्तविक' दृष्टि कोण से बाहर है। आधुनिक युग में इसका महत्त्व कई कारणों से बढ़ गया। पहले तो 'कोई वस्तु क्या है' यह मनुष्य की स्वाभाविक जिज्ञासा है। इस जिज्ञासा के सन्तोष के लिये मनुष्य ने आकाश के पिण्डों का अनेक दूर-वीक्षण यंत्रों से अनुसन्धान किया, उनकी गति को समझने के लिये गणित का आविष्कार किया और अनेक कल्पनाएँ इनके विकास और क्रम को समझने के लिये कीं। भूगर्भ में, जलते ज्वाला-

मुखी के मुख में, समुद्र, पहाड़, वन और भयंकर प्रदेशों में मनुष्य ने प्रवेश किया। उसने सूक्ष्म-वस्तुओं का अनुसन्धान करने के लिये तथा वस्तुओं के ठीक परिमाण, गति आदि के नियमों का पता लगाने के लिये अनेक आश्चर्य-जनक यंत्रों का निर्माण किया है। सत्य तो यह है कि वस्तु-सम्बन्धी जिज्ञासा ही विज्ञान की प्राण-दायिनी शक्ति है।

दूसरे, विज्ञान-युग के प्रारम्भ में मनुष्य को अनुभव हुआ कि 'ज्ञान ही बल है'। इस आशा से मनुष्य ने वस्तुओं का ज्ञान इकट्ठा किया। धर्म ने वस्तुओं का जो स्वरूप निश्चय किया था, वह हमारी धार्मिक भावना के सन्तोष के लिये पर्याप्त था। परन्तु इस ज्ञान का हम कोई उपयोग नहीं कर सकते थे। उदाहरण के लिये, श्वास-क्रिया को लीजिये। हमारे धार्मिक विश्वास के अनुसार, श्वास एक ईश्वरीय शक्ति है। ईश्वर जीवन के लिये हमें श्वास गिन कर देता है। श्वास के लिये शीतल, सुगन्धित वायु पाकर हमें आह्लाद होता है और हम इस दिव्य-वस्तु की प्रार्थना करने लगते हैं, "हे वायो, तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं साक्षात् ब्रह्म हो। तुम्हीं सत्य और ऋत हो" आदि। यद्यपि यह प्रार्थना धार्मिक दृष्टि-कोण से बहुत उदात्त है, तो भी इसका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं। आधुनिक विज्ञान ने श्वास और वायु का विश्लेषण करके अनेक गैसों का पता लगाया है। हम श्वास द्वारा ओषजन या आक्सीजन ग्रहण कर कार्बन डाई ऑक्साइड बाहर फेंकते हैं। मनुष्य जीवन के लिये, हृदय की गति और रुधिर की शुद्धि के लिये ओषजन आवश्यक है। इस खोज का उपयोग मनुष्य ने 'आक्सीजन-बौक्स' का आविष्कार करके किया है, जिसके द्वारा अब वह पानी के नीचे जहाँ हवा नहीं, अथवा पहाड़ों पर जहाँ आक्सीजन कम है, रह सकता है। पनडुब्बी आदि बनाकर तो मनुष्य ने अपनी-शक्ति को और भी बढ़ा लिया है। इस प्रकार विज्ञान से मनुष्य को अनन्त शक्ति और लाभ प्राप्त हुए हैं। मनुष्य के नैतिक जीवन अथवा विकास पर इसका प्रभाव अनिष्ट-कारी हुआ— यह बात विज्ञान ने नहीं सोची, क्योंकि उसकी मूल प्रेरणा का केन्द्र 'वस्तु' और 'ज्ञान द्वारा बल प्राप्ति' था, न कि मनुष्य।

(४) विज्ञान, वस्तु के प्रत्यक्ष गुणों का अनुसन्धान करता है। यूरोप के मध्यकालीन पंडितों का विश्वास था कि ज्ञान का मूल स्रोत ईश्वर है अथवा

कोई ईश्वरीय शक्ति है जिसका रहस्य हम नहीं समझ सकते। उनके मतानुसार बुद्धि केवल उस ज्ञान को ग्रहण कर लेती है। दूसरे लोग धार्मिक पुस्तकों तथा प्लेटो, अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिकों के ग्रन्थों को ही सारे मौलिक सत्यों का आगार मानते थे। मनुष्य के प्रत्यक्ष अनुभव का—उसकी इन्द्रियों से देखे-सुने जगत् का—कोई महत्त्व न था। उस समय विज्ञान का स्थान विश्वास ने ले रक्खा था। इसके विपरीत प्रतिक्रिया इटली, फ्रांस आदि देशों में प्रारम्भ हुई, जिसके फल-स्वरूप विज्ञान के इन वीर अग्रगामियों ने धार्मिक सत्य के स्थान पर वैज्ञानिक अथवा बुद्धि-गम्य सत्य को जिसका आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव था, उचित आदर प्रदान किया।

विज्ञान जिस ज्ञान का उपार्जन करता है उसका आधार हमारा साधारण इन्द्रिय-ज्ञान है। हम इन्द्रियों द्वारा वस्तु के रंग, रूप, आकार स्पर्श, ताप-क्रम, स्वाद, गन्ध आदि गुणों का निरीक्षण कर सकते हैं। यंत्र की सहायता से इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को हमने बढ़ा लिया है जिससे सूक्ष्म, दूरस्थ वस्तु का भी निरीक्षण सम्भव हो गया है। परन्तु फिर भी विज्ञान का आधार केवल साधारण अनुभव है। साधारण इसलिये कि इस अनुभव के लिये सभी स्वस्थ मनुष्य योग्य हैं। दो मनुष्य 'काली वस्तु' के विषय में समान ही अनुभव करेंगे। इसलिये सभी मनुष्यों का वस्तु के सम्बन्ध में समान ही अनुभव होगा, यद्यपि उस वस्तु का प्रभाव प्रत्येक मनुष्य पर भिन्न हो सकता है। परन्तु इस प्रभाव से विज्ञान कोई सम्बन्ध नही रखता। रंग आकार आदि के अतिरिक्त वस्तुओं में अनेक परिवर्तन होते हैं, जैसे शीशे की नली में पानी गर्म कर देने से वह एक ताप-क्रम पर भाप के रूप में परिवर्तित हो जाता है, अथवा वही भाप शीतल होकर फिर जल के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार वस्तुओं के गुणों में निरन्तर परिवर्तन, विकाश, विनाश आदि अनेक प्राकृतिक घटनायें होती रहती हैं जिनका हम इन्द्रियों द्वारा, यंत्रों की सहायता से अथवा बिना सहायता, अनुभव करते हैं। विज्ञान के विशेष ज्ञान की महत्ता इसी में है कि उसका आधार यही सर्व साधारण वस्तुगत गुणों और परिवर्तनों का साक्षात् अनुभव है।

कुछ विज्ञान मानसिक घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इनमें इन्द्रिय

द्वारा प्रत्यक्ष तो सम्भव नहीं; इनमें मानसिक प्रत्यक्ष होता है। मनोविज्ञान में हम मनमें घटने वाले सुख, दुःख, क्रोध, प्रेम, भय आदि अनेक अनुभवों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। ये ही मनो-विज्ञान के आधार हैं। परन्तु मानसिक घटनाएँ वास्तविक घटनाओं की भाँति स्पष्ट नहीं होतीं और प्रत्येक मनुष्य इनका निरीक्षण भी ठीक नहीं कर सकता। और भी, कुछ आधुनिक मनोविज्ञान के पंडितों ने मन के गहरे स्तर भी बताये हैं जिनका मानसिक प्रत्यक्ष भी सम्भव नहीं। इन कारणों से कुछ वैज्ञानिक मनो-विज्ञान में भी इंद्रियों द्वारा जानने योग्य प्रत्यक्ष अनुभव को ही आधार मानते हैं। हम इस विवाद में न पड़कर इतना ही कह सकते हैं विज्ञान अपने ज्ञान का निर्माण प्राकृतिक घटनाओं के साधारण अनुभव के सहारे ही करता है।

इस विश्वास के कारण विज्ञान ने असाधारण, अप्राकृतिक और विरली घटनाओं को अपने प्रदेश से बाहर निकाल दिया। धर्म, कला आदि में अनेक घटनायें ऐसी होती हैं जिनका आधार तंत्र, मंत्र आदि है। जादू की घटनायें असाधारण हैं। इनके लिये हम सर्व-मान्य नियम नहीं बना पाते, इसलिये विज्ञान ने इनका परित्याग किया। परन्तु ऐसा करने से मनुष्य-जीवन के अनेक अमूल्य सत्य निराधार और अवैज्ञानिक सिद्ध हो गये। हमारे वर्तमान विज्ञान में इसके विपरीत प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई हैं और अब विज्ञान असाधारण अथवा अप्राकृतिक या दैवी कही जाने वाली घटनाओं को भी अपने प्रदेश की वस्तु समझता है। परन्तु इन घटनाओं का कोई वैज्ञानिक अथवा समझ में आने योग्य आधार होना चाहिये, यह विज्ञान मानने लगा है।

(४) विज्ञान किसी वस्तु के गुण अथवा उसमें होने वाले परिवर्तन को, जिसका आधार प्रत्यक्ष साधारण अनुभव है, बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न है। परन्तु बुद्धि की एक विशेष सीमा है जिसे वह पार नहीं कर सकती। वह यह कि यदि कोई वस्तु निरन्तर परिवर्तनशील है अथवा उस वस्तु का परिवर्तन किसी बाँधे हुए नियम के अनुसार नहीं होता तो बुद्धि उसे नहीं समझ सकती। वह 'अग्नि' को समझती है क्योंकि वह नियमों का पालन करती है; क्योंकि वह सदैव गर्म होती है, क्योंकि सदैव औक्सीजन उसके लिये है; क्योंकि सदैव वह पानी गर्म कर सकती है; वस्तुओं का ताप-क्रम, मान बढ़ा सकती है,

क्योंकि इनका विस्तार नियमों के अनुसार होता है। इसके विपरीत यदि अग्नि बिना नियम के ही कभी ठंडी, कभी गर्म और कभी वह बिल्कुल दूसरी वस्तु हो जाती तो बुद्धि उसके स्वरूप को समझने के लिये असमर्थ थी। बुद्धि द्वारा समझने का अर्थ है उस वस्तु में होने वाले परिवर्तनों के नियमों का जानना जिन नियमों से बँधे होने के कारण वह वस्तु अपने स्वाभाविक स्वरूप से दूर नहीं होती। यदि अग्नि में होने वाले परिवर्तन और क्रियायें किन्हीं नियमों के अनुसार न हो तो निश्चय ही हम उसे अग्नि नहीं कह कहते। किसी वस्तु का स्वरूप उसके नियमों द्वारा ही निश्चित किया जाता है। जल इसलिये जल है, वायु, सोना, अथवा प्रकृति की अनेक वस्तुएँ इसीलिये अपने-अपने स्वरूप से पुकारी जाती हैं, क्योंकि इनका स्वरूप अपने-अपने नियमों से बँधा हुआ है। अथवा यों कहिये, कि बुद्धि जो इन्हें समझने का प्रयत्न करती है वही इन नियमों की कल्पना कर लेती है, क्योंकि इनके बिना बुद्धि और समझना दोनों ही असम्भव हैं।

विज्ञान इसीलिये वस्तुओं के सामान्य नियमों का ज्ञान है। विज्ञान का यह मौलिक विश्वास है कि सारी प्राकृतिक घटनायें और नित्य होने वाले परि-वर्त्तन सामान्य नियमों का पालन करते हैं। यदि वायु चलती है, यदि कोई भयंकर भूकम्प होता है, यदि पानी बहता है, यदि ऋतु आने पर फूल झड़कर फल आने लगते हैं, यदि पानी की एक बूँद गर्म स्थान में पड़कर उड़ जाती है; संक्षेप में यों कहिये कि यदि कोई भी साधारण या असाधारण, छोटी या बड़ी घटना अथवा परिवर्तन हमारे अनुभव में आता है तो वह किसी सामान्य नियम के अनुसार ही होता है। भिन्न-भिन्न विशेष घटनाओं के अध्ययन द्वारा हम एक नियम की कल्पना करते हैं। इन नियमों के संगठित समुदाय का नाम ही विज्ञान है, विज्ञान का आधार अवश्य ही प्रत्यक्ष निरीक्षण है; परन्तु विशेष घटनाओं के निरीक्षण के उपरान्त इन घटनाओं को एक सूत्र में बाँधने वाले सामान्य-नियम की गवेषणा ही विज्ञान का एक मात्र लक्ष्य है। भूगोल, खगोल, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र, मनोविज्ञान आदि अपने-अपने विषय और परिधि में अनेक वस्तुओं और घटनाओं का निरीक्षण करते हैं और उन वस्तुओं और घटनाओं के सामान्य नियम हमें बताते हैं।

घटना अथवा वस्तु का निरीक्षण—यह हमें प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा प्राप्त होता है। परन्तु नियम का प्रत्यक्ष हमें नहीं होता। हम वायु की दिशा का प्रत्यक्ष अनुभव अनेक बार कर सकते हैं; परन्तु वायु किस नियम के अनुसार चलती है इसकी कल्पना बुद्धि इन्हीं प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर करती है। कल्पना की उपज होने के कारण नियम और अनुभव में विरोध होने पर, विज्ञान अनुभवको अधिक आदर देता है और उस नियम को त्याग कर नये नियम की कल्पना करता है। सूर्य और चन्द्र-ग्रहण सम्बन्धी पुराने नियम हमें आज मान्य नहीं; क्योंकि इनके सम्बन्ध में हमारा अनुभव दूसरे नियमों की ओर संकेत करता है। कभी-कभी हमारा अनुभव भ्रान्त हो सकता है, उस दशा में नियम को नहीं बदला जाता। परन्तु उस अनुभव को ही शुद्ध किया जाता है। इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान की प्रथम भूमि अनुभव है और चरम भूमि 'नियमों' का आविष्कार।

(६) विज्ञान में कट्टरता अथवा अन्ध-विश्वास के लिये स्थान नहीं। वैज्ञानिक अपने अनुभवों और उनके आधार पर कल्पित नियमों की परीक्षा और समीक्षा के लिये सदा प्रस्तुत है। परीक्षा के अनन्तर वह असत्य विश्वासों को छोड़ने के लिये तत्पर रहता है और सत्य विश्वासों को ग्रहण करने के लिये, चाहे ये कितने ही कटु क्यों न हो। सत्य की परीक्षा के लिये कई विधियाँ हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। विज्ञान किसी वस्तु के सम्बन्ध में सामान्य नियम की खोज करता है जैसे, वायु की गति के नियम। वायु की गति पर तापक्रम का प्रभाव, पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमने का प्रभाव, सूर्य आदि ग्रहों का प्रभाव। इस प्रकार अनेक प्रभाव डालने वाली शक्तियों के निरीक्षण के उपरान्त विचार द्वारा वायु की गति के सम्बन्ध में कुछ सामान्य नियम बनाये जाते हैं। पहली परीक्षा तो यहीं से प्रारम्भ होती है। जिस निरीक्षण विश्लेषण तथा विचार द्वारा ये नियम बनाये गये, क्या ये सब ठीक हैं? फिर नियमों को व्यवहार के द्वारा कस कर देखा जाता है। इस प्रकार परीक्षण विज्ञान के लिये आवश्यक कार्य है।

(७) प्रत्येक विज्ञान अपनी सीमा के भीतर ही गवेषणा, निरीक्षण, परीक्षण आदि करता है। प्रकृति विशाल है, इसमें अनन्त वस्तुएँ हैं। प्रत्येक विज्ञान

प्रत्येक वस्तु का अध्ययन नहीं करता। एक विज्ञान प्रकृति के एक विशेष क्षेत्र को लेकर ही गवेषणा प्रारम्भ करता है। यद्यपि प्रकृति एक और अविभाज्य है, उसके प्रत्येक पदार्थ एक दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं, तथापि विज्ञान गवेषणा की सफलता के लिये अपने-अपने क्षेत्रों का विभाजन करता है। कुछ विज्ञान भौतिक पदार्थों का अध्ययन करते हैं, दूसरे जीवित वस्तुओं का तीसरे चेतन वस्तुओं का और चौथे मानव-समाज का। भौतिक पदार्थों में भी अनेक छोटे-छोटे विभाग हैं जैसे, खनिज पदार्थ, आकाश के पिण्ड, जलवायु का अध्ययन, पृथ्वी के धरातल और निम्न स्तरों का अध्ययन, इत्यादि। इस प्रकार जीवधारी, मनुष्य और मानव-समाज के वैज्ञानिक ज्ञान के लिये अनेक विज्ञान हैं। और भी नई समस्याओं को वैज्ञानिक ढंग से समझने के लिये बहुत से नये विज्ञानों का आविष्कार होता रहता है।

किसी भी ज्ञान के वैज्ञानिक होने के लिये आवश्यक है कि उसके लिये वस्तु के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न हों; उस वस्तु का निरीक्षण और विश्लेषण किया जाये; उस वस्तु के गुण, विकास आदि का अध्ययन किया जाये और इसके अनन्तर उस वस्तु के सम्बन्ध में सामान्य नियमों का आविष्कार किया जाये। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार इन नियमों की जाँच हो। इस प्रकार यदि हम भोजन सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करें तो हमें भोजन-विज्ञान मिल जायगा; अपराधों के मूल, कारणों तथा इनके नियमों पर विचार करने से अपराध-विज्ञान बन जायगा। इसी प्रकार किसी भी प्राकृतिक वस्तु से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों पर निरीक्षण-परीक्षण आदि विधि से विचार करने से हम नये विज्ञान का आविष्कार करते हैं।

(८) वैज्ञानिक ज्ञान का शृङ्खला-बद्ध और संगठित होना भी आवश्यक है। विज्ञान के किसी क्षेत्र में बहुत-सी वस्तुओं से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य नियमों की सूची का नाम विज्ञान नहीं है। वस्तुओं का आपस में सम्बन्ध है; इसलिये इनके नियम भी मिलकर एक विज्ञान अथवा संगठित ज्ञान बनाते हैं। इस संगठन के नियमों के अनुसार विचारों को सूत्र में बाँध कर एक विज्ञान की सृष्टि होती है। उदाहरण स्वरूप वायु-विज्ञान को लीजिये। 'वायु सदा ऊँचे दबाव की ओर से नीचे दबाव की ओर चलती है'। यह एक वैज्ञानिक नियम वायु के

सम्बन्ध में है। 'गर्मी से सभी पदार्थों का मान बढ़ जाता है और ठंड से संकुचित हो जाता है।' 'वायु एक भौतिक पदार्थ है जिसमें बोझ आदि गुण है। इसमें जल की भाँति कोई निश्चित रूप नहीं है तथा इसके मान का विस्तार होता है।' इस प्रकार ये बहुत से नियम हैं। इसके अतिरिक्त सूर्य का ताप, पृथ्वी पर इसका प्रभाव, पृथ्वी का वायु से सम्बन्ध, गर्मी का पदार्थों से सम्पर्क होने पर क्रिया आदि अनेक विषय है जिनके सम्बन्ध में बहुत से नियम हैं। इस प्रकार 'वायु का ऊँचे दबाव से नीचे दबाव की ओर बहना' यह नियम दूसरे नियमों से बँधा हुआ है। एक नियम दूसरे का फल है; इसी प्रकार बहुत से नियम एक दूसरे से सम्बद्ध होते हैं। बहुत से नियमों का यह आपसी सम्बन्ध जिसमें एक नियम दूसरे का फल, दूसरा नियम तीसरे का फल इत्यादि हों, वैज्ञानिक संगठन कहलाता है। इस संगठित और शृङ्खला-बद्ध ज्ञान का नाम ही विज्ञान है।

संक्षेप में, विज्ञान के विषय में निम्नलिखित बातें याद रखने योग्य हैं :—

(क) विज्ञान बुद्धि द्वारा विचार की सहायता से ज्ञान का उपार्जन करता है। (ख) विज्ञान निरीक्षण और प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा 'वस्तु' के गुण, क्रिया, विकास आदि का अध्ययन करता है। अनुभव द्वारा प्राप्त सामग्री ही वैज्ञानिक ज्ञान का आधार है। (ग) विज्ञान वस्तुओं के सम्बन्ध में उनकी बनावट, विकास आदि सामान्य-नियमों की कल्पना करता है। वह वस्तु की विशेषता पर ध्यान नहीं देता और न उस वस्तु का हमारे आध्यात्मिक जीवन, नैतिक जीवन, कलात्मक अथवा भावात्मक जीवन पर क्या प्रभाव होता है, इसका अध्ययन करता है। नवीन विज्ञान इन प्रभावों का निषेध नहीं करता। (घ) वैज्ञानिक दृष्टिकोण औरों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् नहीं। इसकी सार्थकता केवल इसी में है कि यह वस्तु के अनुभूत स्वरूप को नियमों के द्वारा समझाता है और हमें ज्ञान के द्वारा शक्ति प्रदान करता है। (ङ) विज्ञान अपने संचय किये हुए ज्ञान को विचार, प्रयोग आदि विधियों द्वारा परीक्षा करता है। (च) प्रत्येक विज्ञान कुछ वस्तुओं का ही अध्ययन करता है, सारी वस्तुओं का नहीं। प्रत्येक विज्ञान की सीमा होती है और साथ ही, दूसरे

विज्ञानों से दूर या पास का सम्बन्ध भी होता है । (छ) वैज्ञानिक सामान्य-नियमों में सम्बन्ध की खोज करता है । प्रकृति में कोई वस्तु बिल्कुल अलग नहीं । इसी पर सब का प्रभाव, थोड़ा या बहुत पड़ता है । इसलिये एक नियम दूसरे से जुड़ा हुआ होता है । नियमों का यह संगठन विज्ञान के लिये आवश्यक है ।

———

विचार-विज्ञान

संसार की दूसरी वस्तुओं की भाँति, मनुष्य भी स्वयं विज्ञान का विषय है। जिस प्रकार आग, बिजली, पानी, परमाणु आदि अनेकानेक वस्तुओं का अध्ययन विज्ञान ने किया है, तथा इनके विषय में सामान्य नियमों का पता लगाया है, उसी प्रकार मनुष्य ने स्वयं अपना अध्ययन भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया है। भेद केवल इतना है कि मनुष्य नाम की वस्तु दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा बहुत जटिल है और इसके प्रत्येक पहलू का अध्ययन करने के लिये एक भिन्न विज्ञान की आवश्यकता होती है। मनुष्य दूसरी भौतिक वस्तुओं की भाँति भौतिक वस्तु है। उसका शरीर पानी, शक्कर, नमक आदि पदार्थों से मिलकर बना है। साथ ही वह जीव भी है। वह भोजन करता है, उसे पचाकर रुधिर, मज्जा आदि अनेक तत्वों का निर्माण करता है। उसके शरीर में साधारण यंत्रों की भाँति कार्य भी होता है, परन्तु उसमें अनेक जीवित मांस-ग्रन्थियाँ, हृदय, यकृत् आदि भी हैं जिनका कार्य काफी जटिल है। मनुष्य चेतन भी है, उसमें इच्छा, क्रोध, प्रेम, भय, संकल्प, कल्पना, स्मृति आदि अनेक अनुभव होते हैं जिनका अध्ययन भी दूसरी वस्तुओं की भाँति ही आवश्यक है। इन अलग-अलग पहलुओं का अध्ययन करने के लिये, शरीर-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि का आविष्कार हुआ है।

यहाँ हमारा सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। मन में विविध और विचित्र अनुभव होते रहते हैं। जागृत अवस्था में हमारी मनोवृत्तियाँ प्रतिक्षण बदलती हैं। हमें अपना मन, अनुभवों का निरन्तर गति-मय प्रवाह सा मालूम होता है। एक क्षण आँख बन्द कर देखने से हमारा मन एक बहती हुई धारा की भाँति प्रतीत होता है जिसमें सुख, दुःख, उद्वेग, भय आदि की भावनाएँ, अनेक मधुर कल्पनाएँ, अनेक कटु स्मृतियाँ और विचार बहते हुए दिखाई देते हैं। सोने पर भी स्वप्नों का ताँता लगा रहता है। न जाने कहाँ से अनेक विचित्र मूर्तियाँ, भयंकर या सुखद घटनायें, विविध दृश्य स्वप्नों में उपस्थित होते हैं।

सुषुप्ति अथवा गहरी नींद की अवस्था में भी आनन्द का अनुभव होता है। इस प्रकार साधारणतया परिचित मन की अवस्थाओं में बहुत से अनुभव रहते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्य भी अनेक प्रकार के होते हैं, उनकी शक्तियाँ और अनुभव भी भिन्न-भिन्न। एक ओर जड़ और मूर्ख, दूसरी ओर अनेक प्रतिभा-शाली वैज्ञानिक, दार्शनिक, कवि अथवा कलाकार, दुष्ट और साधु, युवा-वृद्ध, पुरुष-स्त्री आदि अनेक मनुष्यों के भेद हैं जिनके अनुभव भी विचित्र और पृथक्-पृथक् हैं। इन सब अनुभवों का अध्ययन मनोविज्ञान करता है। इन सब मानसिक घटनाओं को नियम-बद्ध करता है, उनके कारणों का पता लगता है, उनकी प्रवृत्ति, विकास आदि के नियमों का आविष्कार करता है। इस प्रकार हमारा मानसिक जगत् भी जानने योग्य हो जाता है। उसकी घटनाओं में क्रम, नियम, कारण आदि का स्पष्ट ज्ञान हो जाने से हम अपने मन को बाहरी जगत् की भाँति ही समझने के योग्य हो जाते हैं। मनोविज्ञान का विकास यहाँ तक हुआ है कि अब हम स्वप्नों का रहस्य भी समझने लगे हैं, क्योंकि स्वप्न का अनुभव कुछ नियमों के अनुसार ही होता है। इसी प्रकार पागलपन, विस्मृति, अत्यधिक चिन्ता, व्यर्थ भय आदि मनोविकारों के सम्बन्ध में मनो-विज्ञान ने नियमों की सफल गवेषणा की है।

यहाँ हमारा सम्बन्ध मन के केवल एक अनुभव से है; वह है विचार। यह एक मानसिक क्रिया है जो साधारण और उपयोगी है। सभी मनुष्यों में, थोड़ी या अधिक, स्पष्ट या अस्पष्ट, विकसित या अविकसित रूप में विद्यमान हैं और सभी, कभी न कभी, इसे काम में लाते हैं। पहले अध्याय में 'विचार' के ऊपर हमने कुछ विचार किया था और विचार के स्वरूप और उपयोगिता के विषय में कुछ बातें स्पष्ट की थीं। परन्तु इस क्रिया का जीवन में इतना अधिक महत्त्व है कि केवल इसके लिये ही एक अलग विज्ञान की रचना आवश्यक है। इसका नाम 'विचार-विज्ञान' है। इसके द्वारा विचार के सम्बन्ध में अनेक गवेषणायें की जा सकती हैं। विचार के नियमों का आविष्कार, इसके विकास का क्रम, इसमें सत्य और असत्य का भेद करने के लिये परीक्षा के सिद्धान्त का आविष्कार हो सकता है। प्रस्तुत लेखों का संग्रह इसी कारण 'विचार-विज्ञान' नाम से उपस्थित किया गया है।

हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि प्रत्येक विज्ञान अपने निर्धारित क्षेत्र में अपने विषय की वस्तु के सम्बन्ध में बहुत से प्रश्नों के ऊपर वैज्ञानिक अथवा समझने की रीति से विचार करता है। यहाँ हमें 'विचार-विज्ञान' की मुख्य समस्याओं को समझना आवश्यक है जिससे इसका क्षेत्र, सीमायें और अध्ययन की दिशा स्पष्ट हो जाये।

(क) विचार का स्वरूप : विचार क्या है? यह प्रश्न विचार-विज्ञान के लिये उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार वनस्पति-विज्ञान के लिये यह प्रश्न है कि "पौदा क्या है"। प्रत्येक विज्ञान अपने विषय की वस्तु का स्वरूप निश्चित करना प्रथम कार्य समझता है। "यह वस्तु क्या है?" इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान उस वस्तु का विश्लेषण करके देता है; उसके अंग-प्रत्यंग, मूल, विकास आदि का पता लगाता है। हम पहले अध्याय में विचार के स्वरूप पर विचार कर चुके हैं। केवल इतना कहना यहाँ काफ़ी होगा कि विचार हमारे मन की एक क्रिया है। अन्य मानसिक क्रियाओं से यह भिन्न इसलिये है कि इसके द्वारा हम प्रत्येक प्राकृतिक वस्तु के गुण, स्वरूप, नियम आदि को जानने का प्रयत्न करते हैं, अनेक प्रश्नों को सुलझाते हैं। इसे हम बौद्धिक-क्रिया अथवा जानने की क्रिया कह सकते हैं। मानसिक विकास-क्रम में विचार-शक्ति का विकास इसलिये हुआ कि प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना हमारे लिये पर्याप्त नहीं हैं। विचार के द्वारा ही युक्ति और प्रमाणों की सहायता से हम वैज्ञानिक ज्ञान एकत्र कर सकते हैं। हमने अनेक प्राकृतिक नियमों को विचार के द्वारा समझ कर महान् ज्ञान और बल प्राप्त किया है, नवीन आविष्कार, नवीन सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक संगठन आदि करके सभ्यता और संस्कृति का विकास किया है। संक्षेप में, युग को आगे ले जाने वाली शक्तियों में से विचार-शक्ति मुख्य है। प्रत्येक परिस्थिति या परिवर्त्तन हमारे जीवन में एक नवीन समस्या उत्पन्न करता है जिसका उत्तर केवल विचार ही ठीक रूप से देता है। सारी प्रगति का रहस्य ही प्रश्न की उपस्थिति जो परिवर्त्तन के कारण होती है और उस प्रश्न के उत्तर स्वरूप ही है। उलझे हुए प्रश्नों का यथोचित उत्तर पाना केवल बुद्धि या विचार का काम है।

(ख) विचार के प्रकार : 'विचार कितने प्रकार का होता है?' यह प्रश्न

भी विचार-विज्ञान के लिये उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार वनस्पति-विज्ञान के लिये यह प्रश्न कि 'पौदे या वृक्ष कितने प्रकार के होते हैं ?' अन्तर केवल इतना है कि पौदे हमारे सामने की प्रत्यक्ष वस्तु है जिसका हम काफ़ी समय तक निरीक्षण कर सकते हैं, विचार हमारे मन की एक क्रिया है जिसे हम न आँख से देख सकते हैं और न बहुत समय तक उसका अनुभव कर सकते हैं। परन्तु वनस्पनि-विज्ञान में हमें जगह-जगह विभिन्न प्रकार के पौदों की खोज में घूमना पड़ता है। परन्तु हमारे विचार हमारे साथ ही रहते हैं। यद्यपि इनका आँखों से प्रत्यक्ष अनुभव तो सम्भव नहीं, परन्तु हम अपने मन की इन गतियों का मानसिक प्रत्यक्ष कर सकते हैं। जिस प्रकार हम अपने अनेक अनुभवों को समझते हैं, उसी प्रकार 'विचार' नामक अनुभव को भी समझ सकते हैं। विचार केवल 'मानसिक वस्तु' है, पार्थिव वस्तु नहीं। परन्तु वस्तु अथवा क्रिया होने के कारण इसका निरीक्षण और विश्लेषण सम्भव है।

थोड़े अभ्यास के अनन्तर हम अपने 'विचारों' पर विचार करना, उनके आकार-प्रकार का पता लगाना सीख सकते हैं। बहुत से विज्ञान भी विचारों के संचय-मात्र हैं। राजनीति, अर्थशास्त्र, रसायन, भौतिक-विज्ञान आदि अनेकों विज्ञान हैं जिनमें संसार के शक्तिशाली विचारकों ने अपने विचारों को संगठित किया है। इन विज्ञानों का अध्ययन करने से हम अनेकों प्रकार के विचार पा सकते हैं। वस्तुतः विचार-विज्ञान इन अनेकों विज्ञानों से ही अपने अध्ययन और परीक्षण के लिये सारी सामग्री पा सकता है, ठीक उसी प्रकार जैसे खगोल दूर-वीक्षण यंत्रों से सारे आकाश के प्रकाश-पिण्डों का निरीक्षण कर सकता है अथवा वनस्पति-विज्ञान के लिये जैसे अनेकों वृक्षों और पौधों से भरा हुआ उपवन आवश्यक होता है। विचारों के सुन्दर और स्पष्ट नमूने हम विज्ञानों से पाकर उनको अनेक वर्गों में बाँट सकते हैं और उनके आकार-प्रकार का निश्चय कर सकते हैं।

प्रत्येक विज्ञान एक पृथक विज्ञान है, क्योंकि वह एक विशेष-वस्तु का अध्ययन करता है। परन्तु विषय-वस्तु भिन्न होने पर भी उसमें विचार के प्रकार भिन्न नहीं हो सकते। मनुष्य चाहे तारों के विषय में, चाहे पौदों के विषय में, चाहे समाज, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा आदि किसी भी विषय में गवेषणा

प्रारंभ करे, उसके विचार करने का ढंग, प्रश्नों को सुलझाने की प्रणाली, प्रमाण और युक्ति देने की पद्धति समान ही रहेंगे। 'वस्तु' भिन्न होने पर भी 'आकार' की समानता अथवा 'आकार' की भिन्नता होने पर 'वस्तु' की समानता— यह एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट होगा। एक ही व्यक्ति 'महात्मा गान्धी' की मूर्त्तियाँ यदि सोने, संगमरमर, तांबा, लोहा, लाल पत्थर, या प्लेस्टिक आदि से बनाई जायें तो यहाँ 'आकार' समान होने पर 'वस्तु' भिन्न हैं। इसी प्रकार कई व्यक्तियों की मूर्त्तियाँ यदि पीतल की ही बनाई जायें तो यहाँ समान 'वस्तु' होने पर भी 'आकार' भिन्न-भिन्न होंगे।

किसी भी पदार्थ को जिसका हम अध्ययन करना चाहते हैं, दो दृष्टिकोणों से देख सकते हैं—एक 'वस्तु' का दृष्टि-कोण, दूसरा 'आकार या प्रकार' का। कहीं-कहीं तो ये दृष्टि-कोण स्पष्ट होते हैं, जैसे यदि ताज महल संगमरमर के स्थान पर संगमूसा (काले-पत्थर) का बना होता तो समान आकार होते हुए भी वस्तु में भिन्न होता। यदि ताज महल और संगमरमर के बने एक मन्दिर की तुलना की जाये तो समान वस्तु होते हुए भी उनके आकार में भिन्नता है। इसी प्रकार यदि दो मनुष्य बीमार हैं; वे दोनों अलग-अलग हैं, परन्तु सम्भव है उनको समान रोग हो। इसी प्रकार अनेक मनुष्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी समान रोग से ग्रस्त हो सकते हैं। अनेक वस्तुओं में एक ही गुण उनका 'सामान्य' गुण कहलाता है। यह 'सामान्य' गुण उनका आकार है और इसी आकार के सम्बन्ध में विज्ञान सामान्य नियम की खोज करता है। इसी लिये चिकित्सा-विज्ञान 'रोग' के कारण और चिकित्सा का पता लगाता है न कि अलग-अलग रोगियों का।

ठीक इसी भाँति 'विचार' में भी 'वस्तु' और 'आकार' का भेद किया जा सकता है। जिस पदार्थ के विषय में विचार किया जाता है वह उस विचार की 'वस्तु' है; जैसे हम 'मनुष्य', 'लोहा', राष्ट्र', आदि अनेक विषयों पर बिचार कर सकते हैं। ये हमारे विचार की 'वस्तु' हैं। जिस प्रकार या जिस प्रणाली से हम इन वस्तुओं पर विचार करते हैं—वह इनका आकार है; जैसे हम विचार करते हैं "सब मनुष्य जीवधारी हैं।" "सब लोहा धातु होता है।" "सब राष्ट्र किसी न किसी प्रदेश से सम्बन्ध रखते हैं।" इन वाक्यों में हमने

'मनुष्य,' 'लोहा' अथवा 'राष्ट्र' के विषय में समान रूप से विचार किया है कि ये वस्तुएँ क्या हैं। इन वाक्यों में हमने इन वस्तुओं की 'सामान्य जाति' का उल्लेख किया है। यही इन विचारों का आकार है।

हम एक अलग अध्याय में विचार के 'प्रकारों' का अध्ययन करेंगे। यहाँ केवल इतना समझना आवश्यक है कि भिन्न वस्तु होने पर भी विचार की प्रणाली समान हो सकती है। हम प्रत्येक विज्ञान में अनेकों 'प्रकार' से गवेषणा करते हैं; अनेकों 'प्रकार' की युक्तियाँ या प्रमाण किसी सिद्धान्त या निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये देते हैं। वस्तु भिन्न होने के कारण विज्ञान तो अवश्य भिन्न हो जाता है, परन्तु विचार-क्रिया सभी जगह समान रूप से विद्यमान होने के कारण 'विचार के प्रकार' अथवा 'युक्तियों के आकार' सभी विज्ञानों में समान रूप से पाये जाते हैं। विचार-विज्ञान विचार-क्रिया के इन्ही व्यापक आकार-प्रकारों का पता लगाता और इनके विषय से सामान्य नियमों का आविष्कार करता है।

इस दृष्टि से विचार-विज्ञान दूसरे विज्ञानों के समान ही है। प्रत्येक विज्ञान अपने विषय को वस्तुओं का निरीक्षण करके उनमें 'सामान्य गुण' की खोज करता है, क्योंकि उसे 'नियम' की खोज है। नियम व्यापक होता है; वह अनेकों वस्तुओं के विषय में निर्णय देता है। जैसे, मनोविज्ञान का नियम है कि हम आनन्द दायक बातों को सरलता से स्मरण कर लेते हैं और दुःखद बातों को भूल जाते हैं। इस नियम का आविष्कार करने के लिये अनेक प्रयोग किये गये। कहीं चूहों पर, कहीं बिल्ली, बन्दर, बच्चों पर, और कहीं मनुष्यों पर। इनको सीखने के लिये कोई काम दिया गया, जैसे पिंजरें की चटकनी खोल कर बाहर निकलना या जाल से निकलना या पियानो बजाना या टाइप सीखना। ये बहुत से प्रयोग भिन्न स्थानों पर, भिन्न परिस्थितियों में, भिन्न जीवधारियों के साथ किये गये। परन्तु प्रत्येक प्रयोग में अनेक भिन्नतायें होते हुए भी एक सामान्य बात दीख पड़ी। वह यह कि जिस काम के करने से जीवधारी को परिणाम में सुख का अनुभव हुआ; जैसे चूहे को केला मिलना, बिल्ली को दूध मिलना आदि, उस काम को उसने सरलता से सीख कर स्मरण रक्खा। जिस काम के करने से उसको कष्ट हुआ उसे भूल गया। जैसे,

एक चूहे को एक जाल के अन्दर बन्द किया गया जहाँ से निकल कर भागने के के लिये दो मार्ग थे—एक अन्धेरा और दूसरा उजेला। उजेले मार्ग से भागने के लिये चूहे में प्रवृत्ति हुई तो वहाँ उसे कई बार बिजली के धक्के लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि चूहे ने उस मार्ग से निकलना बन्द कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक विज्ञान नियम की स्थापना 'सामान्य गुण' के आधार पर ही करता है। यह 'सामान्य गुण' विभिन्न वस्तुओं में भी समान रूप से विद्यमान होता है। विचार-विज्ञान भी अनेकों विज्ञानों में पाये जाने वाले विचारों में 'समान आकार' की गवेषणा करके उनके विषय में नियम बनाता है। विचार-विज्ञान प्रत्येक विज्ञान की वस्तुओं की ओर विशेष ध्यान नहीं देता जितना ध्यान वह उन विज्ञानों में प्रयुक्त विचारों के 'प्रकार', उनके प्रमाणों की रूप रेखा आदि पर देता है।

यहाँ यह कठिनाई उपस्थित हो सकती है कि हम 'विचार' में वस्तु को उसके 'आकार' से किस प्रकार अलग करें। मनुष्य के लिये इनको अलग करना तो सम्भव नहीं, परन्तु अलग समझना मानव बुद्धि की विशेषता है। ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट होना चाहिये। ताज महल केवल संगमरमर का ढेर ही नहीं है, बल्कि इनका एक विशेष 'आकार' है जो इनको इतना सौंदर्य प्रदान करता है। हाँ, यह अवश्य है कि यदि यही ताज महल का 'आकार' काले पत्थर का होता तो प्रभाव और सुन्दरता भिन्न हो जाते। परन्तु हम 'वस्तु' को उसके 'आकार' से पृथक् समझने की सामर्थ्य रखते हैं। इसी भाँति, कुछ कठिनाई के साथ ही सही, हम विचार में विचार के विषय और उसके स्वरूप को समझ सकते हैं। हाँ, 'वस्तु' के कारण 'आकार' में अवश्य परिवर्तन हो जाता है। जहाँ कहीं ऐसा हो वहाँ हमें 'आकार' और 'वस्तु' दोनों पर ही ध्यान देना चाहिये; परन्तु ऐसा करने में भी हमारा लक्ष्य 'आकार' का अध्ययन ही होता है, क्योंकि नियमों का सम्बन्ध आकार से होता है।

(ग) प्रमाण और युक्ति : जीवन में कई अवसर ऐसे आते हैं जिनमें हम 'क्यों' का प्रश्न नहीं उठाते। सैनिक अपने नायक की आज्ञा बिना 'क्यों' के मानना अपना कर्तव्य समझता है। संसार में प्रेमियों की अनेक कथायें

प्रचलित हैं। सुनते हैं प्रेमी यह नहीं बता सकता कि वह प्रेम 'क्यों' करता है। उसके लिये प्रेम करना, भूख-प्यास, देखना-सुनना आदि की भाँति ही स्वाभाविक हैं। हमें सौंदर्य और माधुर्य का अनुभव होता है; प्रकृति के अनन्त छटामय पदार्थ सुन्दर और आनन्दप्रद हैं। बहुधा हम नहीं पूछते कि वे 'क्यों' सुन्दर हैं। इसी प्रकार बहुत से धार्मिक विषयों में हम तर्क से काम लेना पसन्द नहीं करते। पुनर्जन्म, कर्म-वाद आदि के विषय में हम इन बातों को श्रद्धा के साथ मान ही लेते हैं। कई बार तो 'क्यों' प्रश्न को उठाने से अनुभूति बदल जाती है। जैसे, यदि मैं किसी तालाब के किनारे खड़ा होकर सुन्दर कमलों के वैभव को देखूँ, उनके सौन्दर्य, निर्मल तारुण्य और रसमयता का अनुभव करूँ, यदि उसी समय मुझसे कोई पूछे, "ये कमल दिन में ही क्यों खिलते हैं जब कि कमलिनी रात्रि के तारक-प्रकाश में ही विकास पाती है?" तो इस प्रश्न से अवश्य ही मुझे झुँझलाहट होगी। अधिक से अधिक, इस समय मैं वही उत्तर दे सकता हूँ जो भवभूति ने दिया था कि 'कोई आन्तरिक, रहस्यमय सम्बन्ध ही दो पदार्थों को जोड़ देता है, केवल बाहर के कारणों को हमारा प्रेम नहीं मानता।' इसी लिए हम नहीं कह सकते कि कमलिनी क्यों रात में और कमल क्यों दिन में खिलते हैं। परन्तु स्मरण रहे यह उत्तर एक कवि का है न कि वैज्ञानिक का।

विज्ञान हमारे जीवन का केवल एक अङ्ग है; इसी लिये सब जगह वैज्ञानिक-प्रश्न 'क्यों' को उठाना न उचित है और न सम्भव है। परन्तु ऐसे अवसर भी अनगिन और अनिवार्य हैं जहाँ हम किसी वस्तु या घटना को वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से देखने के लिये बाध्य होते हैं। सैनिक के ही प्रश्न को लीजिये। यद्यपि सैनिक अपने नायक से आज्ञा-पालन के लिये 'क्यों' नहीं पूछता, परन्तु कुशल नायक आज्ञा देने के कारण को समझता है। "इस समय ऐसी आज्ञा देना क्यों उचित है? युद्ध में जब कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है तो इस प्रकार की आज्ञा देना ही उचित होता है। इस समय ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। इसलिये यह आज्ञा ही उचित है।" इस प्रकार का तर्क नायक के मन में होना चाहिये। यदि बिना समझे या परिस्थितियों पर विचार किये ही वह आज्ञा देता है तो सम्भव है उससे अनिष्ट हो। इस प्रकार युद्ध-

भूमि में भी आज्ञा के अवसर पर 'विचार' करना न केवल आवश्यक होता है, बल्कि अनिवार्य भी। वह विचार कितनी शीघ्रता के साथ मन में गुज़र जाता है, यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं; परन्तु 'विचार' करना पड़ता है, यही हमारा सिद्धान्त है। बाद में कई बार सेना में ऐसे अवसर भी आते हैं जब सेना-नायकों को सेना के न्यायालयों में अपनी दी हुई 'आज्ञाओं' को उचित सिद्ध करने के लिये प्रमाण भी देना होता है। इसी भाँति आज्ञा देने वाला पिता, शिक्षक या अधिकारी 'आज्ञा' देने में 'क्यों' को जानकर ही आज्ञा देते हैं अथवा देनी चाहिये। आज्ञा-पालन के लिये उचित समझा जाता है कि वह बिना प्रश्न किये ही उसका पालन करे। परन्तु यह नियम भी सभी परिस्थितियों में मान्य नहीं होता। अपने नागरिक जीवन में हमें अधिकार होता है कि हम सरकारी आज्ञाओं के कारणों को जान सकें।

किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रेम या द्वेष भी बिना कारण नहीं होता। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक 'कार्य' के लिये 'कारण' होना अवश्य है। मनो-विज्ञान ने इस समय इन 'अकारण' कही जाने वाली प्रेम, द्वेष, भय, उद्वेग आदि की भावनाओं के विषय में काफ़ी अध्ययन किया है और इस परिणाम पर पहुँचा है कि ये भावनायें हमारे मन के 'अचेतन' भाग में उत्पन्न होती हैं। हमें इनका कारण दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि ये हमारे मन के ज्ञात और चेतन भाग से दूर स्थानों में उत्पन्न होती और पलती हैं। इनको साधारणतया निर्मूल भी नहीं कर पाते। इसीलिये मनो-विज्ञान इनको 'मानसिक ग्रन्थि' कहता है। परन्तु अनेक व्यक्तियों की प्रेम, द्वेष आदि भावना-ग्रंथियों का विश्लेषण किया जा सकता है और उन्हें वैज्ञानिक रीति से खोला जा सकता है। उनके विषय में "क्यों ये ग्रंथियाँ बनीं" इस प्रश्न का सुलझाव सम्भव है। यहाँ तक कि यदि हम सब अपने मन में बनी हुई इन ग्रंथियों के विषय में इनके मूल-कारणों को समझ सकें तो हमारा मन स्वस्थ और सबल हो सकता है। अतः इन मामलों में भी हम युक्ति-युक्त प्रमाणों का प्रयोग सफ़लता पूर्वक कर सकते हैं।

विज्ञान अपनी पैनी दृष्टि से सौंदर्य-भावना का भी विश्लेषण करता है। तारों से जड़ा नीला आकाश, वृक्षों और बेलों से भरा हुआ बन, पर्वत श्रेणियाँ

तथा अनेक कलापूर्ण चित्र, भवन, संगीत और नृत्य आदि—ये सब हमें 'क्यों' सुन्दर प्रतीत होते हैं; इनमें रंग, रेखा, रूप, वस्तु, आदि किन सिद्धांतों के अनुसार रक्खे गये हैं जिससे इनका संयोजन, आनन्द की भावना उत्पन्न करता है ? ये प्रश्न कला-विज्ञान 'सुन्दर-वस्तु' के विषय में पूछता है और इनका वैज्ञानिक उत्तर देता है जिससे कला में सौंदर्य के सिद्धान्त समझ में आ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि इस विज्ञान में भी "अमुक वस्तु सुन्दर है और इस लिये सुन्दर है" इसके लिये प्रमाण दिये जाते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक विज्ञान 'प्रमाणित' ज्ञान का सम्पादन करता है। बिना 'प्रमाण' के हम किसी विचार की सत्यता को स्वीकार नहीं कर सकते। जहाँ कहीं सत्य और असत्य के भेद करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, वहाँ 'क्यों' का प्रश्न स्वाभाविक है। न्यायालय में अभियुक्त उस समय तक निर्दोष माना जाता है, जब तक 'प्रमाणों, द्वारा यह सिद्ध न हो जाये कि उसने निश्चय ही अपराध किया है। उचित युक्तियों द्वारा दोनों पक्ष न्यायालय में अपने मत की पुष्टि करते हैं। धारा-सभाओं में या व्याख्यानों में जहाँ, कहीं कोई व्यक्ति अपने मत दूसरों के द्वारा स्वीकार कराना चाहता है, वह समझाने के लिये 'प्रमाण' देता है। उदाहरण रूप में, यदि हमें समझाना है कि 'वनस्पति तेल' का बनना बन्द होना उचित है तो हम कहेंगे "इसलिये उचित है क्योंकि यह तेल जनता के लिये हानिकारक है; क्योंकि इसके बनने से अमुक अनिष्ट होता है, क्योंकि इत्यादि'। इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान में, जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में 'क्योंकि' का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ कहीं समझने का प्रयत्न किया जाता है, वहाँ 'प्रमाण' आवश्यक है। परन्तु सभी 'प्रमाण' समझाने के कार्य में समान रूप से सफल नहीं होते। कुछ 'प्रमाण' इतने निर्बल होते हैं कि बुद्धि उन्हें ग्रहण करने को तैयार ही न होगी। यदि मैं कहूँ कि मैं भी एक सफल वक्ता बनूँगा क्योंकि मैं अच्छा गा सकता हूँ, तो इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि सफल गायक कैसे सफल वक्ता बनने की आशा कर सकता है। सफल वक्ता के लिये जो आवश्यक गुण हैं, उनमें संगीत कला की निपुणता नहीं पाई जाती। इसी प्रकार हम प्रति दिन बहुत से निर्बल प्रमाणों का प्रयोग करते रहते हैं।

कुछ प्रमाण केवल काल्पनिक या कलात्मक होते हैं। जैसे वर्षा गर्मी के बाद इसलिये होती है क्योंकि सूर्य के ताप से पृथ्वी तप जाती है और इन्द्र देव जिसको पृथ्वी ने वरण किया था, उस पर कृपा करके वर्षा से उसका सन्ताप दूर करते हैं। इसी प्रकार कुछ प्रमाण केवल हमारी आदर, श्रद्धा, प्रेम, भय, द्वेष आदि भावनाओं की उपज होते हैं। दूसरे प्रमाण केवल शब्द-जाल होते हैं और केवल प्रवञ्चना के लिये प्रयुक्त होते हैं। कुछ प्रमाण प्रमाण होते ही नहीं हैं; ये अप्रमाण हैं। कुछ प्रमाण दोषों के कारण प्रमाण की भाँति प्रतीत होते हैं; ये प्रमाणाभास हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रमाण जीवन में इतने आवश्यक हैं परन्तु इनमें अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। केवल निर्दोष, प्रबल और सत्य प्रमाण ही सत्य की ओर ले जाता है और बुद्धि को भी प्रकाश प्रदान कर सकता है। विचार-विज्ञान का यह महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह हमें निर्बल, सदोष प्रमाणों की पहचान बताये और सत्य प्रमाणों के नियमों का आविष्कार करे।

ऊपर से देखने से तो आकाश के तारों की भाँति सत्य प्रमाण किसी नियम से बँधे हुये प्रतीत नहीं होते। प्रमाण अनन्त हो सकते हैं और अनेकों विज्ञान और जीवन के सभी क्षेत्रों में इनका प्रयोग होता है। परन्तु ध्यान से देखने से जिस प्रकार तारों में गति और मार्ग के नियम स्पष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इन अनन्त प्रमाणों में सत्य और निर्दोष होने के नियम हैं। पहले तो विचार-विज्ञान प्रमाणों को कुछ 'प्रकारों', 'वर्गों' अथवा 'आकृतियों' में विभाजित करता है और उनके शरीर और स्वरूप का निश्चय करता है। तदनन्तर प्रत्येक 'प्रकार' के प्रमाणों के लिये कुछ विशेष और कुछ सामान्य नियमों का पता लगाता है। यह ठीक उसी प्रकार होता है जैसे, भौतिक-विज्ञान अनेक भौतिक वस्तुओं को तत्त्वों में विभाजित करके प्रत्येक तत्त्व के सामान्य और विशेष नियमों की गवेषणा करता है। केवल यहाँ हम भौतिक वस्तुओं के स्थान पर प्रमाणों का अध्ययन करते हैं।

(घ) आदर्श और स्वभाव : दूसरे विज्ञानों और विचार-विज्ञान में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। वह यह कि विचार-विज्ञान जिन सामान्य और विशेष नियमों का आविष्कार सत्य और सबल प्रमाणों को जानने के लिये करता है वे सब 'सत्य के स्वरूप' से प्राप्त होते हैं। 'सत्य' एक मानव बुद्धि का

आदर्श है। अनेक बाधाओं को हटा कर मानव बुद्धि सत्य का निर्णय करना चाहती है, परन्तु बहुत बार नहीं कर पाती। यहाँ पर 'करना चाहिये' और 'कर पाती है' में अन्तर उत्पन्न होता है। यदि बुद्धि सदा ही स्वभावतः सत्य का निर्णय कर पाती तो विचार-विज्ञान और सब नियम व्यर्थ होते। परन्तु क्योंकि वह कभी-कभी नहीं कर पाती, यद्यपि इसके लिये 'उचित' है, इसी से विचार-विज्ञान के नियम हमें सत्य-प्रमाणों का निर्णय करने में सहायक होते हैं। अन्य सभी प्राकृतिक विज्ञानों में 'आदर्श' की चर्चा नहीं। प्रकृति के सभी पदार्थ-सूक्ष्म और स्थूल—नियमों के अनुसार कार्य करते हैं। कोई प्राकृतिक घटना 'किस नियम' के अनुसार होती है यह खोज करना ही इन विज्ञानों का काम है, चाहे वह घटना मानव जाति के लिये कल्याण कारी हो अथवा न हो। यही कारण है कि आज प्रकृति के अनन्त क्षेत्रों में निर्बाध गवेषणा होने के कारण भौतिक विज्ञानों ने इतनी उन्नति की है।

विचार-विज्ञान के दृष्टि कोण को समझने के लिये हम इसे इस प्रकार भी कहते हैं; एक खान खोदने वाला खनिक बहुधा कंकर, पत्थर, रत्न सभी को खोद डालता है। परन्तु इन वस्तुओं में कौन मूल्यवान् और कौन व्यर्थ है, इसका निर्णय रत्न-विज्ञान विशारद जौहरी ही करता है। इसी भाँति प्रत्येक विज्ञान अनेक गवेषणायें और नियमों का आविष्कार करता है, परन्तु जब इनको 'सत्य' और बुद्धि ग्राह्य सिद्ध करने का अवसर आता है तो वैज्ञानिक इसके लिये प्रमाणों को उपस्थित करता है। ये प्रमाण सत्य होने के लिये 'विचार-विज्ञान' के नियमों से बँधे हुए होने चाहिये। इस लिये प्रत्येक विज्ञान को विचार-विज्ञान के नियम मान्य हैं। इन नियमों का उल्लंघन करने से असत्य और अप्रामाणिक ज्ञान ही प्राप्त होगा। इस कारण से विचार-विज्ञान विज्ञानों का विज्ञान कहलाता है।

प्रत्येक विज्ञान 'विचारों' का प्रयोग करता है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रत्येक कलाकार या कवि रंगों या शब्दों का प्रयोग करता है। विज्ञानवेत्ता 'विचारों' द्वारा सत्य ज्ञान का आविष्कार करना चाहता है, चित्रकार 'रंगों' के माध्यम से सुन्दर चित्र की सृष्टि करने का इच्छुक है। परन्तु जिस प्रकार चित्रकार चित्र बनाने में रंगों के सौन्दर्य-सिद्धान्तों से बँधा हुआ है उसी प्रकार विज्ञान-

वेत्ता भी विचारों में प्रामाणिकता के नियमों को मानने के लिये बाध्य है। विचारों का मूल्यांकन, उनके सत्यासत्य की समालोचना करना, यही विचार-विज्ञान की विशेषता है।

(ङ) गवेषणा : वैज्ञानिक एक प्राकृतिक घटना के नियम की गवेषणा करता है। 'नियम' की गवेषणा कठिन काम है, क्योंकि जिस प्रकार हम एक घटना का प्रत्यक्ष निरीक्षण कर सकते हैं, उसी प्रकार उसके 'नियम' का प्रत्यक्ष अनुभव हमें नहीं होता। हम वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में बादलों का, उनकी दिशा आदि का साक्षात् अनुभव करते हैं। मद्रास प्रान्त में इस ऋतु में वर्षा नहीं होती; राजपूताना अधिकतर सूखा रहता है। किसी स्थान पर वर्ष भर वर्षा होती रहती है और कोई स्थान बिल्कुल सूखा रहता है। ये सब हमारे आंखों देखे अनुभव हैं। परन्तु यह सब किन नियमों के अनुसार होता है, यह हमें प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता। इस दशा में नियमों की गवेषणा के लिये हम 'विचार' करने को बाध्य होते हैं। परन्तु 'विचार' करने के लिये सामग्री चाहिये। विचार शून्य में नहीं होता। विचार किसी 'वस्तु' के ऊपर ही किसी प्रश्न को सुलझाने के लिये किया जाता है। सामग्री और उपयुक्त सामग्री को एकत्र करने के लिये हम अनेकों सम्बद्ध घटनाओं का निरीक्षण करते हैं। निरीक्षण भी सरल काम नहीं। वैज्ञानिक निरीक्षण और प्रयोग भी नियमों के अनुसार ही हो सकते हैं। यदि हमारी सामग्री उपयुक्त और त्रुटियों से रहित है तो हमारा 'नियम' भी जो इसी सामग्री पर विचार करने से प्राप्त होगा, ठीक मिल सकेगा। वर्षा के नियमों का पता लगाने के लिये हमें सूर्य की स्थिति, पृथ्वी की गति, तापक्रम का वायु, पृथ्वी आदि पदार्थों पर प्रभाव, जल से भाप और भाप से पानी बनना, वायु की दिशा, पर्वतों का सम्पर्क आदि कितने ही पदार्थ हैं जिनका निश्चित और त्रुटि रहित निरीक्षण और प्रयोग आवश्यक है। कहीं-कहीं तो निरीक्षण बहुत ही कठिन हो जाता है। जैसे वायु-दुर्घटना में वायुयान का टूटना। इस दशा में निरीक्षक के लिये न तो दुर्घटना के समय की सारी परिस्थितियाँ मौजूद है, न कोई व्यक्ति जीवित है। वह बड़े कौशल के साथ टूटे जहाज के भागों, दुर्घटना के स्थान, ऋतु सम्बन्धी कुछ ज्ञात बातों के सहारे ही अपने निरीक्षण को समाप्त कर 'कारण' की गवेषणा करता है। किसी नियम की

खोज के लिये सामग्री का निरीक्षण आदि इतना महत्त्वपूर्ण है कि विचार-विज्ञान इसके विषय में नियमों की रचना करता है।

केवल सामग्री का इकट्ठा करना पर्याप्त नहीं। इसके आधार पर नियमों की खोज के लिये इसका संगठन, विश्लेषण, संकलन, असम्बद्ध सामग्री का निराकरण आवश्यक है और फिर जो सामग्री शेष रहे, उसको फिर से इस प्रकार सम्बद्ध किया जाय कि नियम स्पष्ट समझ में आने लगे। बहुत बार तो वैज्ञानिक को वर्षों का समय 'सामग्री' एकत्र करने और उसके ठीक-ठीक संगठन, विश्लेषण और संश्लेषण में लग जाता है। आज हम अनेकों ऐसे नियमों से परिचित हैं जिनके लिये अनेक कुशल वैज्ञानिकों ने वर्षों कठिन काम करके इनके समझाने के लिये उपयुक्त सामग्री को इकट्ठा किया; तदनन्तर 'कल्पना' के बल से नियम को खोज निकाला। परन्तु वैज्ञानिक 'कल्पना' करने के लिये भी स्वतन्त्र नहीं। एक ओर तो नियम की कल्पना के लिये उसे सामग्री का आधार चाहिए, दूसरे वह अपनी कल्पना से विचार के नियमों और अन्य प्रमाणित नियमों को भंग नहीं कर सकता। भारतवर्ष में वर्षा के नियमों का पता लगाने के लिये वैज्ञानिक कल्पना का सहारा अवश्य लेता है, परन्तु यहाँ ऋतुओं की दशा, और भौगोलिक परिस्थितियों को उसे दृष्टि में रखना होगा। विचार-विज्ञान 'वैज्ञानिक-कल्पना' के लिये भी नियम बनाता है।

गवेषणा सफल वही है जिससे 'कल्पित नियम' प्रमाणों से सिद्ध भी हो जाये। किसी खोज के फलों को प्रमाणित करने के लिये भी निश्चित नियम होते हैं। कोई डाक्टर क्षय, ज्वर आदि रोगों के कारणों और उनकी चिकित्साओं का आविष्कार करता है। इसी प्रकार विज्ञान की अनेकों शाखाओं में नित्य-प्रति गवेषणायें होती हैं। उन्हें स्वीकर करने से पूर्व 'प्रमाणों की कसौटी' पर चढ़ना होता है। ये प्रमाण की कसौटियाँ क्या हैं, इनका क्या स्वरूप हैं, इत्यादि महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों का उत्तर भी विचार-विज्ञान की मुख्य समस्या है।

गवेषणा अनेक प्रकार से की जाती है। प्रत्येक विज्ञान अपनी विशेष सामग्री के अनुसार 'गवेषणा' के प्रकार में थोड़ा परिवर्त्तन करता है। इधर खोज का काम 'पुलिस' को भी करना होता है। अर्थ-शास्त्र में अनेक अर्थ सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर पाने के लिये एक विशेष प्रकार की खोज रहती है। इतिहासकार की

वस्तु औरों से कुछ भिन्न होती है। वह बीती घटनाओं का निरीक्षण नहीं कर सकता। इस भाँति, गवेषणा-कार्य भिन्न-भिन्न वस्तु होने के कारण भिन्न रूपों में पाया जाता है। विचार-विज्ञान के लिये इन सब प्रकारों के नियमों का अध्ययन आवश्यक है।

(च) सत्य का स्वरूप : वस्तुतः यह प्रश्न दर्शन-शास्त्र का है। हमारा सम्बन्ध इस प्रश्न से इसलिये है कि प्रमाणों की सत्यता का निर्णय बिना सत्य के स्वरूप को समझे नहीं हो सकता। परन्तु सत्य के विषय में दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद है। हमें इस मतभेद से कोई काम नहीं। केवल व्याव-हारिक दृष्टि से और विचार की सत्यता के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही विचार हमें यहाँ पर्याप्त है। गवेषणा के नियम, प्रामाणिकता के सिद्धान्त, तथा युक्तियों को बुद्धि से ग्रहण करने में, हम सत्य के स्वरूप को नहीं त्याग सकते। इसलिये हमारे सारे नियम और विचार के सभी सिद्धान्त 'सत्य के स्वरूप' के अनुकूल होने चाहिये।

यहाँ इस विषय पर निदर्शन के लिये थोड़ा विचार करेंगे। किसी 'विचार' के सत्य होने के लिये यह 'आवश्यक' है कि वह अन्य सत्य और स्वीकृत 'विचारों' के अनुकूल हो। मनुष्य की बुद्धि अनेक परस्पर प्रतिकूल विचारों को एक साथ सत्य रूप से ग्रहण नहीं कर सकती। यदि कहें कि "अग्नि शीतल होती है" और साथ ही "अग्नि उष्ण भी होती है" तो हम इसे सत्य नहीं मान सकते। बुद्धि स्थित पदार्थों को समझने में समर्थ है। यदि एक पदार्थ बिना 'स्वभाव' है तो वह सदैव परिवर्तित होता रहेगा और हम उसको समझ ही न सकेंगे। समझने के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु अपने 'स्वभाव' वाली रहे जिससे वह विचलित न हो, उसके स्वाभाविक गुणों में अकस्मात् परिवर्त्तन न हो जिससे उस वस्तु के स्वभाव के आधार पर हम नियम बना सकें। अनेक वस्तुओं के नियम हमें साधारण रूप से मालूम हैं। आधुनिक विज्ञान तथा भिन्न-भिन्न अध्ययनों ने और भी बहुत से नियमों का पता लगाया है। यदि आज किसी नये 'नियम' का आविष्कार करें तो वह नियम दूसरे समझे हुए स्वीकृत नियमों के अनुकूल होना चाहिये। यहाँ हम कह सकते हैं कि नियमों की पारस्परिक अनुकूलता सत्य की एक कसौटी है।

मनुष्य के अनुभव विविध और विचित्र होते हैं, परन्तु वह परस्पर-विरुद्ध नहीं हो सकते। हमारे अनुभव के प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, कल्पना, विचार, भावना, इच्छा, संकल्प आदि मुख्य अंग हैं। विचार के लिये हम प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा सामग्री एकत्र करते हैं, कल्पना की सहायता से उस सामग्री में 'नियम' का आविष्कार करते हैं। स्मृति उस सामग्री को एक सूत्र में बँधा हुआ रखती है। विचार से भावना उत्पन्न होती है। विचार को इच्छा और संकल्प से शक्ति प्राप्त होती है। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण अनुभव विविध होते हुए भी 'एकता' में ग्रथित है; उसमें आन्तरिक विरोध सम्भव नहीं। जब कभी विचार, भावना तथा इच्छा आदि में विरोध उत्पन्न होता है तो इससे मानसिक क्लेश का अनुभव होता है। शान्ति के लिये आवश्यक है कि जीवन के सभी अंगों में सामञ्जस्य हो। विचार स्वतंत्र होकर प्रत्यक्ष, स्मृति और कल्पना के विपरीत किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकता। वर्त्तमान विज्ञान जीवन के दूसरे अंगों का विरोध कर ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचा है जिन्हें हम पूर्ण रूप से सत्य नहीं मान सकते। इस विषय पर आगे विचार किया जायगा। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि जीवन के सारे अनुभवों में आन्तरिक सामञ्जस्य अनिवार्य है। सामञ्जस्य ही सत्य का स्वरूप है।

इस सिद्धान्त के आधार पर नवीन विचार-विज्ञान ने सत्य की परीक्षा के लिये कई कसौटियाँ बनाई हैं। जैसे, विचार और प्रत्यक्ष अनुभव किस प्रकार सामञ्जस्य युक्त हों; कल्पना और स्मृति का किस प्रकार विचार से विरोध न हो। विचार किस प्रकार ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचे जो हमारे भावना-जीवन की अनुभूतियों का विरोध न करें। अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिये विचार की प्रगति किन नियमों के अनुसार होनी चाहिये। इन प्रश्नों को लेकर अलग-अलग प्रकार से विचारों की सत्यता की परीक्षा की जा सकती है। इन्हीं के आधार पर विचार-विज्ञान में अनेक मत-वाद पैदा हो गये हैं।

सारांश

इस अध्याय में हमने विचार-विज्ञान की मुख्य समस्याओं का दिग्दर्शन किया है जिससे हमारे अध्ययम का विस्तार और दिशाएँ स्पष्ट हो जायें।

हमारे विज्ञान की सीमायें कई दूसरे विज्ञानों की सीमाओं से मिलती हैं। विचार एक मानसिक क्रिया होने के कारण मनो-विज्ञान का भी विषय है। परन्तु मनो-विज्ञान सारी मानसिक घटनाओं का निरीक्षण कर उनके स्वरूप और नियमों का पता लगाता है। उसका दृष्टि-कोण केवल इनके स्वाभाविक नियमों की खोज करना है, केवल विचारों में सत्यासत्य का विवेचन करना इसका काम नहीं। इस प्रकार यद्यपि मनोविज्ञान का विस्तार विचार-विज्ञान की अपेक्षा विस्तृत है, तथापि विचार-विज्ञान जिन सत्य के नियमों की खोज करता है; वे नियम मनो-विज्ञान ही नहीं, सभी विज्ञानों को मान्य होंगे; यहाँ तक कि विचार-विज्ञान स्वयं अपने नियमों को भंग नहीं कर सकता। इसके नियम विधायक हैं क्योंकि प्रत्येक विज्ञान का लक्ष्य 'सत्य' निर्णयों की खोज है। प्रमाणित और सत्य ज्ञान के लिये विचार-विज्ञान के नियमों का पालन अनिवार्य है। इस लिये यह सब के लिये मान्य नियमों का विधान करता है।

दूसरे विज्ञानों से हमारा और भी सम्बन्ध है। विचार-विज्ञान इन्हीं से अपनी विचार-सामग्री प्राप्त करता है; विचार के भिन्न-भिन्न स्वरूपों और आकारों की खोज, उनमें सत्यता के नियमों का आविष्कार आदि इसी सामग्री के आधार पर करता है। यद्यपि इन विज्ञानों की वस्तु और विषय से हमारा विशेष सम्बन्ध नहीं, परन्तु इनकी विचार-शैलियाँ, गवेषणा-विधि और प्रमाणों के आकार का अध्ययन और इनके नियमों की रचना करना हमारा काम है। ये हमारी मुख्य समस्यायें हैं।

दर्शनशास्त्र से भी हमारा सम्बन्ध है, सत्य का स्वरूप जानने के लिये। परन्तु दर्शन-शास्त्र व्यवहार के बन्धनों से अपने को स्वतंत्र रखता है। वह केवल विचार के बल से जीवन की मौलिक समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करता है। जैसे सत्य, सौन्दर्य, आनन्द, कल्याण आदि क्या पदार्थ हैं, मनुष्य के जीवन में इनका क्या स्थान है। हमारे विचार की क्या सीमायें हैं, क्या हम बुद्धि के द्वारा 'वस्तु' को समझ सकते हैं अथवा नहीं? इत्यादि ऐसे प्रश्न हैं जिन पर दर्शनशास्त्र विचार करता है। विचार-विज्ञान इनमें से केवल 'सत्य' के प्रश्न को लेकर व्यवहार के योग्य साधारण नियमों की रचना करता है जैसे, हम किस

कार विचार करें, गवेषणा करें, अथवा तर्क या युक्ति बनावें जिससे हमारे निर्णय सत्य हो सकें।

विशेष

(१)

विचार-विज्ञान का पाश्चात्य नाम 'लौजिक' है। इसका अनुवाद 'तर्क-शास्त्र' अथवा 'न्याय-शास्त्र' भी किया गया है। 'तर्क' शब्द का अर्थ बहुत संकुचित और कुछ व्यर्थ विवाद की भावना से सम्बद्ध-सा प्रतीत होता है। 'न्याय' का अर्थ प्रमाण अथवा युक्ति है। केवल 'न्याय' का अध्ययन करने वाले शास्त्र को न्याय-शास्त्र कहना उचित होगा। परन्तु 'न्याय' से पूर्व पद, वाक्य आदि आवश्यक हैं। 'लौजिक' के अध्ययन में तो न केवल पद, वाक्य, प्रमाण आदि का अध्ययन ही होता है, अपितु विचार की अमान्य क्रियाएँ और सहायक विधियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। पद, वाक्य आदि का अध्ययन वस्तुतः 'लौजिक' के लिये गौण है। केवल इनके अध्ययन पर भार देने से इसमें विचार के स्थान पर भाषा पर अधिक बल दिया जाता है—यह बात भ्रान्ति-पूर्ण है। पाश्चात्य देशों में 'लौजिक' के दो आधुनिक स्वरूप विदित होते हैं। पहला, विचार-क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन, विचार का विश्लेषण, स्वरूप आदि समस्याओं का स्पष्टीकरण। इस रूप में 'लौजिक' 'विज्ञानों का विज्ञान' माना जाता है। यह हमारे वैज्ञानिक जीवन के लिये उपयोगी है। दूसरा, विचारों से सत्य की उत्पत्ति और सिद्धि को दार्शनिक दृष्टि-कोण से समझना। 'लौजिक' का यह स्वरूप इसको दर्शन-शास्त्र के निकट ले जाता है। ये दोनों रूप अरस्तू की 'लौजिक' की दो धाराएँ हैं।

हमने 'विचार-विज्ञान' नाम देकर लौजिक को 'प्रमाण-शास्त्र' या 'न्याय-शास्त्र' से अधिक विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया है। इसमें उपर्युक्त दोनों धाराओं को मिलाकर प्रारम्भिक अध्ययन के लिये विचार सम्बन्धी वैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं का सुलझाव उपस्थित किया गया है। 'विचार' का यहाँ हमने व्यापक अर्थ लिया है। बुद्धि की उस प्रत्येक चेष्टा का नाम 'विचार है, जिससे हम किसी 'सत्य' अथवा 'सामान्य-नियम की गवेषणा और स्थापना

करते हैं। विचार-विज्ञान विचार की अनेक क्रियाओं और तत्सम्बन्धी समस्याओं पर वैज्ञानिक रीति से विचार करता है।

(२)

पाश्चात्य 'लौजिक' की रूढ़ि के अनुसार इसके दो भाग होते है—१ इन्डक्शन २. डिडक्शन। उसी रूढ़ि के अनुसार पहले डिडक्शन और फिर इन्डक्शन का अध्ययन किया जाता है। यदि हम केवल परम्परा-वादी नहीं हैं तो देख सकते हैं कि यह विभाजन आवश्यक नहीं है। वस्तुतः ये विचार की दो परस्पराश्रित क्रियाएँ हैं, जिनका पृथक् करना भ्रामक है। हमने इस विज्ञान के दो मुख्य भाग किये हैं—१. सत्य का अन्वेषण २. सत्य की स्थापना। वस्तुतः सत्य के अन्वेषण में मुख्यतया 'इन्डक्शन' विचार-प्रणाली का प्रयोग होता है। पाश्चात्य 'इन्डक्शन' में जहाँ 'प्रमाण' का प्रश्न उठता है, वहीं हमारी विचार-क्रिया 'डिडक्शन' के रूप में परिवर्त्तित हो जाती है। वही बात 'प्रमाणित' मानी जाती है, जो सत्य, स्वीकृत, सामान्य सिद्धांतों से 'मेल' खाती हो। इस 'मेल' को विज्ञान की भाषा में 'संगति' कहते हैं। संगति के स्वरूप और सिद्धान्तों का अध्ययन 'डिडक्शन' में किया जाता है। अतएव जब हम 'इन्डक्शन' द्वारा की गई गवेषणा को प्रमाणित करना चाहते हैं, तो अवश्य ही डिडक्शन के सिद्धान्तों का प्रयोग करते हैं। अतः डिडक्शन और इन्डक्शन का परम्परा-गत विभाग उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इसके स्थान पर 'अन्वेषण' और 'परीक्षण' को लाने में कोई आपत्ति नहीं होती।

———

विचार के मूल-सिद्धान्त

मूल-सिद्धान्त

मूल-सिद्धांत एक वह 'सत्य' है, जिसे हम बिना तर्क अथवा युक्ति के स्वीकार कर लेते हैं। यह सत्य असाधारण होता है क्योंकि बुद्धि साधारणतया किसी बात को ग्रहण करने से पहले उस पर विचार करती है और उसे युक्ति-युक्त बनाती है; परन्तु मूल-सिद्धांत के विषय में ऐसा नहीं होता। इसका कारण यह है कि बुद्धि इन सत्यों को पहले स्वीकार किये बिना विचार कर ही नहीं सकती। इनको अस्वीकार करने से विचार की सत्ता असम्भव है, इसलिये ये विचार-क्रिया के आधार हैं। विचार अपने आधारों पर स्वयं विचार करने में असमर्थ होने के कारण इनको ग्रहण करने के लिये बाध्य है। इस विवशता के कारण किसी सत्य को स्वीकार करना मूल-सिद्धांत का पहला लक्षण है।

मूल-सिद्धांत इसीलिये अकाट्य होता है। हम उसका खंडन कैसे कर सकते हैं जब कि उस पर विचार करने से पूर्व ही हम उसे स्वीकार करने को विवश हैं? विचार या तर्क द्वारा हम विचार के आधारभूत सत्य का निराकरण नहीं कर सकते। यदि उसकी सत्यता के विषय में हमें संशय अथवा सन्देह है तो केवल एक उपाय इसको दूर करने का है। वह यह कि इसको अस्वीकार करके देखिये। ऐसा करने से सारा उपार्जित ज्ञान और ज्ञान को उपार्जन करने के समस्त साधन, बुद्धि की सारी क्रियायें तथा युक्तियों की गति, एक दम निर्मूल वृक्ष की भाँति गिर पड़ेंगे। इसीलिये इन मूल-सिद्धांतों का खण्डन असम्भव है। इसीलिये बिना प्रमाण के भी ये सिद्धांत अकाट्य और असंदिग्ध सत्य मान लिये जाते हैं।

विचार की यह विवशता किसी दूर के बाहरी कारणों से नहीं है। विचार स्वयं स्वतंत्र क्रिया है, वह किसी दबाव से आतङ्कित होकर किसी सत्य को स्वीकार नहीं करती। प्रेम का माधुर्य और द्वेष की कटुता, दण्ड का भय अथवा लाभ का लोभ, ये सब विचार के सत्य अथवा असत्य निर्णय करने में अपने बन्धन में

नहीं बाँध सकते। सभ्यता के विकास के साथ ही बुद्धि भी निर्भय और स्वतंत्र होती गई है। परन्तु वही विचार-क्रिया मूल-सिद्धांतों के सत्य को ग्रहण करने के लिये विवश है। वस्तुतः ये सिद्धांत बुद्धि की स्वाभाविक सीमायें हैं जिन्हें वह पार नहीं कर सकती। यदि अग्नि उष्ण है और जल शीतल, तो ये इनके स्वभाव हैं। अपने स्वाभाविक गुणों अथवा सीमाओं को स्वीकार करना भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार बुद्धि भी वस्तुओं का ज्ञान-सम्पादन करने के लिये एक प्राकृतिक यन्त्र है। उसकी क्रिया का एक विशेष प्रकार है। वह अपने स्वाभाविक गुणों से नियमित होकर ही काम करती है। ये मूल-सिद्धान्त जिन को वह स्वीकार करती है, वास्तव में बुद्धि या विचार-क्रिया के स्वभाव से प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार अग्नि अपनी स्वाभाविक उष्णता को अस्वीकार नहीं कर सकती, उसी प्रकार बुद्धि भी इन सिद्धान्तों को अपने स्वाभाविक गुण होने के कारण स्वीकार करने के लिये विवश है।

मूल-सिद्धान्त सार्वभौम और सनातन सत्य को व्यक्त करता है। जहाँ कहीं, जब कभी, मनुष्य 'वस्तु' के स्वरूप को समझने के लिये विचार-क्रिया से काम लेगा, वहीं वह इन सिद्धान्तों का पालन करेगा। प्रत्येक विज्ञान भिन्न होने पर भी, जहाँ तक विचार से काम लेता है, इनको मानता है। आस्तिक और नास्तिक, साधारण अथवा असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति, समालोचक अथवा अन्वेपक, जहाँ कहीं जो कोई मनुष्य समझने या समझाने का प्रयत्न करता है, वह विचार क्रिया का आश्रय लेते समय निश्चय ही, जाने अथवा अनजाने, इन मूल सत्यों को स्वीकार करता है। ये मूल-नियम ही हमारे विचारों की सत्यता और असत्यता का निर्णय करने में सहायक होते हैं।

यदि ये सिद्धान्त विचार की उपज नहीं तो कहाँ से हमें प्राप्त होते हैं? एक मत के अनुसार 'अनुभव' ही सारे ज्ञान का मूल स्रोत है और अनुभव भी साधारण। परन्तु किसी विशेष घटना का अनुभव ही हमें होता है जो किसी समय, किसी स्थान और कुछ परिस्थितियों में घटित होती है। हम जलती हुई अग्नि या बरसते हुए जल का अपनी आँखों से अनुभव कर सकते हैं, परंतु किन सिद्धान्तों के अनुसार अग्नि जला करती है और पानी बरसता है, इन सामान्य सिद्धान्तों का साक्षात् अनुभव हमें नहीं होता। वस्तुतः 'सामान्य' नाम की वस्तु,

इस मत के अनुसार कोई अनुभव की वस्तु नहीं, इसीलिये यह 'अवास्तविक' है। केवल 'विशेष' घटनाओं का अनुभव होने के कारण, विशेष ज्ञान ही सत्य है। अनेकों विशेष घटनाओं को देखकर उनमें समानता के आधार पर हम सामान्य की कल्पना कर लेते हैं, जैसे अनेक समान आकार वाली वस्तुओं को देखकर हम अलग-अलग होने पर भी उन्हें एक ही 'नाम' जैसे गाय, फूल, आदि से पुकारने लगते हैं। अतः 'सामान्य' किसी वस्तु का नाम नहीं, केवल अनेकों पदार्थों के एक 'नाम' का नाम है।

इस मत के अनुसार यदि 'सामान्य' केवल एक काल्पनिक नाम है तो सार्वभौम और सनातन विचार के सिद्धान्त भी केवल काल्पनिक हैं। अनेकों विचार और अनुभवों के द्वारा ही हम इनका पता लगाते हैं। बहुत से मनुष्यों का अनुभव समान होने के कारण ही हम इन्हें सत्य मानने लगते हैं, वरन् कोई विवशता नहीं। यह मत 'अनुभव' की संकुचित परिभाषा करता है। इसीलिये सामान्य नियमों का प्रत्यक्ष अनुभव न होने के कारण वह इन्हें असत्य मानता है। वास्तव में हमारा अनुभव केवल प्रत्यक्ष तक ही सीमित नहीं। कल्पना, स्मृति, विचार, भावना आदि भी उसी प्रकार विश्वसनीय अनुभव के रूप हैं जैसे प्रत्यक्ष अनुभव। हम 'विचार के द्वारा' सामान्य का अनुभव कर सकते हैं। इसलिये ये सिद्धान्त भी वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। परन्तु यहाँ हमें दो भिन्न मार्ग दिखाई पड़ते हैं। 'वास्तविक' का क्या अर्थ है? एक तो यह कि ये सिद्धान्त बुद्धि के स्वाभाविक गुण अथवा नियम हैं। इनके द्वारा बुद्धि विचार करती है और अपने चारों ओर के विश्व को वैज्ञानिक रीति से समझने का प्रयत्न करती है। इन नियमों के अनुसार चलकर, बुद्धि जिस ज्ञान का संचय करती है, वह ज्ञान वस्तु का ज्ञान नहीं, परन्तु बुद्धि का स्वयं अनुभव है। उदाहरण स्वरूप यदि मैं कहूँ कि अग्नि-ताप के कारण किसी भी पदार्थ का परिमाण बढ़ जाता है, जैसे, उबलने पर पानी का या तपाने से लोहे या पारे का, तो यह सामान्य ज्ञान वस्तुतः अग्नि, पानी, पारे आदि के वास्तविक स्वभाव का ज्ञान नहीं है। हम नहीं जानते कि ये पदार्थ वस्तुतः इन नियमों से बँधे हैं या नहीं। परंतु हम यह मानने को विवश हैं कि यदि ये पदार्थ इन नियमों से नहीं बँधे तो हम इनको नहीं समझ सकते। हमारी समझ के लिये आवश्यक है कि हम इन

अनेक वस्तुओं को नियमों से बँधा हुआ मान लें। वस्तुतः ये बँधे हैं या नहीं, यह हम अपने अनुभव से नहीं कह सकते। इन नियमों को मान लेना हमारी समझ की ही एक विवशता अथवा सीमा है।

यह दूसरा मत है जिसके अनुसार सारे नियम बुद्धि की आवश्यकताओं और सीमाओं से उत्पन्न होते हैं। बुद्धि कार्य कर सके, इसलिये हम इन नियमों को मानने को विवश हैं। ये केवल काल्पनिक नहीं जैसा कि पहला मत ऊपर कहे अनुसार था। वस्तुतः यह दूसरा मत ही हमें मान्य होना चाहिये जैसा कि हमने ऊपर कहा है। ये नियम बुद्धि के लिये वास्तविक हैं। वस्तु स्वयं भी इन सामान्य नियमों का पालन करती है, यह कहना हमारे लिये कठिन है। बुद्धि में स्वयं मानसिक प्रत्यक्ष करने की शक्ति है; वह एक अंत-द्दष्टि है जिसके द्वारा वह 'सामान्य' का भी प्रत्यक्ष उसी प्रकार कर सकती है जिस प्रकार हम आँखों से फूल के रंग और आकार का अनुभव करते हैं। हमारे मूल-सिद्धांत भी इस अंत-द्दष्टि की उपज हैं। इसे हम स्वसंवित् या स्वसंवेदन भी कह सकते हैं। यही हमें इन सिद्धांतों के सत्य का दिग्दर्शन बिना बुद्धि या विचार की सहायता से कराने में समर्थ होती है।

तीसरे मत के अनुसार "अग्नि उष्ण है" यह सामान्य ज्ञान न केवल बुद्धि की आवश्यकता के कारण है, क्योंकि बिना इसको माने हुए हम 'अग्नि' को समझ ही न पावेंगे, बल्कि यह सामान्य नियम अग्नि का स्वयं स्वभाव भी है। इसी प्रकार सारे सामान्य नियम भी वस्तुओं के स्वाभाविक गुणों के कारण ही होते हैं, न केवल बुद्धि अपनी विवशता के कारण इन नियमों को मानने के लिये बाध्य होती है। इस मत के अनुसार विचार के मूल सिद्धांत न केवल विचार के ही मूल सिद्धांत हैं जिनको बुद्धि, अपने स्वभाव के कारण, मानने को विवश है, परंतु साथ ही ये सृष्टि की रचना और वस्तुओं के स्वभाव के नियम भी हैं। अग्नि स्वयं भी उष्ण स्वभाव वाली है। बुद्धि भी उसके स्वभाव को इसी कारण सामान्य नियम के द्वारा समझने में समर्थ होती है। यह एक दार्शनिक मत है जो विवाद-ग्रस्त है। विचार-विज्ञान के अध्ययन के लिये हम इस समय इस सिद्धांत को न मानें तो कोई हानि नहीं।

विचार के द्वारा हम अपने विविध और अनंत अनुभवों को संगठित करना

चाहते हैं। विभिन्न विज्ञान और शास्त्र, दर्शन, तथा कला मानव-अनुभव के विशेष संगठन हैं। हम जिसे अर्थ-विज्ञान कहते हैं, वह हमारे आर्थिक अनुभवों का संचय है। इसी प्रकार राजनीति राजनैतिक, मनोविज्ञान मानसिक और रसायन शास्त्र रासायनिक अनुभवों का संग्रह है। हम इन अनुभवों को एक विशेष रूप-रेखा देने के लिये विशेष प्रकार से चयन करते हैं, इनको भिन्न भागों और वर्गों में रखते हैं। प्रत्येक भाग में निरीक्षण के द्वारा अनेक वस्तुओं को एकत्र करते हैं और इस सामग्री की परीक्षा द्वारा इन वस्तुओं के सामान्य नियमों का आविष्कार करते हैं। ज्ञान का यह संगठन अथवा रचना विचार के द्वारा ही होता है—इस संगठन के सामान्य नियम हैं। विचारों और युक्तियों के द्वारा हम सत्य और असत्य का निर्णय करते हैं। इस भाँति ज्ञान के आविष्कार, संगठन, परीक्षण आदि के लिये विचार के सामान्य नियम हैं। परंतु विचार के ये नियम स्वयं बुद्धि की स्वाभाविक सीमाओं को पार नहीं कर सकते। इसलिये विचार के मूल-सिद्धांत ही ज्ञान के आधार हैं। इन्हीं के अनुकूल चल कर विचार-क्रिया ज्ञान का उपार्जन, संगठन और परीक्षण कर पाती है, यद्यपि इनको सिद्ध नहीं कर पाती।

यहाँ हम इस मत को मानने के लिये बाध्य नहीं कि सारे विश्व की रचना और विकास भी बुद्धि या विचार के मूल-सिद्धांतों के अनुसार ही होता है। मनुष्य में केवल बुद्धि ही नहीं है, उसमें भावना, इच्छा आदि भी हैं। जिस प्रकार वह बुद्धि के द्वारा समझने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार वह भावना के बल से सौंदर्य, माधुर्य और आनंद की कल्पना भी करता है और अपनी इच्छाओं से प्रेरित होकर नवीन सृष्टि, संस्कृति, धर्म, नीति, समाज-व्यवस्था और सभ्यता का विकास करता है। इसलिये भावना और इच्छा के क्षेत्रों में विचार के नियमों की अवहेलना भी हो तो कोई हानि नहीं। वस्तुतः विचार भावना को सबल और शुद्ध तथा 'इच्छा' को सफल बनाने में सहायक होता है। परंतु जब कभी विचार स्वतंत्र न रह कर इनके अधीन हो जाता है तो, इतिहास साक्षी है, भावना निर्बल और अंधी हो जाती है और इच्छा निष्फल रह जाती है। साथ ही, विचार जीवन के दूसरे अंगों की अवहेलना नहीं कर सकता, जैसे कि हमारे इस युग में हुआ है। ऐसा करने से हमारी दृष्टि संकुचित होती

है। यथार्थ में बुद्धि एक दृष्टिकोण है, जिसका सम्पूर्ण जीवन में उचित स्थान है। बुद्धि के द्वारा हम वस्तुओं के स्वरूप, गुण और नियमों को समझते हैं। परंतु बुद्धि विचार-क्रिया में अपनी ही स्वाभाविक सीमाओं से बँधी है। ये सीमायें ही विचार के मूल-सिद्धांतों का मूल उद्गम हैं।

प्रकृति में एकता का सिद्धान्त

प्रकृति विशाल और विचित्र होते हुए भी एक है। वह अनेक विभिन्न वस्तुओं का ढेर या समुदाय नहीं, परन्तु एक ऐसा पूर्ण 'समग्र' है जिसमें सारे पदार्थ अंग अथवा अवयव की भाँति सम्मिलित हैं। प्रत्येक अंग स्वयं पूर्ण होते हुए भी समग्र अंगी के आधीन है। एक अंग का दूसरे के साथ निश्चित संबंध है। 'समग्र' प्रकृति में प्रत्येक पदार्थ अपना स्थान, नियम, कारण और नियत संबंध रखता है, जिससे एक के न रहने से 'समग्र' भी न रहेगा। प्रकृति की एकता का निकटतम उदाहरण हमारा शरीर ही है। शरीर में अनेक पदार्थ और भिन्न-भिन्न अंग हैं। प्रत्येक भाग जैसे हृदय, मस्तिष्क, प्लीहा रुधिर-प्रणाली, पाचन यंत्र, श्वास यंत्र आदि, अपने-अपने नियम के अनुसार व्यवहार करते हैं। प्रत्येक भाग एक संगठित संस्थान है; परन्तु सब मिलकर भी वे एक ही रहते हैं। इसी प्रकार प्रकृति में वायु मंडल, वनस्पति, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, जीवधारी, धरातल, खनिज आदि अनेक पदार्थ हैं। प्रत्येक वस्तु का अपना अलग संसार है, और प्रत्येक वस्तु अपने संसार में अपने नियमों के अनुसार व्यवहार करती है। परन्तु एक दूसरे का घनिष्ट संबंध है। वायु की गति पर पृथ्वी के धरातल, उसकी गति, तापक्रम, समुद्र आदि का निश्चित प्रभाव पड़ता है। वायु की गति से वर्षा, वर्षा से वनस्पति तथा जीवधारी। इन्हीं का संबंध मनुष्य के इतिहास, राजनीति आर्थिक और सामाजिक जीवन से है। इस प्रकार प्रत्येक भाग एक संगठित समुदाय का अंग है, जिसके कारण अनेक होते हुए भी सारे पदार्थ एकता के सूत्र में बँधे हुए हैं।

प्रकृति का यह संगठित स्वरूप विज्ञान अथवा विचार की परम आवश्यकता है। यदि यहाँ प्रत्येक वस्तु एक दूसरे से भिन्न और पृथक् होती, यदि एक का दूसरे के साथ कोई निश्चित संबंध न होता, तो हम किसी भी पदार्थ का वास्त-

विक स्वरूप समझने में असमर्थ होते। उदाहरण स्वरूप जल स्वयं क्या है ? हमारे लिये बताना कठिन है। परन्तु विद्युत् के प्रभाव से जल दो गैसों में विभक्त हो जाता है। इन (आक्सीजन और हाइड्रोजन) गैसों के विशेष सम्मिलन से किसी तापक्रम पर जल बन जाता है। उस तापक्रम के अधिक हो जाने पर जल का रूपान्तर भाप में, ताप क्रम कम होने से बर्फ में परिवर्तन हो जाता है। जल में भार है परन्तु तापक्रमादि के विशेष प्रभावों के कारण वह हल्का होकर हवा में उड़ सकता है। पर्वतों का संपर्क पाकर वह बरस सकता है; नदियों और नहरों में बहकर विद्युत् उत्पन्न कर सकता है; वनस्पति, खेती आदि की उत्पत्ति में सहायता दे सकता है। जीवधारी इसी से अपनी प्यास बुझाते हैं। इसी के कारण मरुस्थल और हरियाले मैदान बनते हैं। मनुष्य की सभ्यता, संस्कृति और इतिहास भी इसी जल के फल हैं।

यहाँ हम 'जल' का स्वरूप तभी स्थिर कर पाते हैं जब इसका संबंध दूसरे अनेक पदार्थों से समझ जाते हैं। किसी वस्तु के स्वरूप को समझने का अर्थ ही यह है कि हम इसके संबंध की दूसरों के साथ गवेषणा करें। किसी वस्तु के स्वरूप पर विचार करना उसके अनेक संबंधों का पता लगाना है। वस्तुतः कोई वस्तु अलग है ही नहीं। राजनीति में किसी विषय को लीजिये। उदाहरण के लिये, शान्ति का प्रश्न। इसको समझने के लिये अशान्ति के कारणों को समझना चाहिये, परन्तु अशान्ति के कारण केवल राजनैतिक ही नहीं है, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और भौगोलिक कारण भी हैं। इन कारणों के भी आगे कारण हैं—पिछला इतिहास, सभ्यता का विकास, प्रकृति की देन आदि। इस प्रकार किसी भी समस्या को सुलझाने के लिये अनेक वस्तुओं के पारस्परिक निश्चित संबंध की खोज करना आवश्यक होता है जिसका अर्थ है कि प्रकृति की सारी घटनायें एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं।

संबंध दूर और समीप का हो सकता है। जैसे सूर्य का पृथ्वी के तापक्रम के साथ समीप का संबंध है; परन्तु सूर्य का किसी देश की चित्र-कला से दूर का संबंध है। संबंध है अवश्य, क्योंकि सूर्य, दूसरे कारणों के साथ, किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का निश्चय करता है, जिनका प्रभाव उस देश की संस्कृति पर पड़ता है। कला संस्कृति के विकास पर आश्रित है।

यही कारण है कि जो देश हरे-भरे, जीवन के लिये प्रोत्साहन देने वाले और सम्पन्न हैं, वहाँ की चित्र-कला में जीवित मूर्तियों का प्रयोग हुआ है और रेखाओं की सहायता से जीवन की शक्तियाँ—जैसे उत्साह, आनन्द, विजय आदि का चित्रण किया गया है; जैसे चीन और भारतवर्ष की चित्र-कला। इसके विपरीत जहाँ जीवन कष्टमय है, क्योंकि भौगोलिक कारण जीवन के विरोधी हैं, वहाँ चित्र-कला में गणित की रेखायें, वृत्त, अर्धवृत्त आदि का प्रयोग हुआ है जिनमें नियम का शासन तो व्यक्त होता है परन्तु जीवन की तरलता नहीं। यह कला मरुस्थलीय अरब देशों की है।

संबंध के दूर और समीप होने के कारण, समीप वाली वस्तुओं को एक साथ समझने का प्रयत्न किया जाता है। समान स्वरूप वाली वस्तुओं के अध्ययन के लिये एक विज्ञान बना लिया जाता है। इसी से हम प्रकृति के विशाल और विचित्र विश्व को अनेक संसारों में विभाजित कर देते हैं; जैसे तारों का संसार, वनस्पति का संसार, पशुओं का संसार, वायु, जल आदि भौतिक वस्तुओं का संसार इत्यादि। वनस्पति के संसार को हम और भी छोटे संसारों में बाँट सकते हैं, जैसे अन्नों का संसार, घासों, बेलों, वृक्षों आदि का संसार। इनमें से अन्नों को कई विभागों में इनके गुणों, जलवायु आदि के अनुसार बाँटा जा सकता है। प्रत्येक विभाग का अध्ययन एक अलग विज्ञान की सहायता से किया जाता है। इसी भाँति, पशु, भौतिक पदार्थ, तारों, मनुष्यों की विविध समस्याओं को अनेक छोटे-छोटे संसारों में विभक्त किया जा सकता है। इस विभाजन के द्वारा विशाल प्रकृति समझने के योग्य हो जाती है। हम प्रत्येक विभाग के लिये एक विज्ञान की रचना करते हैं और उसमें गवेषणा करके प्रत्येक वस्तु के नियमों का पता लगाते हैं।

यहाँ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रकृति के ये विभाग वास्तविक नहीं है; मनुष्य ने अपने समझने की सुविधा के लिये ऐसा किया है। हम विशाल प्रकृति का एक साथ अध्ययन नहीं कर सकते। प्रत्येक विभाग बिलकुल अलग भी नहीं, क्योंकि यहाँ प्रत्येक वस्तु प्रत्येक दूसरी वस्तु पर प्रभाव डालती है और इस प्रकार वस्तुओं का परस्पर निश्चित और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन्हीं पारस्परिक सम्बन्धों के कारण प्रकृति में 'एकता' आती है। इसीलिये विज्ञान भिन्न-भिन्न

होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। सब मिलकर विशाल प्रकृति को समझने का प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक विज्ञान अपनी सीमायें निश्चित करने का भी प्रयत्न करता है, जिससे गवेषणा का कार्य सरल हो जाये। वस्तुओं की समानता और सम्बन्ध की समीपता के आधार पर सीमायें निश्चित की जाती हैं। परन्तु ये सीमायें रेखा द्वारा निश्चित रूप से प्रकट नहीं की जा सकतीं, जैसा कि दो देशों की सीमा होती हैं। प्रत्येक विज्ञान की सीमा पर कुछ बाहर निकले हुए तन्तु होते हैं जो दूसरे विज्ञान के तन्तुओं से इस प्रकार जुड़े हैं कि वे दोनों मिलकर एक ही प्रतीत होंगे। इसी प्रकार सारे विज्ञान एक दूसरे से दूर या समीप का, सम्बन्ध रखते हैं और सब मिलकर एक विशाल ज्ञान का पट बनाते हैं।

यदि हम प्रकृति की एकता के सिद्धान्त को अस्वीकार करें तो क्या हानि होगी? पहले तो अनेकों में एकता की स्थापना करना मनुष्य का स्वभाव है; मानव बुद्धि की विशेषता और सीमा है। अनेकों स्वरों को एकता के सूत्र में बांधने से संगीत उत्पन्न होता है; अनेक रंगों, रेखाओं के एक प्रभाव के कारण चित्र बनता है, अनेक पुरुषों के एकीकरण से समाज का संगठन होता है। इसी स्वभाव के कारण मानव-बुद्धि विचित्र और विविध प्रकृति को एकता के सिद्धान्त से बाँध देती है। अनेकता मानो बुद्धि को असह्य है। अनेक वस्तुओं को देख कर हम अपने स्वभाव के कारण उन्हें कुछ वर्गों में बाँट देना चाहते हैं, फिर इन वर्गों को संगठित करके एक नाम देते हैं। यदि हमारे पास बहुत-सी पुस्तकें हैं तो पहले भाषा की समानता अथवा विषय की समानता के आधार पर उन्हें एक एक वर्गों में विभाजित करेंगे और फिर इन वर्गों का किसी समानता के आधार पर संगठन करेंगे। इसी भाँति प्रकृति के भिन्न-भिन्न अंगों को एकता के रूप में गूँथ देना हमारा मौलिक स्वभाव है। इसी के कारण प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में एकता उत्पन्न करता है; भिन्न-भिन्न नियमों और वस्तुओं को संगठित करता है जिससे उनके पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट हो जायें और उनकी एकता भी स्पष्ट हो जाये। साधारण मनुष्य को प्रत्येक वृक्ष के पत्ते, फूल फल, बनावट पृथक् प्रतीत होते हैं। परन्तु वनस्पति-विज्ञान हमें बताता है कि अनेक वृक्षों, पौदों, बेलों, घासों आदि में पत्तों का एक विशेष कार्य है—वह है वायु मंडल में से कार्बन ग्रहण

करना। इसी प्रकार वनस्पति का सारा विविध और विशाल संसार समान नियमों का पालन करने के कारण 'एक' है। विज्ञान हमारे इस एकता के उत्पन्न करने वाले स्वभाव को स्पष्ट और सन्तुष्ट करता है।

एक दूसरे प्रकार से भी प्रकृति में एकता का सिद्धान्त हमारी विचार-क्रिया का आधार है।

यदि मैं विचार द्वारा इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि मैं मृत्यु-शील हूँ, तो इसका कारण यह नहीं कि मैं एक विशिष्ट और विचित्र व्यक्ति हूँ, परन्तु इस-लिये कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य होने के नाते मुझमें 'मनुष्यता' का सामान्य गुण है। मनुष्यता का सम्बन्ध मृत्यु से है। संसार के सभी मनुष्य 'मनुष्यता' के सामान्य नियम से बँधे होने के कारण मृत्यु-शील हैं। यहाँ एक ही सामान्य नियम से बँधे होने के कारण सारी मानव-जाति एक ही संगठित समुदाय बनाती है। प्रत्येक मनुष्य इस समुदाय का सदस्य है। इस समुदाय का प्रत्येक सदस्य एक ही सामान्य नियम का शासन मानता है। यह सामान्य नियम ही वह तन्तु है जो सारे सदस्यों को, विभिन्न और अनगिन होते हुए भी, एकता के नियम में बाँधे रखता है। यदि अनेक और अनन्त मनुष्य नाम की वस्तु किसी सामान्य नियम द्वारा एकता के सूत्र में ग्रथित न होती तो 'मैं मनुष्य हूँ इसलिये मृत्युधर्मा हूँ' यह निर्णय कदापि सम्भव न होता। विचार जहाँ कहीं जिस निर्णय पर पहुँचता है, उसका आधार वही सामान्य-नियम है जो अनेक वस्तुओं को एक ही जाति का सदस्य बना देता है।

यहाँ न केवल सारी मानव-जाति सामान्य-नियम से बँधी हुई है बल्कि मृत्यु शीलता का गुण सारी जीव-सृष्टि को बांधे हुए है जिसमें पशु, वृक्ष असंख्य वनस्पति, कीड़े, मकोड़े सभी सम्मिलित हैं। इस जीव-जाति में और भी अनेक सामान्य नियम हैं जिनके आधार पर विचार-क्रिया अग्रसर होती है; जैसे एक कीड़ा यदि किसी वस्तु में पड़ गया है तो वह अवश्य ही अपने वर्ग के किसी कीड़े से उत्पन्न हुआ होगा, क्योंकि नियम यह है कि जीव से ही जीव की उत्पत्ति होती है। एक बृहत् जाति को जो सामान्य नियमों का पालन करने के कारण एक जाति कही जाती है, हम छोटी जातियों में बाँट सकते हैं। परन्तु जिसे हम जाति कहते हैं वह अनेक व्यक्तियों का ऐसा समुदाय है जो सामान्य नियमों से

एक सूत्र में गुंथे हुए हैं। अनेक भिन्न व्यक्तियों की तात्त्विक एकता का नाम ही जाति है। यही एकता विचार का आधार है।

प्रकृति अनेक जातियों में बंटी हुई है। प्रत्येक जाति अपने जाति-गत नियमों का पालन करती है। वस्तुतः एक व्यक्ति का स्वरूप ही तब समझ में आता है जब हम यह जान लेते हैं कि वह व्यक्ति अमुक जाति का सदस्य है। यदि हमें किसी जाति के सामान्य नियम मालूम हैं तो हम इनके सहारे व्यक्ति के स्वरूप का निश्चय करते हैं। उदाहरण स्वरूप यदि एक व्यक्ति किसी रोग से ग्रस्त है तो साधारणतया हम नहीं कह सकते कि यह रोग क्या है। एक डाक्टर अनेक रोगों की जातियों और उनके सामान्य नियमों से परिचित है। यदि इस विशिष्ट रोगी का रोग निरीक्षण के उपरान्त कुछ लक्षणों को प्रकट करता है तो रोग की जाति समझ में आ जाती है। इसी प्रकार यदि हमें एक वस्तु मिल जाये जिसके स्वरूप, नाप आदि से हम परिचित नहीं, तो इसको समझने के लिये हम इसे ऐसे पुरुष के पास ले जायेंगे जो उस प्रकार की वस्तुओं के गुणों को समझता हो। जैसे, लाल कांच जैसी वस्तु को जब हम जौहरी के पास लायेंगे यो वह हमें बतायेगा कि मूंगा नामक जाति की वस्तुओं में ये सामान्य गुण पाये जाते हैं। इस वस्तु में ये गुण मौजूद हैं, इसलिये यह वस्तु मूंगा है। इस लिये हम जान सकते हैं कि किसी विशेष व्यक्ति के स्वरूप का निश्चित बोध उसकी जाति के ज्ञान से होता है और जाति अनेकों की तात्त्विक एकता का नाम है।

यह आवश्यक नहीं कि हम सभी 'जातियों' से परिचित हों। विज्ञान में गवेषणा का कार्य नित नवीन जातियों के उद्घाटन के लिये होता है। जहाँ कहीं कोई नवीन घटना या व्यक्ति अनुभव में आता है, वहाँ विज्ञान उसके सामान्य अथवा जाति-गत गुणों की खोज करना प्रारम्भ करता है। अनेक विशेष घटनाओं या व्यक्तियों के निरीक्षण, विश्लेषण और परीक्षण के उपरान्त उन व्यक्तियों को एकता में बाँधने वाला सामान्य नियम मिल जाता है। दूसरे महायुद्ध में कुछ घायल व्यक्तियों को कपड़े की पट्टी न मिल सकीं। उन्होंने घावों पर जस्ते की प्लेटें विवश होकर बाँध लीं। देखा गया कि उनके घाव अच्छे हो गये। वैज्ञानिकों ने इस अनुभव से एक सामान्य नियम की कल्पना की जो परीक्षा के उपरान्त ठीक सिद्ध हुई। वह यह कि जिन्क या जस्ते का

घाव से सम्बन्ध है और यह उस जाति की वस्तु है जो घाव की चिकित्सा में सहायक होती हैं।

तात्पर्य यह है कि हम सामान्य नियम का उद्घाटन अनेक अलग-अलग व्यक्तियों के अध्ययन से करते हैं; परन्तु इस नियम के द्वारा ये व्यक्ति एक जाति के सदस्य हो जाते हैं। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से इतना भिन्न होता कि उनमें सामान्यता ही न होती तो वह हमारी समझ से बाहर होता। हमारी विचार-क्रिया जाति या सामान्य तत्त्व की सहायता से व्यक्ति को और व्यक्तियों के विश्लेषण से जाति को समझने का प्रयत्न करती है। हमारे विश्व की सारी वस्तुएँ सामान्य प्रकृति के कारण जातियों में विभक्त हैं; ये जातियाँ भी परस्पर सम्बन्ध रखती हैं और अन्त में चलकर सम्पूर्ण प्रकृति का विशाल शरीर इन्हीं जातियों के परस्पर संश्लेष से बना हुआ प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम तीन बृहत् जातियों का अनुभव प्रकृति में करते हैं—एक, भौतिक वस्तु जिनको हम अनेक तत्त्वों में विभाजित करते हैं; दूसरे, जीवित वस्तु जो वनस्पति, पशु आदि से मिलकर एक जाति बनाती है। इसके आगे चलकर अनेक विभाग किये जा सकते हैं। तीसरे, चेतन वस्तु हैं जिनमें मनुष्य, पशु आदि के अनुभव सम्मिलित हैं। इन तीन विशाल वर्गों में सारा अनुभूत विश्व रक्खा जा सकता है। प्रत्येक वर्ग अनेक सामान्य नियमों का पालन करता है, परन्तु स्वयं भी अनेक वर्गों में विभाजित हो सकता है और प्रत्येक वर्ग के भी उसी प्रकार सामान्य नियम हैं। इनमें तीनों बृहत् वर्ग भी एक दूसरे से निश्चित सम्बन्ध रखते हैं, जैसे जीवित पदार्थ जीवन के लिये भौतिक पदार्थों पर निर्भर हैं। वनस्पति का संसार जल, वायु, लोहा, केलशियम आदि अनेक तत्त्वों को जड़ जगत् से पाता है। पशु वर्ग वनस्पति और जलादि तत्त्वों से जीवन पाता है। जिन्हें हम अन्न, फल आदि खाद्य वस्तु कहते हैं, वे वास्तव में प्रकृति की मशीनें हैं जो भौतिक तत्त्वों को पशु के योग्य भोजन बनाने का कार्य करती हैं। हमारा चेतन भाग भी जीवन के ऊपर निर्भर है। वर्त्तमान मनो-विज्ञान ने शरीर और जीवन की अनेक क्रियाओं के साथ मानसिक अनुभवों के सम्बन्ध की गवेषणा की है। संक्षेप में, यह विशाल प्रकृति वैज्ञानिक के लिये एक ही वस्तु है जिसमें प्रत्येक पदार्थ परस्पर

सम्बन्ध रखता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति जाति के गुणों से बँधा हुआ है। यदि ऐसा न होता तो हम किसी व्यक्ति या वस्तु के स्वरूप को समझने में असमर्थ होते। इसलिये प्रकृति की एकता का सिद्धान्त विचार-क्रिया के लिये अनिवार्य है।

'स्वभाव' या तादात्म्य सिद्धान्त

प्रत्येक वस्तु का एक 'स्व-रूप' या 'स्व-भाव' होता है जिसे हम उस वस्तु का सार या तत्त्व कह सकते हैं, क्योंकि इसी के कारण वह वस्तु उस नाम से जानी जाती है और इस तत्त्व के अभाव में वह वस्तु वह न रहेगी। जिस पदार्थ को हम जल, वायु, सोना, आम, मनुष्य आदि कहते हैं, वह पदार्थ जल आदि इसलिये है क्योंकि उसमें इन वस्तुओं का तात्त्विक या स्वाभाविक गुण विद्यमान है। हम जल को तेल या लोहे को सोना नहीं कहते, क्योंकि दोनों के 'स्व-रूप' और 'स्व-भाव' भिन्न हैं। यदि जल अथवा तेल का अपना कोई स्वभाव नहीं, यदि इनका स्वरूप निश्चित अथवा स्थिर न हो, तो मानव बुद्धि उसे न समझ सकेगी। यदि मैं 'मलेरिया' को जानता हूँ तो इसका अर्थ है कि मैं इसके निश्चित और नियत स्वभाव को जानता हूँ। यदि इसका कोई स्वभाव ही नहीं, तो इसका ज्ञान असम्भव है। अतः हमारे ज्ञान के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक पदार्थ नियत स्वभाव वाला हो।

स्वभाव से क्या तात्पर्य है? यदि मैं किसी वस्तु जैसे घड़ी को देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ, तो अपने अनुभव द्वारा कई गुण उसमें जान पाता हूँ, जैसे इसमें कई सुइयाँ हैं जो चल रही हैं, इसका मुख गोल है, इत्यादि। इसका अर्थ है कि किसी वस्तु को जानना उसके गुणों से परिचय पाना है अथवा उस वस्तु का उसके अनुभव-गम्य गुणों में विश्लेषण कर देना है। यदि मैं किसी वस्तु को 'शक्कर', दूसरी को 'नमक', तीसरी को 'रेत' कहता हूँ तो इसका मतलब है, मैंने अपने अनुभव द्वारा इन वस्तुओं का इनके भिन्न-भिन्न गुणों में विश्लेषण किया है। जानना और वस्तु का गुणों में अनुभव द्वारा विश्लेषण और परिचय—समानार्थक हैं।

गुण दो प्रकार के होते हैं—एक आकस्मिक, दूसरा आवश्यक। किसी मनुष्य का काला होना आकस्मिक गुण है, क्योंकि इसके होने या न होने से उसकी मानवता में अन्तर नहीं पड़ता। यह गुण एक विशेष व्यक्ति का गुण

है। परंतु वह मनुष्य एक जाति का सदस्य भी है—वह जाति है मानव। इस जाति के नाते उसमें जीवन, भावना, बुद्धि आदि आवश्यक गुण हैं। ये उसके सामान्य गुण हैं जिनके कारण हम उसे 'मनुष्य' कहते और जानते हैं। इन सामान्य और आवश्यक गुणों के अतिरिक्त उसमें अनेक विशिष्ट, व्यक्तिगत और आकस्मिक गुण भी हैं, जैसे उसका नाम, देश, भाषा आदि जिनके द्वारा हम उसके व्यक्तित्व का निश्चय करते हैं। परंतु उसके मानव-स्वभाव का आधार उसके आवश्यक और सामान्य गुण ही हैं। प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में अपने विषय की वस्तुओं के स्वरूप का निश्चित ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन वस्तुओं के आवश्यक और सामान्य गुणों की खोज करता है। चिकित्सा-विज्ञान अनेक रोगों के, अर्थ-विज्ञान प्रत्येक आर्थिक घटना के, तथा रसायन शास्त्र प्रत्येक रासायनिक पदार्थ के सामान्य और आवश्यक गुणों की गवेषणा करके अनेक पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान उपार्जित करते हैं। किसी वस्तु का स्वरूप इन्हीं आवश्यक गुणों से बनता है।

न केवल वस्तुओं के आवश्यक गुणों का बल्कि प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में प्रयोग किये जाने वालों पदों का आवश्यक अर्थ भी स्पष्ट करता है। राजनीति शास्त्र में 'विधान', 'अधिकार', 'कर्त्तव्य', 'शासन' आदि अनेक पदों का व्यवहार होता है, इसी प्रकार धन, मूल्य, विकिरण, उत्पादन, आदि अर्थ-विज्ञान के पद हैं। इसी प्रकार अनेकों पद हमारे विज्ञानों में प्रयुक्त होते हैं। परिभाषा के द्वारा इनके आवश्यक और सामान्य अर्थों को निश्चित और स्पष्ट किया जाता है। पदों का व्यवहार वाक्यों में और वाक्यों का उपयोग विचार के द्वारा वस्तुओं के स्वरूप को समझने में होता है। पदों का शुद्ध, स्पष्ट और आवश्यक अर्थ इसीलिये विचार की शुद्धि के लिये आवश्यक समझा जाता है। इसके लिये प्रत्येक विज्ञान परिभाषा का प्रयोग करता है।

चाहे पदों का आवश्यक अर्थ हो अथवा वस्तुओं का आवश्यक गुण, हमें यह मानना होगा कि यह अर्थ और गुण उन पदों और वस्तुओं के 'स्व-रूप' अथवा 'स्व-भाव' हैं जो स्थिर और नियत हैं। तादात्म्य सिद्धान्त के अनुसार इनका यह स्वरूप अपना ही रूप है। यदि यह स्वभाव अस्थिर, अस्पष्ट और अनियत है तो हमारे लिये उनका बोध असम्भव है। विज्ञान में ही लीजियेः,

यदि 'मलेरिया' वस्तु के आवश्यक गुण अथवा स्वभाव और 'मलेरिया' पद का अर्थ प्रति दिन बदलता रहे या प्रसंग बदलने पर इसका अर्थ ही दूसरा हो जाये, तो निश्चय ही चिकित्सा-विज्ञान असम्भव हो जायगा। तादात्म्य अथवा स्वभाव सिद्धान्त का अर्थ ही यह है कि यदि हम किसी वस्तु के स्वरूप को जानते हैं अथवा किसी पद का अर्थ समझते हैं तो वह स्वरूप और अर्थ स्थिर, स्पष्ट और नियत होने चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो विचार-क्रिया असम्भव हो जायगी।

यहाँ यह कदापि न समझना चाहिये कि 'मलेरिया' आदि वस्तुओं अथवा वैज्ञानिक पदों का अर्थ कभी बदलता ही नहीं। विज्ञान के निरंतर विकास का अर्थ केवल इतना ही है कि वह इन वस्तुओं के स्वभाव और इसके पदों के अर्थ को ठीक और स्पष्ट समझने का प्रयत्न करता है। ज्यों-ज्यों हमारा अन्वेषण ठीक होता जाता है, हम इनके स्वभाव और अर्थ को भी ठीक समझते जाते हैं। चन्द्र-ग्रहण, मलेरिया स्वतंत्रता आदि अनेक वस्तुओं और पदों का जो अर्थ हम आज जानते हैं, वह हमारे पूर्वजों को मालूम न था। इसका अर्थ केवल यही है—वैज्ञानिक विकास हमें वस्तुओं और पदों का वास्तविक स्वभाव उत्तरोत्तर ठीक समझाने का प्रयत्न करता है, परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ये स्वभाव और स्वरूप हीन हैं।

बुद्ध-दर्शन और बर्गसो नामक फ्रेंच दार्शनिक के अनुसार वस्तु निःस्वभाव हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का स्वरूप 'काल' है जो प्रति क्षण बदलता और आगे बढ़ता है। दूसरे क्षण और पहले क्षण में महान् अन्तर है क्योंकि दूसरा क्षण, सतत प्रवाह-शील काल में, पहला क्षण नहीं हो सकता। जीव अथवा आत्मा भी अनेक-विध अनुभवों का निरन्तर बहता हुआ 'संतान' है जो क्षण-क्षण बदलता और आगे बढ़ता हुआ प्रतीत होता है। इस 'संतान' अथवा प्रवाह में प्रति क्षण नवीनता है, क्योंकि दो क्षणों का परस्पर कोई संबंध नहीं। जो क्षण हो चुका, वह हो चुका। वह मृत और व्यतीत पदार्थ है। आगे आने वाले क्षण से इसका कोई संबंध नहीं। इस 'क्षणिक वाद' अथवा 'प्रवाह वाद' के अनुसार प्रत्येक वस्तु परिवर्तन का नाम है। इसका निश्चित नियम और स्थिर अर्थ और गुण हो ही नहीं सकता। परन्तु यह मत साथ में यह भी

मानता है कि हम 'बुद्धि' नामक यंत्र से 'सत्ता' का जो प्रवाह-रूप है, अनुभव नहीं कर सकते। बर्गसों के अनुसार बुद्धि केवल अपरिवर्तन-शील, स्थिर पदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ है। प्रति क्षण नूतन होने वाली, अस्थिर, बहती हुई सत्ता का अनुभव हम एक और शक्ति द्वारा करते हैं, जो बुद्धि से ऊपर है। बुद्धि तो सत्ता को समझने का प्रयत्न करती है। समझी वह वस्तु जाती है जिसका स्थिर स्वरूप हो। इस मत के अनुसार भी यही स्पष्ट होता है कि हम जब कभी बुद्धि से वस्तु को जानने का प्रयत्न करते हैं तो हमें यह मानना आवश्यक होता है कि उस वस्तु का अपना 'स्वभाव' है जो स्थिर और नियत है। विज्ञान बुद्धि द्वारा ही संसार को समझने का प्रयत्न है। यदि हम बुद्धि द्वारा 'सत्ता' की वास्तविकता को नहीं समझ सकते, तो यह बुद्धि का दोष नहीं, यह उसकी स्वाभाविक सीमा है और साथ ही वह वस्तु स्वयं 'अज्ञेय' है। हम केवल इतना ही कहते हैं: किसी वस्तु को जानना उसके स्वभाव का परिचय पाना है। यदि वह स्वभाव नियत नहीं, परन्तु नित्य नवीन और परिवर्तन शील है तो वह अज्ञेय है। यदि कोई वस्तु ज्ञेय या जानने योग्य है तो अवश्य ही नियत स्वभाव वाली है।

स्वभाव-सिद्धान्त ज्ञान का आधार है। इससे विचार-क्रिया के लिये और बुद्धि जिस सत्य को पा सकती है उसके निर्णय के लिये, और भी कई सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। इनका उल्लेख नीचे किया गया है। (क) सामान्य-सिद्धान्त: प्रकृति में एकता है, जिसका अर्थ है कि अनेक वस्तुएँ भिन्न होते हुए भी सामान्य गुणों के कारण एक सूत्र में बँधी हुई हैं। एकता का आधार उन अनेक वस्तुओं का नियत स्वभाव है। प्रत्येक मनुष्य भिन्न है। परन्तु यह भिन्नता केवल आकस्मिक गुणों के कारण है। 'मनुष्यता' के आवश्यक और स्वाभाविक गुण अनेकों भिन्न मनुष्यों को भी एकता में रखते हैं। मनुष्य का 'स्वभाव' जो नियत, स्थिर और सामान्य है उसकी एकता का मूल है। सारे 'आम के वृक्ष' अपने निश्चित और नियत स्वभाव के कारण अनेक होते हुए भी एक हैं। यही नियम प्रत्येक वस्तु के लिये लागू है।

प्रकृति की एकता और स्वभाव-वाद का यह अर्थ नहीं कि वस्तुओं में परिवर्तन होता ही नहीं। वे अपने स्वरूप से डिगते ही नहीं, और न उनमें

कोई विकास या ह्रास होता है। यह अनुभव के विरुद्ध है, क्योंकि प्रकृति में निरंतर घटनायें घटित होती हैं। वायु की दिशा, वर्षा का मान, तापक्रम और दूसरी भौगोलिक दशायें नित्य बदलती हैं। रसायन शास्त्र वस्तुओं में होने वाले अनेक-विध परिवर्तनों वा अध्ययन करता है। हमारे सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक घटनायें घटती हैं। अपने अनुभव को लेकर तो हमें यही अनुमान होता है कि प्रकृति में स्थिरता नहीं, उसमें नित्य परिवर्तन, विकास और विनाश होता है। प्रकृति घटनामय है; उसके अनेक क्षेत्रों का अपना अलग इतिहास है।

प्रकृति घटनामय है अवश्य, परन्तु उसकी घटनाओं का आधार वस्तुओं का नियत स्वभाव ही है। दो वस्तुएँ, नियत परिस्थिति में, अपने स्वभाव के अनुसार ही एक दूसरे को प्रभावित करने लगती हैं। इनका सम्बन्ध जड़, परिवर्त्तन-शून्य नहीं, प्रत्युत क्रियात्मक है जिसके कारण प्राकृतिक घटनायें घटती हैं। परन्तु यह क्रियात्मक सम्बन्ध अनियत अथवा बिना नियम के नहीं। इसका आधार इन वस्तुओं का नियत स्वभाव ही है। अग्नि से जल में परिवर्त्तन होता है, उसका ताप बढ़ जाता है और एक नियत ताप क्रम पर पहुँच कर वह जल भाप के रूप में परिणत हो जाता है। यह प्राकृत घटना स्पष्ट है; परन्तु इसका कारण अग्नि और जल का नियत स्वभाव ही है। विज्ञान अग्नि और जल के स्वभाव को जानता है और यह निश्चय करता है कि अग्नि के ताप से जल के भाप बनने की प्राकृतिक घटना इस लिये घटित हुई क्योंकि अग्नि और जल अपने स्वभाव से च्युत नहीं हुए। इसी प्रकार वायु का किसी विशेष दिशा में बहना एक घटना है जिसका आधार वायु का स्वभाव, वायु के भार पर ताप का प्रभाव आदि हैं। अधिक ताप के कारण मान बढ़ जाता और भार हल्का हो जाता है; शीत के कारण मान घट जाता और भार बढ़ जाता है। वायु अपने स्वभाव के कारण अधिक भार के स्थान से हल्के भार की ओर बहने लगती है। किसी प्राकृतिक घटना को लीजिये, जैसे वर्षा, पाला, भूकम्प, जल प्रवाह, विस्फोट, युद्ध, शान्ति, आर्थिक पतन अथवा उन्नति, शासन का ह्रास या पुष्टि इत्यादि अनन्त घटनायें हैं जिनका हम अनुभव करते हैं। प्रत्येक घटना में कुछ न कुछ वस्तुयें विद्यमान हैं। उन वस्तुओं में अपने अपने

स्वाभाविक गुणों के कारण ही उन्हीं के अनुसार परिवर्त्तन होता है। प्रत्येक वस्तु का स्वभाव नियत है, इसलिये इसका परिवर्तन भी निश्चित नियम के अनुसार ही होता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राकृतिक घटना, वस्तुओं के नियत स्वभाव पर आश्रित होने के कारण, नियम के अनुसार होती है।

वैज्ञानिक और साधारण मनुष्य की दृष्टि में यहाँ अन्तर स्पष्ट समझ पड़ता है। वैज्ञानिक प्रकृति के घटना-चक्र को नियमों से बँधा हुआ समझता है। उसके लिये छोटी और बड़ी घटना चाहे वह आकाश के तारों के विषय में हो, चाहे वनस्पति, पशु, सामाजिक जीवन के किसी क्षेत्र में हो, चाहे वह मानसिक घटना हो या शारीरिक, चाहे वह लाभ प्रद हो या हानि कारक, सभी घटनायें नियत नियमों के अनुसार घटित होती हैं। प्रकृति में 'मन चाहा' नहीं, उसमें विकास और परिवर्त्तन की विशेष विधि है जिसके नियम निश्चित होने के कारण जानने योग्य हैं। साधारण व्यक्ति प्रकृति को रहस्य मय समझता है, उसके घटना-चक्र में नियम न समझने के कारण वह केवल आश्चर्य करता है और ईश्वरीय इच्छा और दैव को इनका कारण मान कर सन्तुष्ट हो जाता है। वस्तुतः विज्ञान के लिये सम्पूर्ण प्रकृति और उसके अनेक क्षेत्र सामान्य नियमों से बँधे हुए हैं जिनका अन्वेषण करना विज्ञान का कार्य है।

प्रकृति नियमों का जाल है। इसमें प्रत्येक वस्तु अपने नियत स्वभाव के कारण नियमानुसार ही बदलती, प्रभावित होती अथवा दूसरी वस्तुओं को प्रभावित करती है। इस सिद्धान्त पर चलकर आधुनिक मनुष्य ने ऐसे अनेक क्षेत्रों में संगठित और वैज्ञानिक ज्ञान उपार्जन किया है जिनको हमारे पूर्वज रहस्य समझकर छोड़ देते थे या जिनके विषय में काल्पनिक धारणाएँ लोक में प्रचलित थीं। स्वप्न-विज्ञान एक ऐसा ही विज्ञान है। आज हम अर्ध चेतन अवस्था में होनेवाले इस अनुभव के अनेक नियमों से परिचित हैं। मानसिक-आरोग्य विज्ञान में हम चिन्ता, भय, उदासीनता, उद्वेग, उत्तेजना, विक्षिप्तता, विस्मृति आदि मानसिक घटनाओं का अध्ययन करते हैं और इनके स्वरूप और नियमों का अध्ययन करते हैं। जल-वायु-विज्ञान, अपराध, नदी-विज्ञान, खनिज-विज्ञान, पुरातत्व-विज्ञान आदि ऐसे प्रयत्न हैं जिनके द्वारा मनुष्य की बुद्धि ने ऐसे क्षेत्रों में नियम की स्थापना की है जिनमें अब तक कोई व्यवस्था की कल्पना भी न थी।

(ख) अंतः-संवाद-सिद्धांत—हम देख चुके हैं कि प्रकृति में नियमों की व्यवस्था है। यदि प्राकृतिक घटनाएँ अव्यस्थित और नियमहीन हों तो उनका ज्ञान असम्भव है। परन्तु इस व्यवस्था का आधार हमारा तादात्म्य सिद्धांत है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने निश्चित, नियत, स्थिर और स्पष्ट स्वभाव से बँधी हुई है। इस सिद्धांत से, विचार के लिए आवश्यक, हम एक दूसरे सिद्धांत का अनुमान कर सकते हैं। वह है अन्तः संवाद या अव्याघात सिद्धान्त।

यदि प्रत्येक वस्तु का अपना 'स्वभाव' है तो वह अपने स्वभाव के अनुसार ही व्यवहार करेगी; उसके विपरीत व्यवहार की कल्पना करना हमारे लिये असत्य होगा। यदि अग्नि अपने स्वभाव के कारण उष्ण है और दूसरे पदार्थों को उष्ण करके उनके मान को बढ़ा सकती है, तो हमारे लिये यह मानना कि 'अग्नि उष्ण नहीं है और वह पदार्थों को उष्ण नहीं करती, न उनके मान को बढ़ा ही सकती है' बिल्कुल असत्य विचार होगा। यदि एक ही वस्तु दो विरुद्ध गुणों के अनुसार विपरीत व्यवहार कर सकती है, तो इसका अर्थ है कि इसका कोई 'स्वभाव' नहीं। यदि अग्नि उष्ण भी हो और उष्ण न भी हो तो इसका तात्पर्य है कि हम अग्नि के स्वरूप का उष्ण कह कर निश्चय नहीं कर सकते। इस अवस्था में कोई भी प्राकृतिक वस्तु ज्ञेय नहीं रहेगी। विज्ञान के लिए इसलिए यह मूल मान्य सिद्धान्त है कि परस्पर दो विरोधी घटनाएँ कदापि बुद्धि-गम्य नहीं हो सकती। इन में से केवल एक सत्य हो सकती है जिसका वस्तु के स्वभाव से सम्बन्ध है और दूसरी असत्य। दो परस्पर विरोधी घटनाओं के संबंध को व्याघात कहते हैं। यह व्याघात असत्य का मूल और सत्य का शत्रु है। यदि दो घटनाएँ परस्पर अनुकूल हों तो उनके सम्बन्ध को संवाद कहते हैं। संवाद सत्य की कसौटी है।

विज्ञान अपने क्षेत्र में अनेक वस्तुओं के ज्ञान का संगठन करता है। वह उन वस्तुओं के सामान्य नियमों की कल्पना करता है, क्योंकि नियमों का प्रत्यक्ष अनुभव सम्भव नहीं। कल्पना करते समय इस नियम की अवहेलना करना विज्ञान के लिए अनुचित है। अपने क्षेत्र में जो भी नियम खोज निकाले जायें, उनका परस्पर व्याघात नहीं होना चाहिये। यदि दो नियमों का परस्पर व्याघात या विरोध है तो उनमें से अवश्य ही एक सत्य और दूसरा असत्य

होगा। दो सत्य नियम परस्पर अनुकूल या संवाद-युक्त होंगे। सत्य की परीक्षा के लिये सर्व प्रथम निष्कर्ष यही है कि हमारे वाक्यों में, अथवा ज्ञान में परस्पर संवाद हो। न्यायाधीश के सम्मुख जब कोई व्यक्ति साक्षी होता है तो उसके साक्ष्य में सत्य होने के लिये परस्पर व्याघात न होना चाहिये। न्यायाधीश परस्पर विरोधी बातों को सुनकर बिना प्रयत्न यह निश्चय कर सकता है कि साक्षी का साक्ष्य अवश्य ही असत्य है।

किसी युक्ति को लीजिये, मैं मनुष्य हूँ; सब मनुष्य मर्त्य हैं; इसलिये मैं भी मर्त्य हूँ। यहाँ हमारा निष्कर्ष है, "इसलिये मैं भी मर्त्य हूँ"। यह निष्कर्ष सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि मृत्यु मनुष्य का स्वभाव है, मुझमें वह स्वभाव विद्यमान है और इसी सामान्य नियम के अनुकूल ही निष्कर्ष भी है। यदि यहाँ निष्कर्ष होता 'मैं मर्त्य नहीं हूँ यद्यपि मनुष्य हूँ और यद्यपि सब मनुष्य मर्त्य हैं' तो यह असत्य होता, क्योंकि हमारे निष्कर्ष और सामान्य नियम में परस्पर व्याघात है। यदि मृत्यु मनुष्य का अकाट्य 'स्व-भाव' है तो कोई भी निष्कर्ष इसका विरोधी होकर सत्य नहीं हो सकता।

प्रकृति में एकता का नियम है; इस लिये किसी भी क्षेत्र में नियम परस्पर विपरीत होकर सत्य नहीं हो सकते। 'मनुष्य मर्त्य हैं' यह एक नियम है। दूसरे नियम भी इसी के संवादी होकर सत्य हो सकते हैं। इसलिये एक विज्ञान के सारे नियम परस्पर संवाद युक्त होने चाहिये। न केवल इतना, मनुष्य का सम्पूर्ण ज्ञान भी एक है, इसमें अनेक विज्ञान सम्मिलित और संगठित है। अतः सम्पूर्ण विज्ञानों के निष्कर्ष और नियम परस्पर सम्बद्ध और अनुकूल होने आवश्यक हैं। जब कभी गवेषणा की जाती है और किसी वस्तु के नये नियम का आविष्कार किया जाता है तो उसकी सत्यता को ग्रहण के पहले उसका पूर्व अर्जित ज्ञान के साथ सामञ्जस्य आवश्यक है। सम्भव है, हमने ऐसे नये नियम की खोज की हो जिसका सारे पहले संचित ज्ञान से विरोध हो। उस दशा में हमें पहले ज्ञान को पुनः परीक्षण करके बदलना होगा। परंतु हमारे ज्ञान के दो भागों में परस्पर व्याघात सम्भव नहीं। हमारी विचार-क्रिया इस नियम का पालन सत्य निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये करती है।

(ग) परतः संवाद सिद्धान्त : हमारे विचारों, नियमों और निष्कर्षों में

परस्पर संवाद आवश्यक है, क्योंकि परस्पर व्याघात होने से (१) उनमें एकता न रहेगी, (२) और, वस्तुओं को हमें स्वभाव-शून्य मानना पड़ेगा। दोनों प्रकार से विचार और बुद्धि द्वारा प्रकृति को समझने का प्रयत्न विफल होगा। हम ऐसे विचारों की कल्पना कर सकते हैं जो परस्पर अनुकूल हों, परंतु हमारे निरीक्षण के विरुद्ध हों और प्रत्यक्ष अनुभव तथा वास्तविक घटना के अनुकूल न हों। उपन्यास, कथानक आदि कला के ग्रन्थों में ऐसी अनेक घटनाओं का वर्णन होता है जो परस्पर विरोधी नहीं होती और इसी लिये सत्य प्रतीत होती है। कलाकार कल्पना से नवीन जगत् की सृष्टि करता है। जहाँ ये घटनायें घटित हुई हैं, वहाँ के अनुसार ये घटनायें सत्य हैं जब तक उनमें हमारे विचार के नियमों का पालन होता है। परंतु इन घटनाओं का हमारे वास्तविक जगत् से सम्बन्ध नहीं। विज्ञान कला के सत्य को असत्य नहीं कहता; परंतु अपने क्षेत्र में वह यह अनिवार्य समझता है कि हमारे नियमों की कल्पना और विचारों का आविष्कार न केवल परस्पर व्याघात-शून्य हों, परंतु साथ ही हमारे प्रत्यक्ष अनुभव के भी अनुकूल हों। हमारे प्रत्यक्ष अनुभूत ज्ञान और हमारे विचारों की परस्पर अनुकूलता का नाम ही परतः संवाद है।

विज्ञान में प्रत्यक्ष अनुभव के लिये आदर का स्थान है। मध्य-युग में धार्मिक विश्वासों की प्रबलता के कारण, धर्म ग्रन्थ तथा धार्मिक नेता आदि को ही ज्ञान का स्रोत माना जाता था। अपने किये हुए अनुभव पर मनुष्य को विश्वास न था। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया से विज्ञान की उत्पत्ति हुई। इसलिये आधुनिक विज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव को ही वैज्ञानिक गवेषणा की प्रथम और मुख्य भूमि समझता है। दूसरे, प्रत्यक्ष अनुभव स्पष्ट और वस्तु-गत होने के कारण सर्व साधारण और सर्व मान्य होता है जितना कल्पना या विचार आदि नहीं हो सकते। इसलिये सामान्य नियमों की कल्पना करने के लिये इस बात पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है कि ये नियम प्रत्यक्ष अनुभव के अनुकूल हों। यह अन्वेषण करनें में सत्य की एक कसोटी है।

(घ) प्रवृत्ति-साफल्य-सिद्धान्त—वस्तुतः आधुनिक विज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव के प्रति यह भाव अत्यन्त आदर का है। यह तो ठीक है कि हमारा

विचार प्रत्यक्ष का विरोध न करे, परंतु मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में और भी कई प्रकार के अनुभव हैं जो समान रूप से आदरणीय हैं, जैसे, हमारी भावनायें और स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ। अनेक विचार ऐसे होते हैं जिनका आधार प्रत्यक्ष अनुभव न होने पर भी वे मनुष्य की उदात्त और सर्व साधारण भावना के अनुकूल हैं और इसीलिये सत्य हैं। उदाहरण स्वरूप, मनुष्य में धार्मिक भावना स्वाभाविक और साधारण है। वह कुछ वस्तुओं को आदर और श्रद्धा के योग्य समझता है। मनुष्य में विश्वास करने के लिये भी उतनी ही प्रबल प्रवृत्ति विद्यमान है जितनी भोजन आदि के लिये। इसी प्रवृत्ति के कारण वह ऐसी अनेक वस्तुओं में विश्वास करने लगता है जिनका कोई प्रत्यक्ष आधार नहीं। पुण्य और पाप, प्रसाद और दण्ड, मृत्यु के उपरान्त जीवन, आत्मा की अमरता, ईश्वरीय शक्तियों का जगत् में शासन, सृष्टि का नैतिक विधान, प्रकृति में उद्देश्य की पूर्ति, आदि अनेक विषय हैं जो प्रत्यक्ष अनुभव को आधार मानने वाले विज्ञान के लिये अवास्तविक हैं। परंतु मानव-जीवन के लिये ये विचार न केवल उदात्त और आदरणीय हैं, साथ ही जीवन में प्रवृत्ति की सफलता के लिये अनिवार्य हैं। यदि इनको एक बार बिल्कुल त्याग दिया जाय तो मनुष्य-जीवन घृणित, निरुद्देश्य और निरर्थक हो जायगा। सत्य का मूल्य मनुष्य के लिये इसी कारण से है क्योंकि इसके द्वारा जीवन में सार्थकता आ जाती है। अतः आधुनिक विचार-विज्ञान प्रवृत्ति की सफलता को भी सत्य की कसौटी मानता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार, विचार और कल्पना द्वारा जिस सत्य का आविष्कार किया जाता है, वह सत्य वास्तव में प्रवृति की सफलता के लिये साधन मात्र है। विचार का स्वयं विशेष मूल्य नहीं, वह स्वयं साध्य नहीं, साधन है। साधन की सत्यता और मूल्य साध्य की सफलता ही है। इसलिये यदि कोई विचार प्रत्यक्ष अनुभव पर आश्रित नहीं, परन्तु किसी प्रवृत्ति को सफल बनाता है, तो वह सत्य है। यदि ऐसे सत्य की कल्पना की जाये जिसका आधार अवश्य प्रत्यक्ष अनुभव हो, परन्तु हमारी मूल इच्छाओं का विरोधी हो तो मनुष्य विश्वास के लिये स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण उसे सत्य स्वीकार ही न कर सकेगा। इसलिये सत्य को सत्य होने के लिये प्रवृत्तियों के अनुकूल होना चाहिये।

यह मत पृथक् होकर, मान्य नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी प्रवृत्ति और भावना के वश में होकर अनेक वास्तविक सत्यों को त्याग देता है। असत्य का कारण ही यह है कि हमें हमारी आदर, प्रेम, द्वेष आदि की भावना परवश कर देती हैं। मनुष्य ने बहुत संघर्ष और बलिदान के पश्चात् बौद्धिक स्वाधीनता प्राप्त की है। हमारे समय में अनेक राजनैतिक और आर्थिक मतवाद प्रचलित हो गये हैं जो कट्टरता और धर्मान्धता में बाँध कर बुद्धि को पुनः परतंत्र कर देना चाहते हैं। एक ओर तो भय का कारण यह मतान्धता है, दूसरी ओर विज्ञान ने बुद्धि को प्रधानता देने के कारण जीवन के दूसरे पहलुओं को निराद्दत कर दिया है, जिससे जीवन के लिये आवश्यक अनेक सत्य बुद्धि के चकाचौंध करने वाले प्रकाश में धुंधले पड़ गये हैं। दोनों ओर भय है। इस अवस्था में विचार-विज्ञान सत्य का निर्णय कैसे करे?

यहाँ हमें प्रकृति में एकता का सिद्धान्त मानना चाहिये। जीवन के सम्पूर्ण अंगों और अनुभवों का सामञ्जस्य सत्य के लिये आवश्यक है। केवल बौद्धिक सत्य, सत्य नहीं जिसके द्वारा जीवन में भावना और प्रवृत्ति का विरोध होता हो। परन्तु इस सामञ्जस्य को बनाने के लिये, बुद्धि की प्रधानता आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार जैसे एक सभा को चलाने के लिये, यद्यपि सभी सदस्य समान हैं, एक सभापति चाहिये। मानव-इतिहास के विकास में, बुद्धि उत्तरोत्तर स्वतंत्र होकर अपने नियमों के अनुसार चलती हुई ऐसे नवीन सत्यों का उद्घाटन करती है जिनके प्रभाव से भावना अधिक उदात्त और प्रवृत्ति अधिक सफल बनती गई है। बुद्धि के प्रकाश के बिना भावना अन्धी और विकृत तथा प्रवृत्ति विफल होती रही है। साथ ही, प्रबल और उदात्त भावना तथा विशुद्ध प्रवृत्ति सदा ही बुद्धि को शक्ति प्रदान कर सत्य के अन्वेषण के लिये अधिकाधिक योग्य और स्वतंत्र बनाती हैं।

कार्य-कारण-सिद्धान्त

यह कहा जा चुका है कि प्रकृति घटनामय है; परिवर्तन उसका स्वभाव है। यह परिवर्तन नियमित है, क्योंकि प्रत्येक प्राकृतकि वस्तु अपने स्थिर और निश्चित स्वभाव के अनुसार ही व्यवहार करती है। इस परिवर्तन का क्या नियम है? किसी वस्तु का ज्ञान उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक हम उसके परिवर्तन के नियम को निश्चित रूप से न समझ सकें। यदि दूध बदल कर कभी दही, कभी पानी, कभी और कुछ वस्तु हो जाया करे तो दूध का कोई अपना स्वभाव नहीं और उसका समझना हमारी बुद्धि के बाहर है। अतः हमें विज्ञान के लिये यह स्वीकार करना आवश्यक है कि वस्तुओं का परिवर्तन निश्चित नियम के अनुसार ही होता है।

किसी वस्तु के परिवर्तन में दो घटनायें होती हैं—पहली, वस्तु का पूर्व रूप और दूसरी, उसका परिवर्त्तित रूप। यहाँ पहली और दूसरी घटनाओं का निश्चित संबंध है जिनमें पहली को कारण और दूसरी को कार्य कहेंगे। दूध से दही बन जाना—बीज से वृक्ष की उत्पत्ति आदि में पहला रूप कारण और दूसरा कार्य कहलायगा। यह कार्य-कारण संबंध वैज्ञानिक गवेषणा का आधार है। हम कार्यों के कारण और कारणों के कार्य की खोज करते हैं जिससे हमें वस्तुओं के स्वरूप का निश्चित ज्ञान हो सके। यदि कारण का कार्य से निश्चित संबंध है तो कारण और कार्य एक ही वस्तु के दो भिन्न कालिक स्वरूप हैं जिससे उस वस्तु की निश्चित समझ हमें प्राप्त हो सकेगी। यदि हम इसे अस्वीकार करें तो विज्ञान असम्भव हो जायगा।

ऊपर के अनुसार हमें मानना होगा कि प्रत्येक कार्य का कारण और प्रत्येक कारण का कार्य होता है। कोई घटना अकारण नहीं होती। यदि हम कोई परिवर्तन देखते हैं तो उसका अवश्य ही निश्चित कारण होना चाहिये। यदि बिना कारण भी कोई घटना हो सकेगी, तो हम प्रकृति का स्वरूप न समझ सकेंगे। किसी भी घटना का प्रारम्भ दैवात् या अकस्मात् नहीं हो सकता,

क्योंकि उस दशा में हमारे लिये वह घटना रहस्यमयी और अविज्ञेय हो जायगी। विज्ञान ने कार्य-कारण सिद्धान्त को अपना आधार मानकर अनेक ऐसी घटनाओं के जिन्हें हम अविज्ञेय और दैविक समझते थे, स्वरूप का निश्चय किया है। विद्युत्, वर्षा, भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वत का उद्गार, तारों का आकाश में टूटना, आदि अनेकानेक घटनायें हैं, जिनके विषय में अज्ञान के कारण हमें भ्रान्त धारणायें थीं। हम इन्हें अज्ञेय समझते थे। परन्तु विचार के कार्य-कारण-सिद्धान्त के कारण प्रकृति की अनेक घटनायें, चाहे वे दुर्विज्ञेय हों परन्तु अज्ञेय नहीं। घटनाओं का परस्पर कार्य-कारण संबंध समझ में आने से अब उनमें रहस्य भी नहीं मालूम होता और हमारा अनुभव और ज्ञान निश्चित, संगठित और सूत्र बद्ध हो गया है।

यह सिद्धान्त इतना आवश्यक और उपयोगी सिद्ध हुआ है कि वर्तमान विज्ञान अनेक घटनाओं और वस्तुओं के कारण की गवेषणा करना अपना मुख्य ध्येय मानता है। चिकित्सा-विज्ञान अनेक रोगों के स्वरूप को जानना चाहता है, परन्तु इनके स्वरूप का निश्चित ज्ञान पाने के लिये वह इनके कारणों को जानना चाहता है। प्रत्येक रोग एक प्राकृतिक घटना है, चाहे वह रोग मानसिक हो या शारीरिक। यह घटना अकारण, अकस्मात् या दैवी कारणों से नहीं हो सकती। इसका कारण भी प्राकृतिक होना आवश्यक है जिसका निश्चय हम निरीक्षण द्वारा कर सकें। इसको मान कर वर्तमान चिकित्सा-विज्ञान ने बहुत सी उपयोगी गवेषणायें की हैं। इसी प्रकार दूसरे विज्ञानों में प्राकृतिक घटनाओं की खोज हुई है। इतिहास, अर्थशास्त्र, समाज-शास्त्र आदि मानव-शास्त्रों में भी कार्य-कारण सिद्धान्त लागू होता है। इस लिये इनमें भी युद्ध और क्रान्ति, दीनता और वैभव आदि अनेक घटनाओं पर वैज्ञानिक प्रकाश डाला गया है। स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त विज्ञान की आधार शिला है।

कारण का स्वरूप : इस विषय में अनेकों मतवाद हैं। हमारा प्रयोजन इनको समझने का इस लिये है कि इनके द्वारा हम विज्ञान के व्यावहारिक मत को समझ सकेंगे। अरस्तू के मतानुसार किसी वस्तु के लिये चार कारण होने चाहिए। (१) उपादान अथवा वास्तु कारण—वह है जिस मूल वस्तु से दूसरी वस्तु की उत्पत्ति हो। कोई पदार्थ शून्य से उत्पन्न नहीं होता। उसकी

उत्पत्ति के लिये कोई उपादान या आश्रय होना चाहिए। वस्तु से वस्तु की उत्पत्ति होती है, अवस्तु से वस्तु की नहीं। कारण-वस्तु का नाम ही उपादान कारण है (२) किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए दूसरा कारण वह चेतन व्यक्ति है जो इसे रूप देता है। वह इसका चेतन या व्यक्ति कारण कहलायेगा। घड़े के लिये यदि मिट्टी उपादान है तो कुम्हार उसका चेतन कारण है। (३) यह चेतन कर्त्ता कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसकी कल्पना करता है। उत्पत्ति से पूर्व रूप की कल्पना कार्य के लिये आवश्यक है। यह उसका स्वरूप-कारण है। (४) जिस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये उस कार्य की उत्पत्ति हुई है; वह उसका चरम कारण है।

कारण के विषय में यह पुराना मत है; साथ ही, किसी दी हुई घटना के कारण का पता लगाने के लिये यह अनुपयुक्त है। प्राकृतिक घटना में चेतन, स्वरूप और चरम कारण का निश्चय करना कठिन है। इसलिए वह वर्त्तमान विज्ञान को मान्य नहीं। इसके अनन्तर दूसरा मत है जिसके अनुसार कारण एक शक्ति है, जिससे कार्य की उत्पत्ति होती है। जल से यदि प्यास बुझ जाती है तो इसका अर्थ है कि जल में प्यास बुझाने की शक्ति है और यही कारण है। इस प्रकार प्रत्येक प्राकृतिक पदार्थ में एक शक्ति निहित रहती है जो कार्य की उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। इस मत के अनुसार शक्ति ही कारण है।

यह मत भी हमें मान्य नहीं, क्योंकि हम शक्ति का निरीक्षण नहीं कर सकते। शक्ति वस्तु में निहित अप्रत्यक्ष कोई सत्ता है जो विज्ञान के लिये उपयोगी नहीं। विज्ञान का दृष्टि-कोण अपने अनुभव द्वारा वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना है। जिस वस्तु का अनुभव सम्भव नहीं वह रहस्यमयी होने से विज्ञान के लिये व्यर्थ है। यह मत योरोप में मध्य युग में प्रचलित था।

भारतीय दर्शन में कारण के स्वरूप पर पर्याप्त साहित्य है। संक्षेप में, ये मत इस प्रकार हैं—

सत्कार्यवाद : कार्य, जैसे घट, अपनी उत्पत्ति से पूर्व, अपने कारण, मिट्टी, में विद्यमान रहता है। पट भी अपनी उत्पत्ति से पूर्व तन्तुओं में, कंकण सुवर्ण में, वृक्ष अपने बीज में, विद्यमान है। इस लिये कारण में विद्यमान (सत्) रहते हुए ही कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि कार्य अपनी उत्पत्ति पूर्व कारण में विद्य-

मान न होता तो एक बिल्कुल नवीन वस्तु का सत्ता पाना मानो शून्य से किसी अस्तित्व की उत्पत्ति मानना है। परन्तु कारण और कार्य का सम्बन्ध निश्चित है। तिल से तेल, दूध से दही, पट से तन्तु तथा बीज-विशेष से ही वृक्ष विशेष की उत्पत्ति होती है, इस लिये कार्य को अवश्य ही कारण में अपनी उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान मानना चाहिए।

सत्कार्यवाद के दो विभाग हैं, एक परिणामवाद, दूसरा विवर्त्तवाद। इनमें परिणामवाद सांख्य का मत है। इसके अनुसार, कारण में कार्य विद्यमान तो अवश्य है, परन्तु हम उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर पाते। मिट्टी में घट विद्यमान है, किन्तु घट का स्वरूप और उसका उपयोग वास्तविक नहीं, उसमें अन्तर्हित है। कार्य का उत्पन्न होना मानो इन्हीं अन्तर्हित गुणों का व्यक्त या स्पष्ट हो जाना है। कारण में कुछ परिवर्त्तन या परिणाम न होने से उसमें कुछ रूपांतर अवश्य होता है। इस लिये कार्य की उत्पत्ति कारण के परिणाम से होती है। वस्तुतः कारण और कार्य में कोई अन्तर नहीं। कारण कार्य की अव्यक्त अवस्था है जिसमें कार्य का तिरोभाव हो जाता है। कार्य कारण की व्यक्त अवस्था है जिसमें परिणाम अथवा रूपांतर के अनन्तर कारण का आविर्भाव हो जाता है। कारण का परिमाण वास्तविक और प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है।

सांख्य दर्शन के इस मत का विरोध वेदान्त का विवर्त्तवाद करता है। विवर्त्तवाद के अनुसार, कारण और कार्य में केवल व्यावहारिक और अवास्तविक भेद है। यदि कारण का रूपांतर या परिणाम वास्तविक या तात्विक हो तो फिर एक नये कार्य की उत्पत्ति हमें माननी पड़ेगी। यदि सोने से कुण्डल या कंकण बनाते समय सोने का तात्विक रूपांतर हो जाता तो कार्य में सोना न दिखाई पड़ता। परन्तु कार्य में कारण, कङ्कण में सुवर्ण, पट में तन्तु विद्यमान रहता है। इसी प्रकार कारण में कार्य भी रहता है। तब तो कारण और कार्य तत्त्वतः एक ही हैं। कारण में जो रूपांतर हमें प्रतीत होता है, वह केवल ऊपरी है। हाँ, हम सोने का प्रयोग उसी प्रकार नहीं कर सकते जैसे कानों में कुण्डल का, या हाथों में कङ्कण का। परन्तु प्रयोग के अतिरिक्त, कारण में और कोई परिवर्त्तन या परिणाम वस्तुतः नहीं होता। तात्विक दृष्टि से दोनों समान हैं। सुवर्णकार इसी दृष्टि से सोने को देखता है, परन्तु उपयोग करने वाला व्यक्ति

ण और मुकुट आदि सोने के भिन्न-भिन्न विकारों में अवास्तविक भेद-बुद्धि ता है।

परिणामवाद और विवर्त्तवाद दोनों ही दार्शनिक मत हैं जिनका महत्त्व मान दर्शन-शास्त्र खूब जानता है। हमें इनका कोई उपयोग नहीं, क्योंकि ज्ञान जिस दृष्टिकोण से अपने क्षेत्र में ज्ञान अर्जन करता है, वह दार्शनिक ीं, वैज्ञानिक है। हमारे लिए केवल इतना महत्त्व है कि हम कार्य-कारण-द्धान्त के विषय में इन दोनों दृष्टिकोणों के भेद को समझें। दोनों ही कार्यवादी हैं; परन्तु इनमें सांख्य सिद्धान्त व्यवहार से उत्पन्न हुए कारण र कार्य के भेद को वास्तविक मानता है। विज्ञान इसके साथ सहमत है, ोंकि हम निरीक्षण द्वारा 'रूपान्तर' या 'परिणमन' क्रिया का अध्ययन कर कते हैं। दूसरे, इस मत के अनुसार कारण और कार्य का संबंध निश्चित, यत और दृढ़ हो जाता है। विवर्त्तवाद केवल दार्शनिक की दृष्टि से कार्य-ारण सम्बन्ध को देखता है, प्रयोग की दृष्टि से नहीं। वर्त्तमान विज्ञान जहाँ ार्शनिक ऊँचाई पर पहुँच जाता है, वहाँ उसके लिए भी यह सारा विश्व किसी क मूल तत्त्व के परिणाम दिखाई पड़ते हैं, जो ऊपर से भिन्न होते हुए भी स्वतः एक हैं।

सत्कार्य का विरोधी मत असत्कार्यवाद है। यह व्यवहार और प्रत्यक्ष अनु-व को ही अपना आधार मानता है। इसके अनुसार, कार्य घट आदि अपनी त्पत्ति से पूर्व न (असत्) था। यदि कहें कि मिट्टी में विद्यमान था तो हमने हाँ इसका उपयोग या अनुभव क्यों नहीं किया? यदि घट की वास्तविक त्पत्ति के पूर्व उसका अनुभव हम नहीं कर सकते तो मिट्टी में घट का होना वल काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। हम मिट्टी को मिट्टी, और घड़े को घड़ा कहते, उपयोग करते और जानते हैं। मिट्टी से घड़ा बनाने के लिए प्रयत्न करते जिसका अर्थ है कि घड़ा पहले मौजूद न था। अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से र्व किसी वास्तविक, अनुभव गम्य अवस्था में विद्यमान नहीं रहता।

असत्कार्यवाद के भी दो रूप हैं। पहला न्याय दर्शन का मत आरम्भवाद , दूसरा बौद्ध दर्शन के अनुसार शून्यवाद।

आरम्भवाद : कार्य, इसके अनुसार, एक नवीन 'आरम्भ' है जो किसी

निश्चित समय, स्थान और परिस्थिति में उत्पन्न या प्रारम्भ होता है। यह मत विज्ञान के लिये उपयोगी है, क्योंकि हमारा साधारण अनुभव भी हमें यही निर्देश करता है। परन्तु कार्य यदि 'निश्चित परिस्थिति' से उत्पन्न होता है तो उसका अपने कारण से विशेष संबन्ध है। कारण की गवेषणा करने के लिए हमें उस परिस्थिति को जानना चाहिए। इसका विश्लेषण न्याय इस प्रकार करता है। कारण-परिस्थिति में पहला तो समवायी कारण है। यह अरस्तू का उत्पादन कारण ही है। मिट्टी से घड़ा बनता है। घड़े के लिए मिट्टी आवश्यक है। घड़े से मिट्टी को पृथक् नहीं किया जा सकता। यह उसका समवायी कारण है। घड़े के रूप, उसके भाग आदि उसके असमवायी कारण हैं और घड़े की उत्पत्ति के लिए आवश्यक चक्र, डोरी आदि निमित्त कारण हैं।

यह मत 'निश्चित परिस्थिति' पर विचार करने के कारण अपनी स्थिति को छोड़ देता है, क्योंकि यदि कार्य का आरम्भ अकस्मात् नहीं होता, यदि इसका 'कारण-सामग्री' जिससे यह उत्पन्न होता है विशेष और घनिष्ट सम्बन्ध है, तो हमें मानना होगा कि कारण में कार्य, किसी न किसी रूप में विद्यमान है। परन्तु हम विज्ञान के लिए इस विद्यमानता को विशेष महत्त्व नहीं देते, क्योंकि इसका कोई अनुभव सम्भव नहीं। इसलिए न्याय-सिद्धान्त का महत्त्व हमारे लिए इतना ही है कि इसके अनुसार कार्य की उत्पत्ति निश्चित कारण से होती है जिसका हम अनुभव द्वारा विश्लेषण कर सकते हैं।

शून्यवाद : बौद्ध दर्शन के अनुसार संसार क्षणिक है जिसका तात्पर्य है कि हमारा अनुभूत जगत् काल का बहता हुआ प्रवाह है। परन्तु काल निरन्तर प्रवाह-शील 'क्षणों' का 'संतान' है। प्रति क्षण भिन्न है, क्योंकि प्रवाह में पहला क्षण और दूसरा क्षण लगातार होते हुए भी एक समान नहीं। वे दोनों एक साथ हो ही नहीं सकते, न उनका सम्बन्ध और क्रम बदला जा सकता है। इसलिये पहले क्षण की समाप्ति से दूसरे क्षण की उत्पत्ति होती है। इसलिए हमें मानना चाहिये कि शून्य से कार्य की उत्पत्ति होती है। यदि कारण भी पहले क्षण के अनंतर बना रहे, तो इसका अर्थ है कि दूसरा क्षण प्रारंभ ही नहीं हुआ, जिसका अर्थ है कि 'काल' नामक अनुभव केवल हमारा भ्रम है। यदि हमारा क्षणिक काल का अनुभव सत्य है तो हमें मानना

चाहिये कि कारण पहले क्षण में नष्ट हो गया तब दूसरे क्षण इस 'विनाश' अथवा 'शून्य' से कार्य की उत्पत्ति हुई। इससे जब बीज नष्ट हो जाता है तब उससे वृक्ष की उत्पत्ति होती है। यदि बीज में कोई परिवर्तन उत्पन्न न हो तो वृक्ष ही उत्पन्न न होगा। परंतु यदि परिवर्तन वास्तविक है तो विनाश या शून्य से कार्य की उत्पत्ति माननी चाहिये।

यह मत ऊपर से विचित्र होते हुए भी वस्तुतः आधुनिक दार्शनिकों को मान्य है। काल या परिवर्तन अनुभव की वस्तु है। यदि हमें अपने अनुभव पर विश्वास करना स्वीकार है तो हमें मानना चाहिये कि क्षण-क्षण होनेवाले परिवर्तन अथवा काल-सन्तान में बहनेवाले रूपान्तर वास्तविक हैं, काल्पनिक नहीं। परन्तु यदि एक परिणाम या परिवर्तन वास्तविक है तो उसका दूसरे परिणाम से कोई संबंध नहीं, यह न्याय संमत है। हमारे लिए इस मत का महत्त्व इतना है कि आधुनिक विज्ञान भी घटना-क्रम को काल-क्रम के अनुसार ही मानता है। काल-क्रम विपरिवर्त्तनीय नहीं होता। कारण और कार्य भी काल-क्रम के अनुसार होने के कारण विपरिवर्त्तनीय नहीं होते। कारण पहली घटना का नाम है तो इसके अनंतर होनेवाली घटना का नाम कार्य है।

कार्य-कारण पर वैज्ञानिक विचार : आधुनिक विज्ञान इन दार्शनिक मतवादों में न पड़कर अपने लिये उपयोगी बातों को सबसे ग्रहण करता है। विज्ञान कारण की गवेषणा करता है, इसलिये उसके लिए कारण के ऐसे लक्षण ज्ञात होने चाहियें जिनके द्वारा हम अनुभव, निरीक्षण और प्रयोग का सहारा लेकर, उसका पता लगा सकें। विज्ञान के लिए अनुभूत घटना का कारण, चाहे वह सत् हो या असत् या शून्य, इसलिए और भी अधिक है क्योंकि इसके जानने से हम प्रकृति के सामान्य नियम समझ सकते हैं। इसलिए अपने अनुभव के आधार पर अपने चारों ओर घटनेवाली घटनाओं का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए जिस कारण की हमें आवश्यकता है, वही हमें मान्य होगा।

सर्व प्रथम हमें यह मानना होगा कि कार्य का कारण से निश्चित, नियत जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय, अनुभव-गम्य और गवेषणीय संबंध है। हमारा

साधारण अनुभव किसी विशेष घटना तक ही सीमित है। हम किसी परिवर्तन, परिणाम या घटना का निरीक्षण कर सकते हैं; इन घटनाओं के पीछे अंतर्हित किसी अदृश्य-शक्ति का अनुभव साधारण नहीं है। इसलिए हम मानते हैं कि कार्य-कारण संबंध घटनात्मक संबंध है। कार्य एक घटना है, कारण दूसरी घटना। इन दोनों का निश्चित संबंध है जिसका निरीक्षण संभव है। घटना के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु कारण नहीं। विद्रोह, मूल्य का अधिक हो जाना, युद्ध, क्रांति, सूर्य-ग्रहण, समुद्र में एक नये टापू का निकलना, नयी झील का बनना, वर्षा, पाला, ओस आदि अनेक प्राकृतिक घटनायें हैं जिनका अध्ययन भिन्न-भिन्न विज्ञान करते हैं। ये घटनायें कार्य हैं; इनके कारण भी घटनायें ही हैं। कार्य-कारण सम्बन्ध दो घटनाओं का परस्पर सम्बन्ध है।

घटनाओं में क्रम होता है जिसका अनुभव संभव है। यह क्रम काल का क्रम है जिसमें 'पूर्व' और 'पर' का सम्बन्ध होता है। कार्य-कारण संबंध कालात्मक या घटनात्मक है, जिसका अभिप्राय है कि उनमें 'पूर्व' और 'पर' का सम्बन्ध है। घटनाओं में 'पूर्वापर' सम्बन्ध होता है जिनमें 'पूर्व' घटना को कारण और 'पर' घटना को कार्य मानते हैं। हम वायु का भार कम होने के उपरांत आँधी के प्रचंड वेग का अनुभव करते हैं। इनमें वायु के भार की कमी 'पूर्ववर्त्ती' घटना है, इसलिये यह घटना कारण है। 'वायु का प्रकोप' यह 'परवर्त्ती' घटना है, इसलिये यह घटना कार्य है। अतः घटनाओं का पूर्वापर विशिष्ट सम्बन्ध ही कार्य-कारण सम्बन्ध का आधार है।

हम केवल एक घटना को न कारण ही कहते हैं, न कार्य। कारण उसी समय उत्पन्न होता है जब उसका संबंधी कार्य भी हो। अत: कार्य-कारण सम्बन्ध, सभी सम्बन्धों की भाँति, द्विस्थ या दो पदार्थों में रहनेवाला होता है, एकस्थ नहीं। वायु के भार की कमी आँधी का कारण है, क्योंकि यह आँधी की पूर्ववर्त्ती घटना है। परंतु यह स्वयं भी कार्य है, क्योंकि इसके पूर्व भी 'गर्मी का आधिक्य' होता है। इसलिये 'गर्मी की अधिकता' वायुभार की कमी का कारण है। इसी भाँति गर्मी की अधिकता भी स्वयं अपने पूर्ववर्त्ती घटना का कार्य है। जैसे, खगोल में दूरवीक्षण यंत्रों से पता लगाया है कि जब कभी 'सूर्य के धब्बे' किसी स्थान पर सम्मुख आ जाते हैं तो उस स्थान का तापक्रम

अधिक हो जाता है। इस प्रकार एक घटना दूसरे का कारण होती है, वही घटना अपनी पूर्ववर्त्ती घटना का कार्य बन जाती है। घटनाओं का यह अनंत 'पूर्वापर क्रम' एक श्रृङ्खला की भाँति उन्हें कार्य-कारण नियम में बाँधे रखता है। द्विस्थ होने के कारण यह सम्बन्ध आगे और पीछे दूर तक चला जाता है जिससे हम सृष्टि के नियमों को सरलता से समझ पाते हैं।

घटनाओं का 'पूर्वापर क्रमिक और द्विस्थ' सम्बन्ध किसी ऐसी दो घटनाओं में भी संभव है जो समय या स्थान में एक दूसरे से दूर हों। यदि अमेरिका में एक अग्नि की गेंद आकाश में उड़ती दिखाई दी और उसके अनंतर उत्तर प्रदेश में दुर्भिक्ष पड़ा तो दोनों घटनायें 'पूर्वापर' होते हुए भी एक दूसरे से कार्य-कारण का सम्बन्ध नहीं रखतीं। इनमें 'देश' का अत्यधिक अंतर है और हमें इसका अनुभव नहीं कि एक अमेरिका के आकाश में होनेवाली घटना किस प्रकार हमारे देश में दुर्भिक्ष का कारण हो सकती है। इसी प्रकार यदि एक घटना तीसरी शताब्दी में हुई हो तो वह बीसवीं शताब्दी की किसी घटना का कारण न होगी। यदि दो घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध है तो वे घटनायें समय और देश के अनुसार 'समीपस्थ' या 'निरंतर' होनी चाहिये। घटनाओं का 'नैरन्तर्य' उनको कार्य-कारण बनाने के लिए आवश्यक है।

यहाँ सावधानता की आवश्यकता है। दो घटनाओं के समीप और निरंतर होने का तात्पर्य यह नहीं कि वे एक ही देश, स्थान और एक ही समय में हों। बहुत सी घटनायें ऐसी भी होती हैं जो दूरस्थ होते हुए भी एक दूसरे का कारण होती हैं। हमारे युग में संसार की आर्थिक, राजनैतिक, तथा सामाजिक परिस्थितियाँ एक दूसरे से इतनी जुड़ी हुई हैं कि एक देश की घटना का प्रभाव दूर देशों में भी पड़ता है। यदि वर्षा न होने के कारण या किसी अन्य कारण से मिश्र या अमेरिका में कपास न हो या ये देश न भेज सकें या न देना चाहें तो हमारे देश में सूती वस्त्रों का भाव बढ़ जायगा। इसी भाँति अन्य क्षेत्रों में भी दूरस्थ प्रभावों को केवल दूर होने के कारण हम छोड़ नहीं सकते। न केवल मानवी क्षेत्रों में जिनमें वैज्ञानिक उन्नति ने घनिष्ठ सम्बन्ध उत्पन्न कर दिया है, किंतु प्राकृतिक क्षेत्रों में कभी-कभी समय और स्थान की दूरी होते हुए भी घटनाओं में कार्य कारण सम्बन्ध होता है। समुद्र की धारायें, वायु की गति

और दिशाएँ, भूकंप, ऐतिहासिक विकास आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनमें कारण किसी एक स्थान और समय में होने पर भी दूर की घटनाओं को उत्पन्न करती हैं। वस्तुतः प्रकृति विशाल है जिसमें वायु, ताप, भौगोलिक परिस्थितियाँ, पृथ्वी की गति, बनावट आदि एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इसलिये दूर होते हुए भी अनेक घटनाएँ एक दूसरे का कारण होती हैं।

तब प्रश्न है कि कार्य-कारण संबंध के लिए दो घटनाओं का 'समीप' और 'निरंतर' होना आवश्यक है, इसका क्या अभिप्राय है? यदि ऐसा न हो, तो कोई भी घटना किसी समय या स्थान में होने से किसी भी घटना का कारण हो सकती है। परंतु इससे तो अनियम उत्पन्न होगा और विज्ञान असंभव हो जायगा? विचार-विज्ञान यहाँ 'समीप' और 'निरंतर' इन दोनों शब्दों का अर्थ निश्चित कर सकता है। 'समीप' का अर्थ केवल इतना है कि दो घटना जो कार्य-कारण संबंध रखती हैं, एक दूसरे को प्रभावित करने के योग्य होनी चाहिए। अमेरिका के रौकी पर्वत पर होनेवाली घटना का उत्तर-प्रदेश में होनेवाले चुनाव पर दूरस्थ प्रभाव होगा। परंतु फ़ारस की खाड़ी में पड़नेवाले सूर्य के ताप का पंजाब और उत्तर-प्रदेश में आनेवाले तूफ़ानों पर प्रभाव पड़ता है। इसी भाँति यदि दो घटनाएँ, चाहे समय और स्थान की दूरी कितनी ही हो, एक दूसरे को प्रभावित कर सकती हैं तो वे समीपस्थ ही कहलायेगीं। यदि किसी रोगी के रोग पर जिस खाट पर वह सोया है, उसका कोई प्रभाव नहीं तो वह दूरस्थ ही रहेगी। 'दूर' और 'समीप' की यह परिभाषा परस्पर प्रभाव पर ही आश्रित है।

'निरंतर' का अर्थ भी यही है कि दो घटनाओं के बीच में, चाहे देश या काल का कितना ही अंतर हो, किसी दूसरे प्रभाव का अस्तित्व न होना चाहिए। यदि सूर्य-ग्रहण के अनंतर किसी नगर में उपद्रव या महामारी का प्रकोप हुआ तो वस्तुतः सूर्य-ग्रहण इन घटनाओं का कारण नहीं, क्योंकि इन दोनों घटनाओं के बीच में और भी कई घटनाएँ हुई हैं जो इनका कारण हैं। इसलिए बिना प्रभाव के केवल स्थान और समय की 'निरंतरता' कार्य-कारण संबंध के लिए पर्याप्त नहीं, यद्यपि आवश्यक है। हमारे बहुत से अंध-विश्वास केवल इस नियम की अवज्ञा से उत्पन्न होते हैं।

वैज्ञानिक 'प्रभाव' का निश्चय किस प्रकार करता है? यदि सूर्य-ग्रहण के

अनंतर समुद्र में बवंडर उठा हो, तो हम निश्चय ही नहीं कह सकते कि केवल पूर्ववर्त्ती, निरंतर समीप होनेवाली घटना होने से सूर्य-ग्रहण बवंडर का कारण है। अन्य प्रभावों की संभावना की जा सकती है। परंतु यदि सर्वदा जब कभी सूर्य-ग्रहण हो और उसके अनंतर बवंडर उठे तो हमें अवश्य ही दोनों के संबंध की संभावना होगी। यदि अन्य कोई घटना ऐसी नहीं है जो बवंडर के पूर्ववर्त्ती हो तो हमारा विश्वास और भी दृढ़ हो जायगा। इसका तात्पर्य है कि कार्य-कारण संबंध के लिए दो घटनाओं में नियत, सर्व-कालिक क्रमिक संबंध होना चाहिए। यदि एक घटना नियत रूप से दूसरी घटना से पूर्व-काल में नहीं होती है तो इसका कारण न होना निश्चय है। अतः कारण-घटना का नियत-रूप से पूर्वकालिक होना अनिवार्य है।

कारण का नियत रूप से पूर्व-कालिक घटना होना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि घटना स्वयं एक व्यापार है जिसका अनुभव किसी द्रव्य या वस्तु के आश्रय से होता है। वस्तु का अपना स्वभाव होता है; उसी स्वभाव के अनुकूल उसमें परिवर्तन होता है। हम वस्तु के स्वभाव को उसके परिवर्तन या व्यापार का निरीक्षण करके जान पाते हैं। हमारा ज्ञान और विचार उस वस्तु के विषय में संभव हो सके, इसलिए हम उसके स्वभाव को नियत, ज्ञेय और निश्चित मानने को मानव-बुद्धि की आवश्यकता समझते हैं। नियत स्वभाव के कारण उसका परिवर्तन, परिणाम या व्यापार भी नियत होता है। यदि एक घटना नियत रूप से दूसरी घटना के पूर्व काल में होती है, तो वह अवश्य ही कारण है।

हमारे अनुभव में ऐसी भी कई घटनायें आती हैं जो नियत रूप से पूर्व-कालिक होती हुई भी कारण नहीं होतीं। ये घटनायें चक्र की भाँति होती हैं जैसे; ऋतु चक्र या दिन-रात्रि का चक्र। इनमें वर्षा से पहले गर्मी और गर्मी से पहले जाड़ा नियत रूप से सदैव होते हैं। परंतु न जाड़ा गर्मी का कारण है और न गर्मी वर्षा का। इसी प्रकार रात दिन से पूर्व और दिन रात से पूर्व नियत रूप से आते हैं। परंतु इनमें कार्य-कारण संबंध नहीं। ऐसी अवस्था और भी हो सकती हैं जिनमें दो घटनायें पूर्वापर नियत होने पर भी उनमें कार्य-कारण संबंध नहीं। ये घटनायें वस्तुतः एक ही कारण के दो फल होते हैं। इसके उदाहरण प्राकृतिक विज्ञानों में खूब मिल सकते हैं। जैसे, हम सदैव ही विद्युत् का

प्रकाश पहले देखते हैं और तदनन्तर 'निर्घोष' शब्द सुनते हैं। इन दशाओं में केवल 'नियत व्यापार' का नियम पर्याप्त नहीं।

वस्तुतः कोई व्यापार या घटना कारण है या नहीं, इस ज्ञान के लिए उसे अनिवार्य होनी चाहिए। 'अनिवार्य' का अर्थ व्यापक है। इसका एक तो अर्थ यह है कि इसके बिना कार्य संपन्न ही न हो सके। यदि दिन का रात से पहले होना नियत पूर्व-कालिक घटना है, परंतु रात और दिन दोनों के लिए सूर्य का स्थिर होना, पृथ्वी का अपनी कीली पर घूमना अनिवार्य है, तो इनके बिना कार्य की उत्पत्ति असंभव है। यदि कोई घटना किसी दूसरी घटनाओं के बिना सिद्ध न हो सके, तो हमें इनको कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञान के लिए कारण वह घटना है जिसके बिना कार्य और किसी प्रकार से सिद्ध न हो सके। कारण-घटना में से उन परिस्थितियों को निकाल दिया जाता है जिनके बिना भी कार्य संपन्न हो जाय। ये परिस्थिति 'अन्यथा सिद्ध' अथवा व्यर्थ या आकस्मिक हैं। अतः कारण-घटना अनन्यथा-सिद्ध और आवश्यक है जिसके बिना कार्य संपन्न होना असंभव हो जाय। न केवल इतना, वह घटना स्वाधीन और स्वयं पर्याप्त होनी चाहिए। यदि राजयक्ष्मा के कीटाणु बिना किसी और सहायता के भी स्वयं रोग उत्पन्न करने में समर्थ हैं तो अवश्य ये ही रोग के कारण हैं। इस प्रकार कोई घटना किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए अनिवार्य तभी कही जा सकती है जब वह अनन्यथा सिद्ध, आवश्यक, स्वाधीन और पर्याप्त हो। ऐसी घटना ही कारण कहलायेगी।

यद्यपि कारण एक ही घटना है, परंतु विश्लेषण करने से उसमें कई परिस्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं। सब मिलकर किसी कार्य को उत्पन्न करती हैं। इनमें कुछ का भाव या अस्तित्व कार्य के लिए अनिवार्य है, कुछ का अभाव। इन भावात्मक और अभावात्मक परिस्थितियों के सामञ्जस्य से कार्य की उत्पत्ति होती है। किसी देश में राज्य-क्रांति को लीजिए। इस घटना के कारण के लिए कई पूर्व-कालिक घटनायें होनी चाहिए, जैसे, किसी क्रांति के नेता का अवतीर्ण होना, प्रजा में असंतोष, नये युग का स्वप्न, लोगों के हाथ में शक्ति तथा राज्य-शक्ति का अभाव आदि। ये सब घटनायें सम्मिलित होकर क्रांति का कारण होती हैं। इसी भाँति किसी प्राकृतिक या सामाजिक फल की उत्पत्ति के लिए कई परिस्थितियों का सम्मिलित होना अनिवार्य है।

परिस्थिति और कारण में अंतर है। वह यह कि कारण अनेक, भाव रूप और अभाव रूप, परिस्थितियों का संगठित समुदाय है। प्रत्येक परिस्थिति कारण-घटना के अंतर्गत स्वयं एक घटना है। परंतु वह स्वाधीन नहीं। अन्य घटनाओं के साथ मिलकर ही कार्य की उत्पत्ति के लिए वह समर्थ हो सकती है। इनमें कुछ परिस्थिति तो सामग्री रूप से उपस्थित रहती हैं और कार्य की उत्पत्ति के लिए मानो प्रतीक्षा करती हैं। फिर किसी एक घटना के होने पर वह संपूर्ण सामग्री कार्य रूप में परिणमित हो जाती है। युद्ध के पूर्व अनेक घटनायें दो देशों के मध्य घटित होती हैं, जिनसे क्रोध का अंकुर धीरे-धीरे पनपने लगता है। दोनों देशों के नेताओं के वक्तव्य, समाचार-पत्रों की आलोचनायें, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक उलझनें, आदि सभी साधारण घटनायें मिलकर युद्ध के लिए उपयुक्त सामग्री उपस्थित कर देती हैं। तब एक साधारण, नगण्य घटना सारी सामग्री का विस्फोट कर उसे कार्य की उत्पत्ति की ओर अग्रसर कर देती है। प्रत्येक कार्य का कारण इन्हीं परिस्थितियों से मिलकर बनता है, जिनमें कुछ परिस्थिति 'संस्थान' कारण होती हैं और कुछ 'उत्तेजक' कारण। इसी प्रकार साधारण रोगों में भी 'संस्थान' कारण और 'उत्तेजक' कारण होते हैं। हृदय की गति अकस्मात् रुक जाने से बहुधा मृत्यु होती है। परंतु चिकित्सा-विज्ञान ने पता लगाया है कि यह 'अकस्मात्' नहीं होता। मृत्यु के समय तो कोई कारण ही प्रतीत नहीं होता; परंतु इससे पूर्व वर्षों तक रुधिर की नलियों में कोई चिक्कण पदार्थ चिपकने लगता है जिससे ये रुद्ध होने लगती हैं। अंत में चलकर ये हृदय-गति में बाधक हो जाती हैं। अतः कारण में 'संस्थान' बनानेवाली परिस्थितियाँ उतनी ही महत्त्वपूर्ण होती हैं जितनी तात्कालिक 'उत्तेजक' परिस्थिति।

वर्त्तमान विज्ञान 'कारण' और 'कार्य' के मान या तोल पर भी विचार करता है। कारण और कार्य मान के अनुसार समान होने चाहिये, न अधिक, न कम। कारण का परिणाम-स्वरूप ही कार्य होता है, अतः इस परिणाम-क्रिया में कारण के मान में कमी न होनी चाहिये, न अधिकता। सिद्धान्त यह है कि प्रकृति में कुछ भी नवीन पदार्थ या शक्ति न अधिक उत्पन्न ही हो सकता है और न उसका विनाश। यदि कारण की अपेक्षा कार्य अधिक हो जाय तो फिर दोनों

का सम्बन्ध अनिश्चित हो जायगा, और कार्य-कारण श्रृङ्खला में प्रकृति का मान उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहेगा। यह विचार-गम्य नहीं प्रतीत होता। यदि कारण की अपेक्षा कार्य कम होता जाये तो आगे चलकर सृष्टि एक दिन शून्य हो जायगी। अतः विज्ञान इस सिद्धान्त को मानता है कि साधारणतया कारण से कार्य उत्पन्न होने पर न मान की वृद्धि होती है न कमी। केवल रूपान्तर होता है। अनुभव भी यही बताता है कि अधिककारण होने पर कार्य अधिक, कम होने पर कम, हो जाता है। कार्य और कारण का सम-मान होना भी आवश्यक है।

संक्षेप में, कार्य-कारण सम्बन्ध एक घटनात्मक या कालिक संबंध है। कारण पूर्व-वर्त्ती घटना का नाम है, जिसकी उत्तर वर्त्ती घटना कार्य है। कार्य-कारण द्विस्थ या घटनाओं को जोड़ने वाला संबंध है। कारण-घटना अनेक परिस्थितियों का संगठित समुदाय है जिनमें कुछ का उपस्थित होना, कुछ का न होना अनिवार्य है। कुछ परिस्थितियाँ कार्य की उत्पत्ति के पूर्व एकत्रित होकर एक 'संस्थान' प्रस्तुत कर देती हैं जिसको कोई एक घटना सक्रिय बनाकर सम्पूर्ण कार्य को उत्पन्न कर देती है। कारण-घटना का कार्य-घटना से नियत, निश्चित, ज्ञेय और स्पष्ट संबंध है। साथ ही, कारण-घटना 'समीप' और 'अन्तर-रहित' होनी चाहिये। हम विज्ञान में दूर के प्रभावों की अवहेलना करते हैं। यदि हम 'समीप', 'निरन्तर' घटना को किसी कार्य का कारण न मानें तो सभी घटना सभी कार्यों के कारण हो सकती हैं। कारण कार्य के लिये अनिवार्य होना चाहिये, जिसका तात्पर्य है कि कारण घटना ऐसी होनी चाहिये जिसके बिना कार्य सिद्ध न हो सके और जिसके होने पर, अन्य किसी प्रकार नहीं, कार्य संपन्न होना सम्भव हो। कारण-घटना आवश्यक, स्वतः समर्थ, अनन्यथा-सिद्ध अथवा अव्यर्थ होनी चाहिये। अन्त में दोनों में सम-मान होना आवश्यक है।

उपरिलिखित कारण के लक्षणों से आधुनिक विज्ञान अनेक घटनाओं के कारणों की गवेषणा करता है। जिस घटना में ये लक्षण सिद्ध हों, वही किसी अन्य कार्य का कारण है। गवेषणा की अनेक विधियाँ इन्हीं लक्षणों के आधार पर स्थित हैं। कारण के ये सम्पूर्ण लक्षण प्रकृति में स्वभाव-वाद से प्राप्त होते हैं। स्वभाव-सिद्धान्त वैज्ञानिक विचार-धारा का मौलिक आधार है, इसलिये कारण का उपरि लिखित लक्षण भी हमें मान्य है।

अन्वेषण की रूप-रेखा

विज्ञान प्रकृति में विचार के द्वारा सामान्य नियमों का ज्ञान एकत्र करता है। यदि ये सामान्य नियम हमें किसी ग्रन्थ अथवा मनुष्य या किसी दैवी उपाय द्वारा मिल जायें और वे इतने सत्य हों कि उनमें सन्देह के लिये स्थान न रह जाये, तो भी विज्ञान इनको वैज्ञानिक सत्य के रूप में ग्रहण न कर सकेगा। कारण कि वैज्ञानिक सत्य का आधार हमारा साधारण, प्रत्यक्ष और वस्तु-गत अनुभव है जिसको निरीक्षण, विश्लेषण आदि करके बुद्धि अपने मूल-नियमों के अनुसार चलती हुई सत्य रूप से प्रतिष्ठित और प्रमाणित करती है। सामान्य नियम की गवेषणा का प्रारम्भ अनेक विशिष्ट घटनाओं और वस्तुओं के प्रत्यक्ष निरीक्षण से होता है। अनेक क्रमिक विकास की भूमियों को पार कर अन्त में उस नियम की स्थापना होती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में, विचार की दो भूमियाँ स्पष्ट समझ में आती हैं—पहली, सामान्य नियम की गवेषणा; इसे हम अन्वेषण कहेंगे। दूसरी, उस नियम की प्रमाणों, युक्तियों द्वारा स्थापना; इसे हम परीक्षण कहेंगे।

अन्वेषण और परीक्षण विधियाँ एक दूसरे पर आश्रित हैं। दोनों मिलकर वैज्ञानिक-विधि का निर्माण करते हैं। एक ही सम्पूर्ण विचार की ये दो स्पष्ट भूमियाँ हैं। केवल सुविधा के लिये हमने इसके दो भाग किये हैं। यहाँ हम अन्वेषण-विधि की रूप-रेखा को ही प्रस्तुत करेंगे।

अन्वेषण की मुख्य समस्या यह है कि हमारा साधारण अनुभव केवल 'विशिष्ट' तक ही सीमित है। विशिष्ट घटना जिसका हम साक्षात् अनुभव करते हैं, वह किसी विशिष्ट स्थान पर, किसी विशिष्ट समय में और किसी विशिष्ट परिस्थितियों में घटित होती है। एक घटना दूसरी से पृथक् है, क्योंकि दोनों के स्थान, समय और परिस्थितियाँ भिन्न हैं। भूचाल की घटना को लीजिये। प्रत्येक भूचाल एक 'विशेष' घटना है। आसाम, बिहार और कोटा में तीन घटनायें हुईं। समय और स्थान के पृथक् होने के अतिरिक्त, इनकी परिस्थितियाँ भी

भिन्न थीं। बिहार में मैदान था जिसमें कई नगरों के भाग और दूसरी समतल भूमि नीचे धस गई। आसाम में पर्वतीय भाग था और कई घाटियों के स्थान पर पर्वत बन गये, नदियों के तल में परिवर्तन हुआ और पहाड़ नीचे बैठ गये। क्वेटा में नगर का बहुत बड़ा भाग पृथ्वी में समा गया। हम अपने साधारण अनुभव से केवल इन विशेषताओं का निरीक्षण कर सकते हैं। सूक्ष्म निरीक्षण से और भी बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं परन्तु फिर भी ये घटनायें विशिष्ट ही रहेंगी। इस प्रकार हम चाहें तो अनेकों भूचालों की घटनाओं की एक सूची बना सकते हैं और प्रत्येक का वर्णन कर सकते हैं। परन्तु प्रत्येक पृथक् घटना का अक्षरशः वर्णन विज्ञान के लिये अभीष्ट नहीं। यदि ऐसा होता तो हमें भौतिक विज्ञान में एक लोहे को आग में तपाने से उसकी क्या दशा होती है, घंटे में चोट मारने से वह किस प्रकार स्पन्दन करता है? इत्यादि बातों का ही वर्णन मिलता। परन्तु विज्ञान इन घटनाओं के स्वरूप को समझना चाहता है, जिसके लिये आवश्यक है कि हम 'इस' और 'उस' भूचाल के वर्णन से सन्तुष्ट न हों, परन्तु 'सब' भूचालों के सामान्य कारण का ज्ञान प्राप्त करें।

परन्तु 'सब' भूचालों का प्रत्यक्ष अनुभव असम्भव है। न मालूम कितने भूचाल हैं, और कितने आगे होंगे। काल में भूत और भविष्य की घटनाओं का कोई अन्त नहीं; हमारे प्रत्यक्ष निरीक्षण की सीमायें हैं। साथ ही, यदि हम एक-एक भूचाल की घटना को समझने का प्रयत्न करें, तो उन्हें हम समझ भी न सकेंगे। यदि हमें भूचाल नाम की घटना के सामान्य नियम का ज्ञान नहीं, जो नियम 'सब' भूचालों के लिये लागू है, तो हमारा ज्ञान वैज्ञानिक नहीं। हम उसे ज्ञान भी नहीं कह सकते। भूचाल के स्वरूप को समझना, उसके सामान्य नियम को जानना है। इसी प्रकार आग में एक लोहे के टुकड़े पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह विज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं। हमें तो लोहे पर आग के प्रभाव का सामान्य नियम जानना चाहिये। परन्तु इसके लिये 'सब' लोहे के टुकड़ों पर आग के प्रभाव का निरीक्षण करना चाहिए, जो असम्भव है। स्पष्ट है कि सामान्य नियम का अर्थ है वह नियम, जो 'सब' के लिए सिद्ध हो, परन्तु, साथ ही यह भी स्पष्ट है, कि हमारा प्रत्यक्ष अनुभव

'कुछ' ही तक सीमित है। तब तो 'अन्वेषण की समस्या है कि किस प्रकार विशिष्ट घटनाओं के सीमित अनुभव से हम 'सब' घटनाओं में प्रसिद्ध निस्सीम सामान्य नियम का अनुसन्धान करें, जिस नियम का प्रत्यक्ष अनुभव कदापि सम्भव नहीं ?

अन्वेषण की इस समस्या का उत्तर दिया जा चुका है। संक्षेप में वह यह है—प्रकृति में प्रत्येक घटना इतनी भिन्न नहीं होती कि इसका दूसरी घटना से बिल्कुल ही पार्थक्य हो। यदि प्रत्येक लोहे के टुकड़े पर आग का बिल्कुल ही भिन्न प्रभाव हो, तो लोहे को लोहा और आग को आग मानना ही व्यर्थ है। यदि लोहे और आग का अपना स्वभाव है तो जो प्रभाव 'कुछ' लोहे के टुकड़ों पर होता है, वही 'सब' पर होगा। तब तो 'कुछ' के प्रभाव का निरीक्षण करके हम 'सब' के विषय में नियम का पता लगा सकेंगे। इसी प्रकार यदि प्रत्येक भूचाल अपने ही बिल्कुल भिन्न कारणों से उत्पन्न होता है तो हमारे लिए भूचाल का ज्ञान असम्भव है। यदि इनका ज्ञान सम्भव है तो 'कुछ' भूचालों के लिए जो नियम होगा वही 'सब' के लिए सिद्ध माना जायगा। अतः प्रत्येक घटना अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण भिन्न होते हुए भी सामान्य-नियम से बँधी होती है। यदि ऐसा नहीं, तो हमें इनका ज्ञान प्राप्त करना ही सम्भव नहीं। बुद्धि और विचार-क्रिया की उत्पत्ति और सम्भावना के लिए 'प्रकृति में सामान्य नियम', उसमें स्वभाव की स्थिरता का मानना हमारे लिए स्वाभाविक विवशता है।

विशिष्ट घटनाओं के अनुभव से सामान्य-नियम का अनुसन्धान—यह विचार की पहली भूमि है। यह अन्वेषण है। इस विचार-क्रिया का नाम 'आगमन' है। जब वैज्ञानिक, अनुसन्धान के लिए अग्रसर होता है तो उसे विश्वास होता है कि प्रकृति में सामान्य नियमों की व्यवस्था है, कि घटनाएँ अनेक और भिन्न होते हुए भी एक सामान्य स्वभाव का अनुसरण करती हैं। परन्तु विश्वास तो होता है पर उस विषय में सामान्य नियम क्या है, इसका उसे स्पष्ट या अस्पष्ट बोध नहीं होता। मलेरिया रोग का गवेषक इस बात को मानता है कि इसका कोई सामान्य कारण है। सम्भव है उसे यह भी मालूम हो कि इसके कारण की खोज कहाँ करनी चाहिए। सम्भव, इसलिए कि पहले गवेषक इटली देश के निवासियों का विचार था कि पानी के सड़ने से उत्पन्न होने वाली

दूषित (मैल-दूषित + ऐरिया-वायु) वायु ही इस ज्वर का कारण है। पीछे यह असिद्ध हुआ। परन्तु इसके अनन्तर गवेषणा की दिशा और होनी चाहिए। मान लिया वैज्ञानिक गवेषक को गवेषणा की दिशा का बोध या अनुमान है, तो भी उसके कारण का स्पष्ट ज्ञान उसे पहले-पहल नहीं है। अनेक निरीक्षणों के उपरान्त वह सामान्य नियम की कल्पना करता है। इस सम्पूर्ण अनुसन्धान में जिस विचार-क्रिया का उपयोग किया जाता है, उसका नाम 'आगमन' रक्खा गया है।

आगमन का स्वरूप सामान्यी-करण या सामान्य नियम का आविष्कार करना है। सामान्यीकरण कैसे संभव है? यह अन्वेषण का पहला प्रश्न था। इसका उत्तर दिया जा चुका है—यदि हम प्रकृति को बुद्धि से समझने योग्य मानते हैं तो हमें उसमें सामान्य-नियमों के होने का विश्वास है और निरीक्षण द्वारा, यद्यपि निरीक्षण 'कुछ' के लिये ही सीमित है, हम 'सब' के विषय में नियम का आविष्कार कर सकते हैं। यह आगमन विचार-क्रिया दैनिक और वैज्ञानिक जीवन में समान रूप से उपयुक्त होती है। यदि हमने अनुभव किया कि कई खल्वाट व्यक्ति कुशल थे, तो हम तुरंत ही आगमन करके सामान्य नियम बना डालते हैं: खल्वाट मनुष्य कुशल होते हैं। इसी प्रकार हमारे अनेक विश्वास आगमन के फल हैं। परंतु प्रत्येक आगमन-क्रिया जिसके द्वारा हम साधारणतया नियमों की कल्पना किया करते हैं, सत्य विश्वास को उपजाने के लिए समर्थ नहीं होती। आगमन का फल सत्य और असत्य दोनों प्रकार के विश्वास हैं। विश्वास को सत्य होने के लिए आगमन-विचार के लिये कुछ नियम हैं। जब हम किसी असत्य सामान्य नियम की कल्पना कर डालते हैं, तो कहीं न कहीं, जाने या अनजाने, हम नियमों की अवहेलना करते हैं। आगमन की यह समस्या है कि वह उन सामान्य नियमों का अनुसन्धान करे, जिनके अनुसार चलकर सामान्यी-करण हमें सत्य परिणाम तक पहुँचा सके।

सामान्य नियम कई प्रकार के होते हैं—१. साधारण अनुभव से प्राप्त सामान्यीकरण के फल, जैसे, खल्वाट कुशल होते हैं, इत्यादि। २. कार्य-कारण के सामान्य-नियम, जैसे मलेरिया ज्वर का कारण एक विशेष मच्छर का विष

है, इत्यादि। ३—प्रकृति के सामान्य-नियम, जैसे, डार्विन का जीवन-विकास सिद्धान्त या न्यूटन का आकर्षण सिद्धान्त। पहले प्रकार के नियम जीवन में बहुत उपयुक्त होते हैं। परन्तु ये सबसे निम्न कोटि के हैं, कारण कि साधारणतया इनका आधार केवल हमारा बहुत काल का अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं होता। यदि आगे भी गवेषणा की जाये तो सम्भव है ये सामान्य नियम कार्य-कारण-नियम के स्तर पर पहुँच जायें। यदि सभी खल्वाट पुरुष कुशल होते हैं तो सम्भव है खल्वाट और कुशल होने में कार्य-कारण सम्बन्ध हो। पहले सामान्य नियम में खल्वाट और कुशल होने में आवश्यक और प्रमाणित सम्बन्ध न था। परन्तु दूसरे स्तर पर पहुँच कर इनमें कार्य-कारण का आवश्यक और निश्चित सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। विज्ञान ने बहुत-सी सफल गवेषणायें पहले प्रकार के नियमों को दूसरे प्रकार के नियमों में परिवर्तन करके की हैं। सुनते हैं जैनर महोदय को एक ग्वाले ने बातचीत करते समय बताया कि उन लोगों को चेचक की बीमारी का प्रकोप नहीं होता, परन्तु गायों को दुहने से उनके हाथों में फुँसियां ज़रूर हो जाती हैं। अपने अन्वेषण द्वारा जैनर ने इस साधारण सामान्य-नियम के पीछे कार्य-कारण सम्बन्ध का पता लगाया और गाय के थन से प्राप्त वैक्सीन के टीके का आविष्कार चेचक को रोकने के लिये किया।

विज्ञान में कार्य-कारण नियमों का आविष्कार उसका परम ध्येय है। इसके लिये अनेक घटनाओं का निरीक्षण और इसके उपरान्त अवास्तविक परिस्थितियों का निराकरण करके वास्तविक कारण की कल्पना करनी होती है। परन्तु यहाँ पर रुकना विज्ञान के लिये मान्य नहीं। वह इन सामान्य नियमों को संगठित और सूत्र-बद्ध करके अपने क्षेत्र में एकता और सामञ्जस्य भी लाना चाहता है। सम्पूर्ण कार्य-कारण नियम पृथक्-पृथक् न रह कर एक ही ज्ञान के अवयव हो जायें, यह विज्ञान का चरम लक्ष्य रहता है। इसलिये प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में कुछ सामान्य प्राकृतिक नियमों की कल्पना करता है जिनके साथ कार्य-कारण नियमों का सामञ्जस्य और संवाद रहता है, या, यों कहिये, जिन प्राकृतिक नियमों से ही कार्य-कारण नियम निकलते और सिद्ध होते हैं। ये चरम प्राकृतिक नियम हमारे प्रकरण में तीसरी प्रकार के नियम हैं।

एक उदाहरण लीजिये। हमारा साधारण अनुभव है कि पूर्णमासी के दिन समुद्र में और समय की अपेक्षा ऊँची लहरें उठती हैं। यह पहली प्रकार का सामान्य नियम है। इसका क्या कारण हो सकता है? वैज्ञानिक गवेषणा का प्रारम्भ यहाँ से हुआ। पृथ्वी बहुत तेज़ी से अपनी कीली पर घूमती है। समुद्र में लहर उठने का यह एक कारण हो सकता है। गर्मी और सर्दी के प्रभाव से सम्भव है, लहरें उठती हों। परन्तु पूर्णमासी के दिन ही ऐसा होता है जब चन्द्रमा आकाश में होता है और पृथ्वी के बहुत समीप आ जाता है। तो क्या चन्द्रमा में पानी को अपनी ओर खींचने की शक्ति है? यहाँ चन्द्रमा का समीप आ जाना समुद्र की ऊँची लहरों का कारण है। यह दूसरी प्रकार का कार्य-कारण नियम है। परन्तु यह विज्ञान का चरमान्त नहीं। हम आगे पूछते हैं—चन्द्रमा एक भौतिक पदार्थ है और पृथ्वी भी। तो क्या एक भौतिक पदार्थ दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है? यदि 'आकर्षण' प्रकृति का सामान्य सिद्धान्त मान लिया जाये तो चन्द्रमा का समुद्र के जल को अपनी ओर खींच लेना भी समझा जा सकता है। या, और कोई प्राकृतिक नियम होना चाहिये, या कल्पना करनी चाहिये जिसके साथ इस कार्य-नियम की अनुकूलता हो। न्यूटन नामक वैज्ञानिक ने 'आकर्षण-सिद्धान्त' की कल्पना की और गणित के आधार पर इसका स्वरूप निश्चित किया। तब तो न केवल चन्द्रमा का समुद्र के पानी को अपनी ओर खींचने का नियम समझ में आ गया, परन्तु पृथ्वी की ओर सब वस्तुएँ एक निश्चित गति और उनके अयन सम्बन्धी अनेक सामान्य नियम भी स्पष्ट समझ में आ गये। आकर्षण-सिद्धान्त के आविष्कार ने अनेक सामान्य और कार्य-नियमों को सूत्र-बद्ध कर दिया। यद्यपि हम इन प्राकृतिक नियमों के लिये घटनाओं का साधारण निरीक्षण नहीं कर पाते, परन्तु इनको सत्य स्वीकार करने से हमें साधारण नियम समझ में आते और संगठित हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों अधिकाधिक नियम इन प्राकृतिक नियमों के अनुकूल सिद्ध होते जाते, हैं त्यों-त्यों ये कार्य-कारण नियम अधिक स्पष्ट और बुद्धि-गम्य तथा प्राकृतिक नियम स्वयं भी सिद्ध और प्रमाणित होते जाते हैं। 'आकर्षण-सिद्धांत', डार्विन का जीवन-विकास-सिद्धांत आदि ऐसे प्राकृतिक नियम हैं जिनका प्रमाण यही है कि अनेक सामान्य कार्य-कारण नियमों को समझना और सूत्र-बद्ध

करना इनके बिना असंभव है। प्रति दिन होनेवाली नई गवेषणायें इन्हीं को और पुष्ट करती जाती हैं। इनमें परिवर्तन होता है, परंतु उस अवस्था में इनका स्थान लेने के लिए नवीन प्राकृतिक नियमों की कल्पना करनी पड़ती है।

एक नियम की दूसरे नियम के साथ अनुकूलता दिखाने के लिए, अथवा एक विशेष घटना को किसी नियम के साथ अनुकूल सिद्ध करने के लिए, एक दूसरे प्रकार की विचार-प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इसका नाम 'निगमन' क्रिया है। आगमन द्वारा हम सामान्य नियम की कल्पना करते हैं जो निरीक्षित घटनाओं पर आश्रित और उनके अनुकूल हो। 'सामान्यीकरण' आगमन का सार है। निगमन के द्वारा हम किसी सिद्ध अथवा सिद्ध किये जानेवाले नियम का प्रयोग किसी दूसरे नियम अथवा किसी विशिष्ट घटना को समझने के लिए करते हैं। प्रत्येक सामान्य नियम अपने प्रयोग के लिए विशेष सीमायें रखता है। अपनी सीमाओं से नियमित क्षेत्र में अनेक वस्तुओं के लिए यह लागू होता है। परंतु प्रत्येक नियम के क्षेत्र का विस्तार कम या अधिक हो सकता है, जैसे 'सब मनुष्य मर्त्य होते हैं', 'सब जीवधारी मर्त्य होते हैं।' इन दोनों नियमों में 'मनुष्यों' की अपेक्षा 'जीवधारी' अधिक हैं। मनुष्य भी एक जीवधारी है। इसलिए जो नियम 'जीवधारी' के लिए लागू होगा, वही मनुष्य जाति और प्रत्येक मनुष्य के लिए भी लागू होगा। इसका अर्थ है कि अधिक विस्तार वाले नियम की सहायता से हम कम विस्तार वाले को सिद्ध कर सकते हैं। यह पता लगाना कि किस अधिक विस्तृत नियम के द्वारा हम कम विस्तारवाले नियम को सिद्ध करें, 'उपनय' कहलाता है। 'उपनय' ही निगमन विचार का सार है।

सामान्य-नियम के अनुसंधान के लिए जिस प्रकार 'आगमन' आवश्यक है, उसी प्रकार सामान्य-नियम के परीक्षण के लिए 'निगमन' नितांत वांछनीय है। 'आगमन' का महत्त्व वर्तमान विज्ञान में बहुत है, क्योंकि इसी के द्वारा वैज्ञानिक गवेषणा की जाती है और सामान्य-नियमों का उद्घाटन होता है। बेकन नामक एक अंग्रेज दार्शनिक ने 'आगमन' को बहुत ऊँचा स्थान दिया और निगमन की बहुत निन्दा की। उसका मत था कि यदि हम अधिक विस्तार वाले नियम को जानते हैं तो उसके द्वारा कम विस्तार वाले नियम को सिद्ध

करना बचपन का खिलवाड़ है। कठिनता तो इस बात की है कि हम इन नियमों का पता कैसे लगावें। निगमन के द्वारा यह नहीं होता, इसलिए यह व्यर्थ है। परंतु आधुनिक विज्ञान निगमन के महत्त्व को खूब जानता है, क्योंकि यदि 'आगमन' के द्वारा सामान्य नियम की खोज की जाती है तो निगमन की सहायता से उसके सत्य को व्यक्त और प्रमाणित किया जाता है। विज्ञान के लिये किसी नियम का अनुसंधान और उसका स्पष्ट प्रमाण दोनों ही अनिवार्य हैं। अन्वेषण की पूर्ण क्रिया के लिये आगमन और निगमन दोनों समान महत्त्व रखते हैं।

आगमन और निगमन के अंतर और संबंध को समझने के लिए इन्हें और भी स्पष्ट करना चाहिये। हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक घटना किसी सामान्य नियम के अनुसार घटित होती है। यह मानना हमारी विचार-क्रिया के लिये अनिवार्य है। यदि हमें सामान्य-नियम का ज्ञान नहीं, तो भी हम मानते हैं कि उस घटना का कोई कारण है अवश्य। इस नियम के अनुसंधान के लिये हमें कई घटनाओं का निरीक्षण करना होता है। यद्यपि प्रत्येक घटना के पीछे नियम विद्यमान है तो भी साधारण मनुष्य में इतनी शक्ति नहीं कि उस नियम की स्पष्ट झाँकी केवल एक घटना के अनुभव से पा सके। बहुत महान् और प्रतिभाशाली विचारक कई बार ऐसा कर पाते हैं, जैसे न्यूटन अपने बाग में सेब को पृथ्वी पर गिरते देखकर यह अनुमान कर सका कि पृथ्वी अपनी आकर्षण शक्ति से सब पार्थिव पदार्थों को अपनी ओर खींचती है। इसी प्रकार फ्रॉयड नामक मनोवैज्ञानिक ने एक स्त्री के किसी शारीरिक रोग की चिकित्सा प्रारंभ की। बहुत दिन की चिकित्सा के अनंतर भी वह उसे ठीक न कर सका। एक दिन उस स्त्री ने फ्रॉयड को अपनी दुःख भरी जीवन की कुछ कथा सुनाई। अगले दिन बिना दवाई के भी वह स्वस्थ प्रतीत हुई। फ्रॉयड अपनी अपूर्व प्रतिभा से यह नियम समझ गया। हो न हो, हमारे शारीरिक रोगों का कारण और उसका आरोग्य मन की दशाओं पर निर्भर है। परंतु फ्रॉयड और न्यूटन महान् विचारशील थे। साधारणतया नियम की कल्पना के लिये अनेक घटनाओं का निरीक्षण करके उनमें सामान्य तत्व की खोज और असामान्य या विशिष्ट का निराकरण किया जाता है। इस कल्पना का आधार विचार क्रिया है जिसका

नाम 'आगमन' है। यदि हम संसार भर के मरुस्थल प्रदेशों का निरीक्षण करें तो उनमें विशेषतायें अनेक होगीं, परंतु उनमें एक सामान्य तत्व दृष्टि गोचर होता है—वह यह कि सभी मरुस्थल, चाहे वे उत्तरी या दक्षिणी अर्द्ध-भूभाग में हो, ३०° और ४०° अक्षांश के मध्य में स्थित हैं। इस सामान्य तत्व के ज्ञान से हम गवेषणा आगे बढ़ाते हैं। वायु की दिशा, उन स्थानों में बादलों की गति और वर्षा न होने के कारणों का अध्ययन करके हम रेगिस्तान बनने के सामान्य नियम का आविष्कार कर पाते हैं। यही सामान्यीकरण क्रिया गवेषणा के लिये आवश्यक है, उसका क्षेत्र चाहे जो हो।

अन्वेषण की सफलता के लिये आवश्यक है कि कल्पित सामान्य-नियम प्रमाणित भी हो। निगमन द्वारा प्रमाण दिया जाता है। यदि हमारा कल्पित-नियम इससे भी अधिक विस्तार वाले और प्रमाणित नियमों के अनुकूल है तो उसे सत्य स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं। यदि उनका विरोध करता है तो अवश्य ही असत्य है क्योंकि प्रकृति और ज्ञान में परस्पर विरोध और वैमनस्य हमारे मौलिक सिद्धांतों के प्रतिकूल है। यदि आज हम कल्पना करें कि भूचाल का कारण लोगों के पाप हैं तो यह नियम जो कुछ पृथ्वी, उसकी गति, बनावट, आदि के विषय में हम जानते हैं, उसके प्रतिकूल है, इसलिये हमें अमान्य है। अतः किसी कल्पना को प्रमाणित करने के लिये 'निगमन' की आवश्यकता होती है। अन्वेषण के प्रथम भाग में 'आगमन' और दूसरे भाग में 'निगमन' से काम लिया जाता है।

दोनों क्रियायों में भेद है अवश्य, परंतु यह भेद मौलिक नहीं। दोनों ही विचार के प्रकार हैं; दोनों ही विचार के मौलिक सिद्धान्तों का पालन करने को विवश हैं। आगमन में हम विशेष घटनाओं के आधार पर, परंतु उनके ही अनुकूल नियम की कल्पना करते हैं। निगमन में कल्पित नियम की अनुकूलता दिखाने के लिये हम स्वीकृत, विस्तृत नियमों का उपयोग करते हैं। परंतु 'अनुकूलता' दोनों विचार-प्रकारों का मूल नियम हैं। भेद केवल इतना है कि एक में हम विशिष्ट घटनाओं का निरीक्षण कर, कल्पना द्वारा, नियम तक पहुँचते हैं, दूसरे में, सामान्य नियम हमें ज्ञात और मान्य होता है या उसे हम सिद्ध मान लेते हैं, उस स्वीकृत, ज्ञात और सिद्ध नियम से

चलकर हम कल्पित नियम को सिद्ध करते हैं। यह भेद भी इतना कम है कि आगमन और निगमन परस्पराश्रित भी माने जा सकते हैं। आगमन-क्रिया में सामान्य-नियम स्पष्ट ज्ञात नहीं होता, परंतु उसका अस्पष्ट आभास होना नितान्त आवश्यक है। गवेषक जिस दिशा में निरीक्षण के लिये जाता है, वह दिशा वह है जहाँ उसे साधारण नियम मिलने की आशा है। कभी-कभी तो वैज्ञानिक पहले ही सामान्य नियम की स्पष्ट कल्पना कर लेता है और फिर निरीक्षण प्रारम्भ करता है। यदि निरीक्षण द्वारा अनेक विशिष्ट घटनायें कल्पित नियम के अनुकूल मिल जाती हैं, तो उसका नियम निश्चित हो जाता है। इस लिये अन्वेषण के लिये हम निरीक्षण से प्रारम्भ करके नियम की कल्पना करें या पहले ही नियम की कल्पना करके हम उसके अनुकूल घटनाओं का निरीक्षण करें, ये दोनों ही प्रकारों का प्रयोग किया जा सकता है। इस लिये आगमन में निगमन मिश्रित रहता है। बिना नियम के पूर्वज्ञान के निगमन भी असम्भव है, इसलिए आगमन के बिना निगमन भी चल नहीं सकता। अतः दोनों क्रियायें अन्वेशण के लिए आवश्यक और परपराश्रित हैं।

जिस प्रकार बेकन ने आगमन को ही मुख्य समझकर निगमन की अवहेलना की, उसी प्रकार कुछ विचारकों ने निगमन को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया है। उनका कहना है, कि नियम की स्पष्ट या अस्पष्ट, व्यक्त या अव्यक्त, कल्पना से ही गवेषणा का प्रारंभ और उसका अंत होता है। किन्हीं घटनाओं को निरीक्षण करने से पूर्व ही नियम की संभावना रहती है और हम इसी नियम को मानकर विशिष्ट घटनाओं के निरीक्षण में अग्रसर होते हैं। परंतु यह मत भी हमें मान्य नहीं। हमारी दृष्टि से 'घटनाओं' के निरीक्षण से नियम की कल्पना करना, विचार का एक विशेष प्रकार है, जो 'नियम के द्वारा किसी दूसरे नियम या विशिष्ट वस्तु को सिद्ध करने' से पृथक् है। अतः ये दोनों प्रकार पृथक् होते हुए परस्पराश्रित मानने चाहियें।

हमने विचार-विज्ञान के दो विभाग किये हैं, एक अन्वेषण, दूसरा परीक्षण। अन्वेषण में आगमन-विचार प्रणाली का प्राधान्य रहता है, तथा परीक्षण में निगमन का। नियम का आविष्कार और उसका सिद्ध करना दोनों ही विचार-

विज्ञान के लिए अपेक्षित हैं। कम विस्तार वाले नियम को अधिक विस्तार वाले नियम से सिद्ध करते हैं, क्योंकि जो नियम सभी जीवों, पौदों या धातुओं आदि के लिए लागू होता है, वह इनकी छोटी कक्षाओं या विशिष्ट व्यक्तियों के लिए भी अवश्य लागू होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार हम सभी नियमों को सूत्र बद्ध और संगठित करके विज्ञान में ज्ञान की एकता की स्थापना करते हैं। यह विज्ञान का चरम उद्देश्य है। यहाँ तक पहुँचने के लिए हम विशिष्ट घटनाओं का निरीक्षण प्रारम्भ करते हैं। यह अन्वेषण की प्रथम भूमि है। फिर इनको एक सूत्र में लाने के लिए नियम की कल्पना करते हैं। यह द्वितीय भूमि है। इसके अनन्तर संपूर्ण सामग्री को संगठित करके उस नियम को प्रमाणित ठहराने का प्रयत्न किया जाता है। यह तृतीय भूमि है। अंत में इस नियम की दूसरे स्वीकृत और अधिक विस्तृत नियमों के साथ सामञ्जस्य की स्थापना की जाती है। यह विज्ञान की चतुर्थ और चरम भूमि है। विचार-विज्ञान इन सभी भूमियों पर शुद्ध और त्रुटि-रहित विचार-क्रिया के विशेष नियमों का आविष्कार करता है।

——

निरीक्षण और प्रयोग

अनुभव विज्ञान का आधार है। अनुभव के द्वारा सामग्री का संकलन होता है, प्रत्येक वस्तु के गुणों और प्रत्येक घटना के लक्षणों का ज्ञान एकत्र किया जाता है। इसके अनन्तर इन घटनाओं के कारण अथवा नियम के विषय में वैज्ञानिक कल्पना करता है। यदि अनुभव विशुद्ध और त्रुटि रहित नहीं, तो उस पर आश्रित कल्पना भी असत्य होगी। अतः विज्ञान नियमों का अविष्कार करने से पूर्व अपनी अनुभूत सामग्री को शुद्ध और त्रुटि रहित बनाने का प्रयत्न करता है। हमारे अनुभव में अनेक त्रुटियों की सम्भावना रहती है। साधारण व्यवहार के लिये भी हमें शुद्ध अनुभव आवश्यक है, क्योंकि यदि हम चीनी को नमक, रस्सी को साँप, झाड़ी को भूत आदि समझ बैठें, तो अवश्य ही दुःख होता है। परन्तु यह भी निश्चय है कि हमें अनेक भ्रान्तियाँ दैनिक-जीवन में होती हैं। अनेक बार पक्षपात, भावना, भय और इन्द्रियों की स्वाभाविक सीमाओं के कारण, हमारा अनुभव अशुद्ध हो जाता है। परन्तु हम इसकी अधिक चिन्ता नहीं करते, क्योंकि जब तक व्यवहार की सफलता का निश्चय है, तब तक इससे कोई हानि नहीं। विज्ञान में हम निश्चित, प्रमाणित, विश्वसनीय ज्ञान का सम्पादन अपना परम ध्येय समझते हैं। इसमें अनुभव की थोड़ी भी भूल अथवा भ्रांति से काफी हानि हो सकती है। इसलिये वैज्ञानिक अपनी इन्द्रियों का प्रयोग विशेष कौशल और सावधानी के साथ करता है। विशुद्ध ज्ञान सम्पादन करने के उद्देश्य से इन्द्रियों का कौशल और सावधानी के साथ प्रयोग करना, विज्ञान में 'निरीक्षण' कहलाता है।

इन्द्रियों का वैज्ञानिक और असाधारण उपयोग 'निरीक्षण' है। वह विशेष उद्देश्य से किया जाता है। उद्देश्य नियम के ज्ञान के लिये अनुभूत सामग्री का संकलन है। सोद्देश्य होने के कारण यह नियमित होता है। हमें पहले कुछ घटनाओं का साधारण अनुभव होता है, जैसे, कभी-कभी किसी प्रदेश में वर्षा का अधिक होना या कम होना। हमें स्वाभाविक जिज्ञासा इसका कारण जानने

के लिए प्रेरित करती है। ज्ञान की इच्छा से निरीक्षण का प्रारम्भ हुआ। परन्तु इस समय यह प्रश्न उपस्थित होगा—हम किस दिशा में निरीक्षण करें; किन घटनाओं का निरीक्षण करना उपादेय है और किनका अनुपादेय ? यह असम्भव और अनुपयुक्त है कि हम अधिक वर्षा के कारण को जानने के लिए सभी दिशाओं को छान डालें। व्यवहार में भी हमारा उद्देश्य हमारे अनुभव के लिये सीमायें बाँध देता है जिससे हम कुछ स्थानों, वस्तुओं और घटनाओं का निरीक्षण व्यर्थ और कुछ का अव्यर्थ और आवश्यक समझते हैं। घर में खोई हुई पुस्तक को हम सड़क पर नहीं खोजते। विज्ञान में विशाल प्रकृति के अनेक क्षेत्रों में कहाँ-कहाँ किस घटना के कारण की खोज की जाय, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिये वैज्ञानिक का निरीक्षण सीमाबद्ध रहता है जिसमें आवश्यक घटनाओं का ग्रहण और अनावश्यक का परित्याग करना अनिवार्य होता है।

निरीक्षण के लिए सीमा और क्षेत्र, आवश्यक और अनावश्यक की संभावना होनी चाहिए। ऊपर के प्रश्न में भूगोल का पंडित वर्षा से सम्बद्ध कारणों का ग्रहण और असम्बद्ध का परित्याग करके ही निरीक्षण प्रारम्भ करता है। प्रत्येक सम्बद्ध घटना के निरीक्षण में अनेक परिस्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं। अतः वैज्ञानिक केवल उस घटना का साधारण निरीक्षण ही नहीं करता, साथ ही उसका विश्लेषण भी करता है। यदि वर्षा के लिये गर्मी पड़ना एक सहायक कारण है तो भूगोलवेत्ता यह जानना चाहेगा कि कहाँ पर अधिक गर्मी पड़ने से किस प्रदेश की वर्षा पर प्रभाव पड़ेगा। गर्मी का सम्बन्ध वायु के भार और दिशा से है। यदि वायु समुद्र पर होकर चलती है तो पानी लाती है; यदि मरुभूमि पर, तो सूखी रहती है। पर्वतों की बनावट, पृथ्वी के भीतर के चुम्बक, सूर्य आदि ग्रहों का वायु, गर्मी आदि के ऊपर प्रभाव इत्यादि अनेक परिस्थितियाँ हैं जिनमें उसे ग्रहण और परित्याग करना होता है। परन्तु ग्रहण और परित्याग से पूर्व उसे प्रत्येक वर्षा की घटना को पृथक्-पृथक् परिस्थितियों और दशाओं में विश्लेषण करना आवश्यक है। प्रत्येक अधिक वर्षा के साल और कम वर्षा के साल, कौन-कौन परिस्थिति उपस्थित थीं, उनमें कौन सम्बद्ध और आवश्यक, कौन असम्बद्ध और अनावश्यक है, इतना जानना 'निरीक्षण' करना है।

यदि वैज्ञानिक प्रत्येक निरीक्षित घटना में सम्बद्ध और असम्बद्ध घटना को

समझता है तो इसका अर्थ है कि उसे अभीष्ट घटना के कारण का आभास है। होता कुछ इसी प्रकार है। वैज्ञानिक दो चार निरीक्षण के उपरान्त ही मन में कल्पना कर लेता है कि अमुक घटना का अमुक कारण है। यद्यपि वह निश्चय रूप से इस बात को नहीं जानता कि इसके अतिरिक्त कोई और कारण न होगा, तो भी वह कुछ न कुछ कल्पना किये बिना अग्रसर नहीं होता। सम्भव है असत्य कल्पना से फल भी वैसा ही प्राप्त हो, परंतु वह अपनी गवेषणा का आधार-भूत कोई कल्पित कारण अवश्य रखता है। इसी कल्पित अथवा मनोनीत कारण को वह अपने निरीक्षण द्वारा पुष्ट या विरोध होने पर परित्याग करता है। परंतु उसके मन में नियम की कल्पना विद्यमान है, उसी के द्वारा वह प्रत्येक घटना और प्रत्येक परिस्थिति की सार्थकता और निरर्थकता का निर्णय करता है। अतः प्रत्येक निरीक्षण में केवल इन्द्रियों का ही प्रयोग नहीं होता; वैज्ञानिक अपने ज्ञान, स्वाभाविक प्रतिभा और अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की सहायता से उस घटना के समझने का भी प्रयत्न करता है। निरीक्षण में निर्णय भी सम्मिलित रहता है।

ऊपर के कथन से स्पष्ट होगा कि साधारण अनुभव और वैज्ञानिक निरीक्षण कितने भिन्न हैं। दोनों के उद्देश्य में अंतर है—एक के लिये व्यवहार की सफलता और दूसरे के लिये सत्य ज्ञान का अनुसन्धान अभीष्ट है। यद्यपि हम सभी अपनी इन्द्रियों का प्रयोग रूप, रस, शब्द आदि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये करते हैं, परंतु वैज्ञानिक इनका प्रयोग विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिये विशेष कौशल और सावधानी के साथ करता है। इन्द्रियों का यह विशेष और वैज्ञानिक प्रयोग ही निरीक्षण है। विशेषता जिन बातों में होती है, वे ये हैं : १—निरीक्षण सोद्देश्य होता है। साधारण अनुभव भी सोद्देश्य होता है, परंतु दोनों उद्देश्यों में भेद है। २—निरीक्षण नियमित, सीमाबद्ध होता है जिसमें आवश्यक और सम्बद्ध का ग्रहण और अनावश्यक और असम्बद्ध का त्याग रहता है। साधारण अनुभव भी कुछ का ग्रहण और कुछ का परित्याग करता है, क्योंकि मनुष्य का अवधान सीमित है। इसलिए साधारणतया हम अभीष्ट का ग्रहण और अनभीष्ट का त्याग करते हैं। ३—निरीक्षण विश्लेषणात्मक होता है। वैज्ञानिक आवश्यक घटना में सम्पूर्ण परिस्थितियों को अलग

अलग करके उनके पृथक् प्रभावों को समझना चाहता है। साधारण अनुभव में भी हम विश्लेषण करते हैं। परंतु बहुधा सम्पूर्ण को न लेकर एक किसी अपने पक्ष को सिद्ध करनेवाली अभीष्ट घटना को ही अलग निकाल लेते हैं। ४—निरीक्षण निर्णयात्मक होता है अर्थात् वैज्ञानिक अपने मन में कारण की कल्पना करके, अपने सम्पूर्ण ज्ञान, प्रतिभा और व्यक्तित्व की सहायता से, प्रत्येक परिस्थिति और घटना का सम्बंध और अर्थ भी समझता है। साधारण अनुभव में भी हम निर्णय मन में रखकर किसी घटना का निरीक्षण करते हैं। परंतु वह निर्णय वैज्ञानिक नहीं होता। उसमें पक्षपात, अभीष्ट-सिद्धि की कामना आदि का विशेष प्रभाव रहता है।

वैज्ञानिक निरीक्षण ऊपर बताये हु ए स्वरूप के कारण केवल बाह्य इन्द्रियों का ही कार्य नहीं है; परंतु इसमें वैज्ञानिक की स्वाभाविक निरीक्षण शक्ति, प्रकृति से प्राप्त प्रतिभा, उसका अपने क्षेत्र में ज्ञान और बुद्धि का प्रवेश तथा उसका नैतिक चरित्र भी सम्मिलित हैं। विचार-विज्ञान में हम निरीक्षण के लिये निश्चित नियमों का विधान नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें विज्ञान-वेत्ता अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से काम लेता है। नीचे केवल उन नियमों का संकेत है जिन पर चलने से निरीक्षण की वैज्ञानिक आवश्यकताओं को पूरा किया जासकता है।

१—वस्तु-गत-नियम—बहुत से निरीक्षण भ्रान्त और सन्दिग्ध हो जाते हैं, क्योंकि जिस वस्तु और घटना का हम अध्ययन करना चाहते हैं वह किन्हीं बाधक और जटिल परिस्थितियों से घिरी हुई हैं। वस्तु का अत्यन्त दूर होना, अत्यन्त समीप होना, अत्यन्त सूक्ष्म अथवा विशाल होता, अत्यन्त जटिल होना और कभी-कभी अतीव सरल होना, शुद्ध और वैज्ञानिक निरीक्षण के लिए बाधक हैं। इन बाधाओं को दूर करने के लिए वर्त्तमान विज्ञान अनेकों यन्त्रों और उपायों का प्रयोग करता है। कभी-कभी गति इतनी शीघ्र और समय इतना कम होता है; इसके विपरीत कभी कोई गति इतनी मन्द होती है कि हम ठीक प्रकार निरीक्षण नहीं कर पाते। सामाजिक क्षेत्र में परिवर्त्तन कभी अत्यधिक मन्द होता है कि बहुत समय बाद उसका फल स्पष्ट दिखाई पड़ता है। भूगर्भ अथवा दूर आकाश में होनेवाली घटनायें इतनी अस्पष्ट रहती हैं और इतिहास और मानव-विज्ञान में घटनाएँ काल के इतने अन्तर से होती हैं

कि उनका निश्चित निरीक्षण लगभग असंभव है। गवेषणा के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार की बाधक परिस्थितियों का पूर्वज्ञान और उनको दूर करने के साधन यथा-संभव उपलब्ध होने चाहियें। जटिलताओं को सरल और स्पष्ट करने के लिये उपायों की आवश्यकता होती है, जैसे सूर्य की किरणें प्रथम तो हमें पृथक् दिखाई नहीं देतीं। इसके अनंतर उनमें रङ्ग, गति, लंबाई आदि का पता लगाना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि कभी वे गति और लम्बाई सेकिंड और इञ्च के करोड़वें भाग तक होती हैं। इसी प्रकार प्रत्येक विज्ञान में निरीक्षणीय वस्तुओं का अनुभव पाने के लिये विशेष बाधाएँ होती हैं। इनका ज्ञान और निराकरण करना आवश्यक है।

निरीक्षण में सबसे बड़ी बाधा इस कारण से उपस्थित होती है कि हमारा अनुभव दूसरे अनुभवों से संबद्ध होता है। गति की स्वयं कोई सत्ता नहीं। स्थिर पदार्थ के संबंध से गति का अनुभव होता है। नाव या रेलगाड़ी में स्वयं चलते समय दूर के स्थिर पदार्थ चलते हुए प्रतीत होते हैं। पृथ्वी स्वयं चलती है, परन्तु हमें स्थिर सूर्य-मंडल की गति का आभास होता है। जो पानी ठण्डे स्पर्श के बाद गर्म प्रतीत होता है, वही और भी अधिक गर्म स्पर्श के अनंतर ठंडा मालूम पड़ता है। परस्पर सम्बद्ध होने के कारण हमारे अनुभव में अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न हो सकती हैं तथा दूसरी बाधाओं के कारण हम बहुत-से आवश्यक घटनाओं और परिस्थितियों के निरीक्षण को चूक भी जाते हैं। गवेषक को आवश्यक है कि वह अपने क्षेत्र में संभावित बाधाओं और जटिलताओं को समझ कर उनका निराकरण करे।

शारीरिक स्वास्थ्य—शरीर की अस्वस्थ दशा या विकार से भी निरीक्षण में बाधा उपस्थित हो सकती है। पीलिया रोग अथवा पित्त के विकार से वस्तुओं के रंग और स्वाद आदि में अंतर हो जाता है। कुछ मनुष्यों के नेत्र की बनावट ही ऐसी होती है कि उन्हें लाल, हरे या नीले और पीले या किसी भी रंग का अनुभव ही नहीं होता। शरीर अपनी स्वाभाविक शक्तियों और स्वास्थ्य से यदि पूर्ण हो तो निरीक्षण भी शुद्ध और त्रुटि रहित होता है।

निरीक्षक का व्यक्तित्व—वैज्ञानिक गवेषणा का केंद्र 'वस्तु' अथवा वास्तविक घटना के गुण, स्वरूप और नियम आदि का आविष्कार और परीक्षण

है। विज्ञानवेत्ता यथा सम्भव अपने व्यक्तित्व, अपनी रुचि, इच्छा अनिच्छा, अपने सामाजिक, धार्मिक विश्वास आदि से स्वतंत्र होकर ही वस्तुगत सत्य का अन्वेषण करता है। इसीलिये यह 'सत्य' सर्वमान्य और प्रमाणों द्वारा साध्य होता है। गणित, भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र आदि सभी विज्ञानों के सिद्धांत देश, धर्म, जाति अथवा व्यक्ति की सीमा से ऊपर सार्वभौम और सर्व-स्वीकृत माने जाते हैं। जहाँ कहीं निरीक्षक अपनी रुचि के पक्षपात या प्रभाव के कारण वस्तु में अपने व्यक्तित्व का आरोप कर बैठता है, वहाँ अनेक 'भ्रांति' उत्पन्न हो जाती हैं। एक ही घटना के कई व्यक्तियों द्वारा किये गये वर्णन भिन्न होते हैं। इसका कारण भी प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न रुचि और उनका पक्षपात है। ऐसा करने में न केवल भ्रांति है, साथ ही प्रत्येक व्यक्ति की मनोगत-धारणाओं के कारण बहुत-सी परिस्थितियों का अ-निरीक्षण भी है। बहुधा अपनी रुचि के प्रतिकूल घटनाओं और घटना के अंतर्गत परिस्थितियों को हम निरीक्षण ही नहीं कर पाते। वैज्ञानिक को उचित है कि वह अपने व्यक्तित्व का वस्तु के गुणों पर आरोप न करे।

तो भी, विज्ञान में वैज्ञानिक के व्यक्तित्व को हम मिटा नहीं सकते। इसके विपरीत, कुछ गुण इतने आवश्यक हैं कि इनके अभाव में सफल गवेषणा असम्भव है। गवेषक के मन में जिज्ञासा और उत्साह होना चाहिये। जिज्ञासा के द्वारा वह वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना चाहेगा। यदि वह निर्भय, स्वतंत्र, सत्य प्रेमी गवेषक है तो अवश्य ही मनमानी न करके वस्तु के गुणों पर अपनी रुचियों का प्रभाव न डालेगा इसलिये गवेषक के नैतिक चरित्र, उसके सत्य-प्रेम, लग्न, उत्साह स्वाधीनता, भय, लोभ आदि आवेशों से मुक्ति आदि अनेक गुण हैं जो निरीक्षण को विशुद्ध रखने में सहायक होते हैं।

गवेषक को निरीक्षण के क्षेत्र में न केवल उचित शिक्षा और अभ्यास होना चाहिये, परंतु उस सम्बन्ध में उसका ज्ञान विशद और पर्याप्त होना चाहिये। इसलिये भूगोल के क्षेत्र में भौगोलिक, समाज के क्षेत्र में राजनैतिक और ऐतिहासिक, खगोल के क्षेत्र में खगोल सम्बन्धी उचित ज्ञानवाले विज्ञान-विशारद ही निरीक्षण करने के लिये उपयुक्त हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक

क्षेत्र में निरीक्षण नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्ध रखनेवाला ज्ञान सभी के लिये संभव नहीं।

निरीक्षण की त्रुटियाँ : १—भ्रान्त-निरीक्षण—वह है जिसमें किसी वस्तुगत, शारीरिक या मानसिक दोषों के कारण, निरीक्षक वस्तु या घटना का यथावत् निरीक्षण न करके, उसमें अवास्तविक गुणों का आरोप करता है। सूर्य को पृथ्वी के चारों ओर चलते हुए मानना, वस्तुगत बाधाँओं के कारण से उत्पन्न भ्रान्त निरीक्षण है। पित्त के विकार से शक्कर को कडुवा बताना शारीरिक दोषों से उत्पन्न भ्रान्ति है। सूर्य-ग्रहण में लाल चिह्नों को दैत्यों द्वारा किये घावों के निशान मानना—यह धार्मिक विश्वास का फल है। साथ ही, इसका कारण ग्रह-सम्बन्धी पर्याप्त ज्ञान का अभाव है। भय, पक्षपात, लोभ आदि आवेगों के प्रभाव से भी घटना का यथावत् निरीक्षण असंभव होता है। इन दशाओं में भी निरीक्षण भ्रान्त हो सकता है।

२—अनिरीक्षण—यदि हम किसी बाधा, दोष अथवा जटिलता के कारण आवश्यक घटना अथवा परिस्थिति का परित्याग कर दें, तो यह अनिरीक्षण नाम की त्रुटि है। स्थान, समय, आकार आदि की अत्यन्त दूरी, समीपता, गहनता, सूक्ष्मता, विशालता, मन्दता और तेजी के कारण भी अनेक आवश्यक बातों पर ध्यान देना हम चूक जाते हैं। दृष्टि-दोषों से चूकना सम्भव है; जैसे निर्बल घ्राण-शक्ति वाला व्यक्ति गन्ध का अनुभव ही नहीं कर पाता। निरीक्षण के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और बुद्धि के प्रवेश के अभाव में भी आवश्यक परिस्थितियों का अनिरीक्षण हो जाता है। चरित्र की दुर्बलता, विश्वास की प्रबलता भी कभी-कभी इसके लिए उत्तरदायित्व रखती हैं। सुनते हैं ग्रीस देश के एक मन्दिर के पुजारी ने उन सब व्यक्तियों के नामों का लेखा तो रक्खा जो मंदिर के दर्शन के उपरांत गये और सुरक्षित समुद्र-यात्रा के बाद लौट आये। परंतु उसने उन व्यक्तियों के ऊपर ध्यान नहीं दिया जो मंदिर के दर्शन करने पर भी भयङ्कर यात्रा से नहीं लौट सके।

प्रयोग— प्रयोग भी निरीक्षण का एक प्रकार है। गवेषक जिस उद्देश्य से निरीक्षण करता है उसी से प्रयोग भी। परन्तु निरीक्षण में निरीक्षण वस्तु और घटना प्राकृतिक होती है। प्रकृति अपने नियमों के अनुसार, अपनी ही परिस्थितियों

में घटना को उपस्थित करती है। परन्तु प्रयोग में वैज्ञानिक अपनी प्रयोग-शाला में उस वस्तु अथवा घटना को उत्पन्न करता है। निरीक्षण में निरीक्षक तटस्थ होकर प्राकृतिक परिस्थितियों का केवल अवलोकन करता है; वह घटना-चक्र में कोई परिवर्त्तन और हस्तक्षेप नहीं करता। वह केवल प्रकृति का प्रेक्षक है; जैसा उसके सामने घटित होता है उसे सतर्क, सावधान और चातुर्य के साथ यथावत् अध्ययन करता है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि निरीक्षण में निरीक्षक उदासीन और निष्क्रिय रहता है। ऊपर के कथन से मालूम होगा कि निरीक्षण में भी निरीक्षक सक्रिय, सावधान और सतर्क रहकर अपनी सामग्री का चयन करता है। ऐसा करने में उद्देश्य उसका मार्ग प्रदर्शन करता है जिसके द्वारा आवश्यक का ग्रहण और परीक्षण तथा अनावश्यक का परित्याग किया जाता है। निरीक्षण और प्रयोग में महत्वपूर्ण अन्तर केवल इतना ही है कि एक में घटना प्राकृतिक और दूसरे में, स्वरचित, परिचित तथा स्ववश परिस्थितियों में घटित होती है।

इन दोनों के भेद को स्पष्ट समझने के लिये एक उदाहरण लीजिये। वर्षा होने की सारी क्रिया का निरीक्षण करने के लिये हमें पहले तो जल का भाप में रूपान्तर-प्रकार जानना चाहिये। इसके लिये सूर्य के तापक्रम का समुद्र के जल पर प्रभाव, उनमें गणित के अंशों का प्रयोग जानना चाहिये। इसके अनन्तर वायु की गति, दिशा और फिर पर्वतों से बादलों का सम्पर्क, तदनन्तर भाप का जल के रूप में परिवर्त्तन। इतनी जटिल परिस्थितियों की गवेषणा के अनन्तर हमें वर्षा होने की क्रिया का निरीक्षण करने को मिलता है। वैज्ञानिक इस घटना को अपनी प्रयोगशाला में ऐसी परिस्थितियों में उत्पन्न करता है जिन्हें वह नाप-तोल सकता है, कम या अधिक कर सकता है, तथा जिनका उसे पूर्ण परिचय और अधिकार है। वह एक शीशे की नली में पानी लेकर किसी ज्ञात तापक्रम पर उसे इतना गर्म करता है कि पानी की भाप बन जाये। इसके अनन्तर नली के सहारे भाप उड़कर ऐसे स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ ठंड प्राप्त हो। उस स्थान पर उसका रूपांतर फिर पानी में हो जाता है। इस कृत्रिम वर्षा की घटना को प्रयोगशाला में उत्पन्न कर, वैज्ञानिक निश्चित, नपा-तुला निरीक्षण करने में समर्थ होता है।

इसी प्रकार आधुनिक विज्ञानों में अनेक घटनायें उत्पन्न करके उनका निरीक्षण किया जाता है। निरीक्षण की इस विधि का नाम प्रयोग है।

प्रयोग में वैज्ञानिक को अनेक सुविधाएँ और लाभ प्राप्त होते हैं। इनका मूल कारण यही है कि वह स्वयं परिचित, ज्ञात और स्वरचित परिस्थितियों में 'घटना' को प्रयोग-स्थान पर उत्पन्न करता है। ऐसा करने से वह घटना को सरल बना देता है। प्राकृतिक घटनाएँ जटिल होती हैं। उसकी सारी परिस्थितियों का हमें ज्ञान पाना भी असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। वह ठीक रूप से नाप-जोख कर गणित के आधार पर निश्चित नियमों की कल्पना कर सकता है। प्राकृतिक घटना का समय भी निश्चित नहीं; वह अत्यन्त शीघ्र, मन्द या दूर आदि हो सकती हैं। वैज्ञानिक अपने प्रयोग में सरलता से यंत्रों का प्रयोग कर उनकी गति और समय को अपने अनुकूल बना सकता है। जब उचित समझे उसी समय उत्पन्न करके घटना का शांति के साथ निरीक्षण भी सम्भव है। यदि निरीक्षक सभी परिस्थितियों को जानता है तो घटना का विश्लेषण अर्थात् उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का समझना सरल हो जाता है। वह किसी नई परिस्थिति का समावेश करके उसके फल को जाँच सकता है। इस प्रकार अनेक, विविध, नवीन घटनाओं का अध्ययन करके ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत बना सकता है। किसी विशेष कारण के कार्य का निरीक्षण भी प्रयोग द्वारा किया जाता है। इस प्रकार पृथक्करण से अनेक वस्तुओं के दूसरी वस्तुओं पर प्रभाव का ज्ञान पाया जाता है। किसी विशेष परिस्थिति के परिवर्तन, पृथक्करण, नाप-तोल, सरलीकरण, समावेश अथवा विश्लेषण आदि उपायों द्वारा आज का विज्ञान निश्चित नियमों के आविष्कार करने में समर्थ हुआ है।

वस्तुतः प्रयोग परीक्षण का एक रूप है। वैज्ञानिक जब किसी प्रश्न का निश्चित उत्तर पाना चाहता है तो वह प्रयोग द्वारा घटना का स्वरचित परिस्थितियों में निर्माण करता है। यदि हम जानना चाहें कि मनुष्य के मस्तिष्क, हृदय, रुधिर गति अथवा किसी अन्य भाग पर वायु के भार का क्या प्रभाव पड़ता है, तो प्राकृतिक अवस्था में उसे हवाई यान के सहारे आकाश में ले जाना चाहिए और ज्यों-ज्यों भार घटता जाये, उसके ऊपर पड़े हुए प्रभाव का निरीक्षण करना चाहिए। ऐसा करना कितना कठिन है, यह इससे सिद्ध

होगा कि निरीक्षक के ऊपर भी यह प्रभाव पड़ेगा। उस परिस्थिति में वह दूसरे व्यक्ति के ऊपर प्रभावों का निरीक्षण कैसे कर सकेगा! इसके अतिरिक्त, वायु का भार ही ऊपर चलकर मनुष्य को प्रभावित नहीं करता। तापक्रम का अंतर, ऊँचाई, वायुयान की गति आदि दूसरे प्रभाव भी विद्यमान हैं जिनको हमें इस दशा में निरीक्षण करना इष्ट नहीं। वैज्ञानिक केवल एक प्रश्न का उत्तर पाना चाहता है। वह प्रश्न है: वायु के भार का मनुष्य के विविध अंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है? यदि वैज्ञानिक इस अवस्था में प्रयोग से काम ले तो वह किसी मनुष्य या जीवधारी को ऐसे स्थान या कमरे में रक्खे जिसमें से वायु को बाहर निकाल कर भार कम और अधिक किया जा सके। यंत्रों के प्रयोग से वह अपने प्रश्नों का यथोचित उत्तर पा सकता है। जीव-विज्ञान में जीव के विविध अंगों पर ओषधियों, विषों तथा अन्य वस्तुओं के प्रभावों का ज्ञान इन प्रयोगों से होता है। वनस्पति-विज्ञान में खाद, वायु, जल आदि का भिन्न-भिन्न प्रभाव, भौतिक और रसायन-विज्ञान में पदार्थों की परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया आदि का अध्ययन इसी प्रकार होता है। आधुनिक मनो-विज्ञान में भी बुद्धि, स्मृति, कल्पना, संकल्प-शक्ति, कौशल आदि मानसिक शक्तियों को नापने के लिये अनेक प्रयोगों का आविष्कार किया गया है। वर्त्तमान विज्ञान न केवल प्रमाणित ज्ञान का सम्पादन करता है, वह इस प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने के साधन अथवा नवीन प्रयोगों का भी आविष्कार करता है।

प्रयोग का प्रारम्भ निश्चित प्रश्न से होता है। हम दैनिक जीवन में भी प्रयोग करते रहते हैं। यदि हम जानना चाहें कि उर्द की दाल का संध्या समय प्रयोग करने से पाचन क्रिया पर क्या प्रभाव होता है तो हम उसका खाना प्रारम्भ करके परिणाम की प्रतीक्षा करते हैं और निरीक्षण के द्वारा हमें उत्तर मिल जाता है। परंतु दैनिक प्रयोग में हमें अनेक बातों का विशिष्ट बोध नहीं होता, न हम उन पर कुछ अधिकार ही रख पाते हैं। ऊपर के उदाहरण में पाचन-क्रिया का सही ज्ञान हम में से बहुत को नहीं। दूसरे, अन्य प्रभाव भी पाचन में परिवर्त्तन करते रहते हैं। इसलिये वैज्ञानिक प्रयोग दैनिक प्रयोग की अपेक्षा निश्चित, नियमित होता है। सबसे पहले अन्वेषक अपने प्रश्न के अर्थ को अपने लिये स्पष्ट करता है। एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग को लीजिये। हम

यह जानना चाहते हैं कि मनुष्य किस गति के साथ स्मरण की हुई वस्तुओं को भूल जाता है। इस प्रश्न को प्रयोग के लिये स्पष्ट बनाने के लिए हमें जानना चाहिये कि स्मरण करने में कौन सहायक प्रभाव होते हैं। इन प्रभावों में शब्दों का अर्थ, गति, छन्दोबद्ध रचना, उत्साह और अर्थ से उत्पन्न सुख आदि की भावना, हमारा प्रयोजन आदि सम्मिलित हैं। ये सब शक्तियाँ मिलकर ही मनुष्य की स्वाभाविक स्मरण शक्ति की किसी बात को स्मरण करने में सहायक होती हैं। यदि हम यह जानना चाहें कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्मृति-शक्ति से कितनी वस्तु को स्मरण करने के अनन्तर भूल जाता है और किस गति से, तो हमें अन्य सहायक प्रभावों का निराकरण करना चाहिए। इस प्रकार प्रश्न के स्पष्ट होने के अनन्तर, उपयुक्त उत्तर पाने के लिये सामग्री की योजना की जाती है। ऐसे अनेक शब्दों की रचना की जाती है, जो निरर्थक हों, जिनमें छन्द न बन सके और न किसी स्पष्ट भावना का अनुभव हो। कोई मनुष्य उन्हें याद करने के अनन्तर, मान लीजिये १०० निरर्थक शब्दों के अनन्तर, उन्हें समय-समय बाद दोहराता है। पहली बार उनमें से ६० शब्द भूले गये, दोबारा १० शब्द, तीबारा ५ शब्द और इस प्रकार अन्त में चलकर कुछ शब्द शेष रहे जो बिल्कुल ही न भुलाये जा सके। यदि यह प्रयोग अनेक मनुष्यों पर किया जाये और प्रत्येक बार फल समान ही निकले तो हम भूलने की गति पर नियम बना सकेंगे—विस्मृति स्मरण करने के तुरन्त अनन्तर बहुत अधिक होती है और फिर एक दम कम होती जाती है, इत्यादि।

इस प्रकार प्रयोग एक प्रश्नोत्तर क्रिया है जिसमें हम न केवल तटस्थ होकर प्राकृतिक घटना का निरीक्षण करते हैं, परन्तु प्रकृति से निश्चित प्रश्न का निश्चित उत्तर पाते हैं। परन्तु प्रयोग जिन कारणों से इतना लाभदायक सिद्ध होता है जितना निरीक्षण नहीं, उन्हीं कारणों से इसका क्षेत्र भी सीमित हो गया है। बहुत से विज्ञानों में हम उन प्राकृतिक घटनाओं को ज्यों का त्यों उत्पन्न नहीं कर सकते, जैसे भूगोल, खगोल, भूगर्भ विज्ञान आदि में घटना-चक्र इतना विस्तृत, विशाल और जटिल होता है कि साधारणतया भूकम्प, वायु की गति आदि घटनाओं का प्रयोग-शाला में निर्माण करना नितान्त असम्भव है। इतिहास, पुरातत्व विज्ञान, मानव-विज्ञान आदि में घटनायें व्यतीत हो चुकती

हैं और समय का अन्तर हो जाता है। अन्य-विज्ञानों में भी जहाँ कारण व्यतीत हो जाये, केवल कार्य ही उपलब्ध हो, वहाँ भी प्रयोग असम्भव है। प्रयोग का उपयोग केवल उस दशा में सम्भव है जहाँ कारण प्रस्तुत हो और कार्य का निरीक्षण करना हो। यदि एक झील किसी प्रदेश में ऐसी है कि उसका एक भाग पृथ्वी के भीतर नीचे की ओर धँसा हुआ है और यह दूसरी झीलों की बनावट से भिन्न है, तो इस दशा में हम प्रयोग नहीं कर सकते। केवल उसके स्वरूप आदि का निरीक्षण करके उसके कारण की कल्पना कर सकते हैं। घूमती हुई पृथ्वी के ऊपर किसी आकाश-पिंड के गिर पड़ने से ऐसी झील बनी होगी।

सामाजिक क्षेत्रों में भी प्रयोग की विशेष सम्भावना नहीं। समाज में आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, कलात्मक तथा साहित्यिक घटनायें क्रमिक विकास से घटित होती हैं। उदाहरण के लिये, भारतीय हिन्दी-साहित्य को लीजिये। इसमें कविता का स्वरूप, गद्य की लेखन शैलियाँ, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा व्यंजना के अन्य साहित्यिक मार्ग, एकदम कभी प्रकट नहीं होते। लोगों की रुचि और विकास तथा अन्य सामाजिक प्रभावों से स्वयं ही साहित्य में नये स्वरूपों का आविर्भाव होता है। इन सामाजिक विज्ञानों में इतिहास की भाँति ही उत्थान-पतन तथा आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है। इसके अतिरिक्त, जहाँ प्रयोग की सम्भावना भी है, उनमें यदि ये प्रयोग हानिकारक सिद्ध हों, तो समाज इनके लिए आज्ञा नहीं देता। यदि हम मद्यपानादि या किसी प्रथा का मनुष्यों पर क्या प्रभाव पड़ेगा, यह प्रयोग करना चाहें तो समाज इसका विरोध करता है। अन्त में, ये सामाजिक घटनायें इतनी जटिल, दुर्निरीक्ष्य होती हैं कि इनका उत्पन्न करना नितान्त असम्भव है। हमारे समय में आर्थिक क्षेत्र में कुछ नियमों का बन्धन होने के कारण, बहुत सी आर्थिक परिस्थितियाँ नियंत्रण में हो गई हैं, जैसे सिक्कों की संख्या, वस्तुओं का आयात-निर्यात, आदि अनेक नियंत्रण हैं जिनका प्रयोग देश की सरकार किसी समाज में करती है। ऐसी दशा में, यदि हम चाहें तो कुछ प्रयोग कर सकते हैं, जैसे सिक्कों की संख्या बढ़ाने से मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा तथा घटा देने से मूल्य कितना घट-बढ़ जायगा। इस प्रकार जहाँ कहीं मनुष्य अपने नियंत्रण द्वारा समाज की परिस्थितियों को स्ववश कर पाया है, वहाँ प्रयोग की सम्भावना हो गई है। विज्ञान इस बात की

सतत चेष्टा करता है कि उन क्षेत्रों में जहाँ प्रयोग अनुपयुक्त है, वहाँ ऐसी दशा उत्पन्न करे जिनमें उसका उपयोग हो सके।

वैसे तो, जहाँ संख्या, परिमाण आदि के द्वारा हम वस्तु के स्वरूप का निर्णय नहीं कर पाते, केवल गुण का अनुभव करते हैं, वहाँ भी प्रयोग असंभव होता है, जैसे किसी राग या चित्र का सौन्दर्य। हम इन विषयों में निरीक्षण करके सुन्दर संगीत और सुन्दर चित्र के गुणों के सम्बन्ध में नियम बना सकते हैं, परन्तु प्रयोग नहीं कर सकते। आधुनिक विज्ञान इतने से संतुष्ट नहीं होता। प्रत्येक राग का उसके स्वरों में, प्रत्येक स्वर का उसकी श्रुतियों में और प्रत्येक श्रुति का उसके स्पन्दन-गति की प्रति सेकिण्ड संख्या में, विज्ञान विश्लेषण करता है। संभव है नवीन प्रयोगों द्वारा प्रत्येक राग के सौंदर्य का निर्णय उसके प्रतिक्षण स्पन्दन की संख्या के अनुसार हो सके और चित्र के सौंदर्य के लिये विभिन्न वर्णों के स्पंदन और लहर की लम्बाई आदि के गणित-युक्त नियम बन सकें।

इन सब क्षेत्रों में जहाँ प्रयोग कठिन, निषिद्ध, अनुपयुक्त अथवा असम्भव है, हम साधारण निरीक्षण का उपयोग करते हैं। यंत्रों को काम में लाना भी निरीक्षण में वर्जित नहीं। केवल किसी परिवर्त्तन या घटना को हम कृत्रिम साधनों से उत्पन्न नहीं कर पाते, करना चाहते अथवा करना अनुचित और अनुपयुक्त समझते हैं। निरीक्षण का क्षेत्र इस प्रकार प्रयोग की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। न केवल इतना ही, निरीक्षण द्वारा प्राप्त फल कई दशाओं में प्रयोगशाला में किये गये प्रयोग-फल की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होता है, क्योंकि निरीक्षण में घटना प्राकृतिक परिस्थितियों में घटित होती हुई देखी जाती है। संभव है कि प्रयोगशाला में किये गये प्रयोग का फल प्राकृतिक अवस्था में सही न उतर सके। प्रयोगशाला में कृत्रिम परिस्थिति उत्पन्न करके, रेत में बिना सिंचाई गेहूँ उत्पन्न हो जाय, परन्तु मरुस्थल में गेहूँ की खेती संभव नहीं हुई है। इस प्रकार प्रयोगशाला में प्राप्त प्रयोग का फल निरीक्षण के फल की अपेक्षा निम्न कोटि का और कृत्रिम रहता है। और भी, बहुधा प्रयोग के द्वारा हम उन्हीं फलों की परीक्षा करते हैं जिनका पूर्वज्ञान हमें निरीक्षण द्वारा मिल जाता है। फलतः यद्यपि प्रयोग के फल विज्ञान में हमें मान्य होते

हैं, परन्तु निरीक्षण भी अनेकों स्थानों में उपादेय होता है। कभी-कभी दोनों का प्रयोग किसी घटना के लिए किया जाता है, विशेषतः उन दशाओं में जहाँ प्रकृति स्वयं ऐसी घटनायें उपस्थित कर देती है जिससे अन्वेषक को प्रयोग की सी सुविधायें मिल जाती हैं। ऐसी घटना खगोल में ग्रहण या नक्षत्रों का ग्रास, तथा महामारी, युद्ध आदि के प्रकोप से विशेष परिस्थितियों का आविर्भाव होना है। इन निरीक्षणों को प्राकृतिक प्रयोग के नाम से पुकारते हैं।

कल्पना

विज्ञान में कल्पना का स्वरूप—चित्रकार अपने चित्र में एक कुटी का चित्रण करता है। सुन्दर रंगों से फूल-पत्तियाँ बनाता है और उनमें आनंद और जीवन का उल्लास भर देता है। रेखाओं की गति, उत्थान और पतन से उसमें तरलता उत्पन्न होती है। कुटी नदी के तट पर है और प्रातः के अरुण राग में झिलमिला उठी है। दूरी पर नौका दिखाई देती है; आस-पास फूलों से भरा उपवन है। चित्र इतना सुन्दर और मुग्ध करनेवाला है कि देखते ही दर्शक उसी चित्र के जगत् में पहुँच जाता है। यह चित्र-कला का एक नमूना है जिसको बनानेवाला चित्रकार सुन्दर और आनन्द की भावना से विकल होकर एक कुटी की कल्पना करता है। बिल्कुल यही दृश्य उसने कहीं देखा, सुना नहीं। परंतु कल्पना के द्वारा एक नवीन सृष्टि करके उसे रंगों और रेखाओं से व्यक्त करता है। अपनी भावना का भार उसमें भर देता है। इसके द्वारा वह अपने अतीत अनुभव में नवीन भाव उत्पन्न करता है। भावना से प्रेरित होकर कल्पना उड़ान भरती है अपने ही अतीत अनुभव के अनन्त अन्तराल में। चित्र की यह सृष्टि कलात्मक कल्पना का परिणाम है।

जिस प्रकार चित्रकार चित्र द्वारा अपनी भावना को व्यक्त करता है, उसी प्रकार कवि, उपन्यासकार, कहानी-लेखक, मूर्ति बनानेवाला आदि भी अपने-अपने अनुभवों को वास्तविक और स्थायी रूप देने के लिए काव्य, कहानी, घटना-चक्र, मूर्त्ति आदि की रचना करते हैं। ऐसा करने में वे कल्पना का सहारा लेते हैं। कला में कलाकार की कल्पना, भावना से प्रेरित होकर सुन्दर वस्तु का सृजन करती है। व्यवहार-कुशल व्यक्ति भी कल्पना के आधार पर अनेक योजनायें बनाता है। साधारण जीवन में अपने व्यवहार को सफल बनाने के लिए हम प्रबन्ध करते हैं। यदि हमारे यहाँ लड़की का विवाह है तो उसके लिए सफल योजना बनाने के लिए हम प्रत्येक समय के उपयुक्त कल्पना करते हैं। इञ्जीनियर नये पुल की योजना बनाने के लिये, उद्योगी पुरुष किसी नयी

फैक्टरी को चलाने के लिये, और गृहिणी अपने आगन्तुक अतिथियों के सत्कार के लिये, कल्पना का सहारा लेते हैं।

इन सब दशाओं में, कल्पना सोद्देश्य होती है। कलाकार का उद्देश्य सुंदर वस्तु का सृजन और व्यावहारिक मनुष्य का उद्देश्य योजना की सफलता होता है। यह उद्देश्य कल्पना के लिये दिशा का निश्चय करता है। निरुद्देश्य कल्पना, शेखचिल्ली की उड़ान की भाँति, व्यर्थ होती है। साथ ही, ये कल्पना निराधार नहीं होती। चित्रकार और उद्योगी—दोनों ही व्यक्ति, अपने पूर्व-अनुभव और साधना के आधार पर चलते हैं और उसका, जहाँ तक सम्भव होता है, विरोध नहीं करते। बच्चे की कल्पना और युवक के सुनहरे स्वप्न आनन्द-दायक तो होते हैं, परन्तु इनमें अतीत अनुभव का आधार नहीं। अन्त में, इन कल्पनाओं में नवीनता होती है। नवीनता और अपूर्वता सफल कल्पना का प्राण है। चित्रकार अथवा उद्योगी केवल किसी पूर्व के अनुभव को नहीं दोहराते और न किसी का अनुकरण करते हैं। यह नवीनता कहाँ से उत्पन्न होती है, इसका मनोविज्ञान अभी तक कोई उत्तर नहीं दे पाया। हम केवल इतना कह सकते हैं कि मन के गम्भीर, अप्रकाशित और अचेतन स्तरों में इस नवीनता का जन्म होता है। हमारा चेतन मन उसे ग्रहण कर लेता है। कलाकार या कवि की अपूर्व और प्रखर प्रतिभा, जो प्रकृति से प्राप्त स्वाभाविक शक्ति है, कल्पना में नवीनता उत्पन्न करती है। उसकी अन्तर्दृष्टि इसको पहचान कर स्वीकार करती है।

सफल कल्पना के चार लक्षण हैं:—क—सोद्देश्य होना, ख—साधार होना, ग—नवीनता और अपूर्वता, घ—प्रतिभा और प्राकृतिक अन्तर्दृष्टि से उत्पत्ति।

कई लोगों का मत था कि विज्ञान में कल्पना का कोई काम नहीं। मध्यकालीन धर्म ने कल्पना के आधार पर अनेक वैज्ञानिक सत्यों को स्थापित किया था, जैसे पृथ्वी को स्थिर और सौर जगत् का केन्द्र मानना, अनेक प्राकृतिक घटनाओं का पाप और पुण्य को कारण मानना इत्यादि। कल्पना के विरुद्ध उस समय प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई और फिर से प्रत्यक्ष अनुभव को ही विज्ञान का आधार स्वीकार किया गया। वैज्ञानिक सत्य और काल्पनिक अन्ध-विश्वास में इतना अन्तर था कि महान् अन्वेषक न्यूटन को कहना पड़ा, "मैं कल्पना

नहीं करता।" परन्तु यह निश्चय है कि उस समय कल्पना के वास्तविक स्वरूप और उसकी उपादेयता का ज्ञान न था।

विज्ञान का उद्देश्य है प्रकृति में घटित होनेवाली अनंत घटनाओं को सामान्य-नियमों के ज्ञान से संगठित और शृङ्खलाबद्ध करना। कोई एक प्राकृतिक घटना अपनी विशिष्ट परिस्थितियों से इतनी सीमित होती है कि इसका दूसरी घटनाओं से कोई संबंध प्रतीत नहीं होता। इन घटनाओं को हम अलग-अलग समझ भी नहीं सकते। यदि प्रत्येक घटना का अपना अलग कारण होता हो तो अनन्त घटना-चक्र का समझ लेना मानव-शक्ति से बाहर की बात होती। इसलिए समझने के लिए हम अनेकों घटनाओं में विशेषता के अतिरिक्त समानता की खोज करते हैं। प्रत्येक मनुष्य दूसरे से भिन्न होते हुए भी मनुष्यता के नाते समान है। भिन्नता केवल ऊपरी और अनावश्यक है, परन्तु भिन्नता के पीछे समानता आंतरिक और आवश्यक है। यह समानता जो अनेकों व्यक्तियों में एक है उनका तत्त्व और स्वभाव है। इसी के आधार पर सामान्य-नियमों का आविष्कार किया जाता है। परन्तु इस तत्त्व अथवा सामान्य-स्वभाव का प्रत्यक्ष दर्शन सम्भव नहीं। प्रकृति की अनेक घटनाओं में उनकी तात्त्विक समानता विशिष्ट परिस्थितियों में इतनी छिपी रहती है कि उसकी झाँकी केवल अपूर्व प्रतिभा के सहारे ही होती है। वैज्ञानिक गवेषणा का अर्थ ही यह है कि प्रतिभा के बल से अन्वेषक इस तत्त्व का उद्घाटन करे।

विज्ञान में कल्पना का स्वरूप यह है कि वह वैज्ञानिक प्रतिभा की उपज है। यह प्रतिभा, कलाकार और कवि की भाँति ही, अपने क्षेत्र में नवीन ज्ञान का आविष्कार करने को विकल रहती है, जिसके द्वारा अनुभव व्यवस्थित हो जाता है और घटनामय संसार संगठित होने से समझने योग्य हो जाता है। धार्मिक, दार्शनिक आदि क्षेत्रों में कल्पना केवल मनुष्य की भावनाओं, विश्वासों और आन्तरिक अस्पष्ट अनुभवों को लेकर ज्ञान का आविष्कार करती है। विज्ञान में प्रत्यक्ष घटनाओं के निरीक्षण से, इन्हीं को ठीक रूप से समझने के लिए, कल्पना प्रारम्भ होती है। कल्पना के अनन्तर उसी के अनुकूल पाये जानेवाले निरीक्षण से उसकी पुष्टि और प्रमाण होता है। अतः वैज्ञानिक कल्पना का आधार और पोषक हमारा

निरीक्षण होता है। ऐसे भी कुछ अवसर आ जाते हैं जिनमें प्रारम्भिक निरीक्षण या तो प्राप्त नहीं होता या सम्भव नहीं होता। इस दशा में गवेषक घटनाओं की कल्पित व्यवस्था के अनुसार किसी आगामी अथवा जिसका निरीक्षण आगे, सम्भव हो ऐसी घटनाओं के विषय में भविष्यवाणी करता है। उस भविष्यवाणी के सत्य हो जाने पर कल्पित व्यवस्था भी पुष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिये, हार्वे नामक वैज्ञानिक ने कल्पना की थी कि मनुष्य के शरीर में रुधिर-चक्र है जिसके अनुसार रक्त हृदय से धमनियों द्वारा निकलकर फिर शिराओं के द्वारा लौट आता है। हृदय के दो भाग हैं जिनके बीच में पर्दा है। दायें भाग से बायें भाग में रक्त जाने के मार्ग का उस समय पता न था। उस समय के वैज्ञानिक लोग यही समझते थे कि इस पर्दे में होकर ही रक्त दायें भाग से बायें भाग में चला जाता है। परन्तु बायें भाग में शुद्ध रक्त हल्के लाल रंग का होता है और दायें भाग में गहरे लाल रंग का। इस रंग में परिवर्त्तन कैसे होता है? हार्वे ने अपनी कल्पित व्यवस्था के अनुसार अनुमान किया कि दायें भाग से बायें भाग में रुधिर पहुँचने के लिए कोई ऐसा मार्ग होना चाहिए जिसमें उसे शुद्ध होने का अवसर प्राप्त हो जाय। इस अनुमान के अनन्तर दूसरे वैज्ञानिक ने अपने सूक्ष्मवीक्षण-यंत्र के द्वारा हार्वे के कथन को पुष्ट किया।

इस प्रकार हम मानते हैं कि विज्ञान में कल्पना का वही स्वरूप और स्थान है जो कला अथवा साधारण सफल व्यवहार में है। विज्ञान में भी कल्पना का आधार होता है। यह आधार निरीक्षण है, चाहे यह प्रारम्भ में हो या कल्पना के अनन्तर, जैसा ऊपर उदाहरण में था। विज्ञान में कल्पना का उद्देश्य भी होता है, क्योंकि इसके बिना हम सामान्य नियम को न समझने के कारण अपने अनुभव को व्यवस्थित नहीं बना सकते। प्रत्येक वैज्ञानिक-कल्पना नवीन और अपूर्व होती है, क्योंकि इसके द्वारा हम अव्यवस्थित अनुभव को व्यवस्थित बनाते हैं। गेलीलियों से पूर्व वैज्ञानिक पृथ्वी को चौरस और आकाश मण्डल का केन्द्र मानते थे। इसी ज्ञान के आधार पर चन्द्र ग्रहण, सूर्य ग्रहण आदि अनेक घटनाओं को समझते थे। परन्तु कुछ नये निरीक्षकों ने ऐसी अनेक घटनाओं का निरीक्षण किया जो पहली कल्पना के अनुकूल न थीं। तब तो इस कल्पना को त्यागकर, इसके विपरीत कोपर्नकस की अपूर्व कल्पना को स्वीकार

करना पड़ा—वह कल्पना थी कि पृथ्वी और सब ग्रह गोलाकार हैं तथा सूर्य ही सब ग्रह और गतियों का केन्द्र है। इस प्रकार विज्ञान में प्रत्येक प्रगति के अवसर पर एक नई कल्पना करनी पड़ती है जिसके अनुसार निरीक्षण द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव रहता है। नये अनुभव के अनुकूल कल्पना की जाती है और पुरानी कल्पना अनुभव का विरोध करने के कारण त्याज्य हो जाती है। इस लिए 'कल्पना' चरम और सिद्ध ज्ञान नहीं माना जाता। कल्पना को दृढ़ और स्थिर बनाने के लिए आगे चलकर प्रमाण दिये जाते हैं, अनेक उपायों से उसका परीक्षण होता है।

कल्पना के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है उसे हम एक परिभाषा के द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं—वैज्ञानिक-कल्पना अन्वेषक की विशेष प्रतिभा से उत्पन्न वह सामान्य-नियम का आविष्कार है जिसका लक्ष्य और उपादेयता अनेक अनुभूत घटनाओं को व्यवस्थित, सूत्रबद्ध करने में है। यह कल्पना नवीन होती है क्योंकि यह उन घटनाओं को समझने के लिये नवीन प्रकाश प्रदान करती है। परन्तु यह सिद्ध और स्वीकृत उसी समय समझी जाती है जब अन्वेषण द्वारा वह निरीक्षण के अनुकूल समझ ली जाय। निरीक्षण, प्रारम्भ में और चरम में, कल्पना का आधार और पोषक माना जाता है। निरीक्षण के प्रतिकूल होने पर उसे त्याज्य समझा जाता है।

गवेषणा में किन विशेष अवसरों पर कल्पना का प्रयोग आवश्यक और अनिवार्य होता है, इसका उल्लेख हम नीचे करेंगे :—

(क) कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए—यदि हमें कारण मालूम है तो हम निरीक्षण अथवा प्रयोग द्वारा कार्य का पता लगाते हैं। कोटोजम का शारीरिक स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव होता है? यदि हमें कोटोजम के कार्य का पता लगाना है तो हम कुछ जीवधारियों, जैसे चूहे, आदि को कोटोजम पर पालते हैं और कुछ समय बाद पाचन-क्रिया, आँख, अतड़ी, हृदय आदि पर इसके प्रभाव का निरीक्षण करते हैं। यहाँ हमें कल्पना की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परंतु यदि हमें 'कार्य' मालूम है तो कारण जो कार्य से पहले हो चुकता है, हमें केवल कल्पना द्वारा ही समझ में आने के योग्य होता है। अमेरिका और रूस देशों में 'परमाणु' बमों का बिस्फोट हुआ है। परमाणु

के फटने से उसके सम्पर्क में आने वाली अनेक वस्तुओं पर 'रेडियम' नामक तत्त्व का प्रभाव पड़ता है। वे पदार्थ 'रेडियो-एक्टिव' हो जाते हैं। विस्फोट के अवसरों पर इन देशों के वैज्ञानिकों ने इस प्रभाव को समझने के लिये अनेक प्रयोग और निरीक्षण किये। इन दशाओं में कारण का ज्ञान था। कार्य के विषय में कल्पना करना अनावश्यक और अनुचित प्रतीत होता है। अभी कुछ समय पूर्व स्विटज़रलैण्ड और इटली में अत्यधिक वर्षा हुई है और बाढ़ के कारण हानि हुई है। यह किसी कारण का फल है। फ्रांस देश के एक वैज्ञानिक ने कुछ निरीक्षण के अनन्तर कारण के विषय में कल्पना की है कि यह अत्यधिक वर्षा परमाणु-बम के विस्फोट से उत्पन्न 'रेडियो-एक्टिविटी' का फल है। इस प्रकार भूगोल, भूगर्भ विद्या, इतिहास, अपराध विज्ञान आदि विज्ञानों में फल अथवा कार्य जैसे झील, पर्वत, काली मिट्टी के मैदान, ज्वालामुखी का उद्‌गार, भूकम्प, राष्ट्र का उत्थान-पतन, सभ्यता और संस्कृति का विकास और ह्रास, चोरी, डाका, इत्यादि घटनायें पहले हो चुकती हैं। इन विषयों में वैज्ञानिक कारण की कल्पना करता है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं।

(ख) कार्य-कारण सम्बंध के अतिरिक्त सम्बंध की गवेषणा—वैज्ञानिक गवेषणा के दो प्रकार हैं। एक तो कार्य-कारण सम्बंध की गवेषणा, जिसमें कारण का ज्ञान होने पर कार्य का अन्वेषण और कार्य का पता होने पर कारण का अन्वेषण किया जाता है। यह सम्बंध ऐसी दो घटनाओं में होता है जिनमें एक पूर्व-कालिक, दूसरी उत्तर-कालिक होती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ घटनायें ऐसी होती हैं जिनमें पारस्परिक, निश्चित सम्बंध होने के कारण वे सब मिलकर एक विशेष 'संस्थान' अथवा 'संघटना' को उत्पन्न करती हैं। उनमें किसी एक को समझने के लिये सम्पूर्ण संस्थान में उसका सम्बंध और स्थान समझना आवश्यक होता है। उदाहरण के लिये, जीव-विज्ञान में हम देखते हैं कि मरुभूमि में रहने वाले पशुओं की गर्दन लम्बी होती है, या वहाँ छोटे जीवधारी जैसे बकरी आदि पाये जाते हैं। वहाँ झाड़ी कटीली या लम्बे खजूर के वृक्ष होते हैं। जिन भागों में अत्यधिक शीत पड़ता है, वहाँ के पशु रोयेदार होते हैं और वृक्ष ऊपर से नुकीले पत्तीदार होते हैं। जहाँ ग्रीष्म-ऋतु में वर्षा नहीं होती, उन भागों में पेड़ों की पत्ती भारी, लसदार होती हैं और

जड़ें गहरी और भारी रहती हैं। जहाँ वर्षा अधिक होती है, वहाँ वनस्पति की बहुत रेल-पेल रहती है। वृक्षों के सबसे ऊपरी भाग में पत्ते रहते हैं। वहाँ के जीवधारी पेड़ों की शाखाओं पर रेंगने वाले होते हैं। इन सब घटनाओं में ऊपर से तो कोई सम्बंध प्रतीत नहीं होता परंतु विचार करने से ये सब एक ही संस्थान के अंग हैं। किसी स्थान के पशु और वनस्पति उस स्थान की जलवायु के अनुकूल अपने आप को बना लेते हैं। जीवधारियों का शरीर-विन्यास, वनस्पतियों का आकार आदि उनके अपने आपको वायु-मण्डल के अनुकूल बनाने के प्रयत्न का फल है। इस नियम की कल्पन ा करने से ये अलग-अलग घटनायें एक ही संघटना के अवयव प्रतीत होने लग ती हैं। इसी प्रकार हम कई संस्कृति और सभ्यताओं के विकास और ह्रास के इतिहास का अध्ययन करते हैं। भिन्न-भिन्न होते हुए भी किसी एक नियम की कल्पना से ये सब घटनायें एक ही संस्थान में संगठित की जा सकती हैं। इन सब दशाओं में, वैज्ञानिक किसी घटना को समझने के लिये पूर्ण संस्थान की कल्पना करता है। राजनीति, अर्थशास्त्र, जीव-विज्ञान आदि में कल्पना द्वारा ऐसे संस्थान निर्माण करने वाले नियमों का आविष्कार किया जाता है।

(ग) विशदीकरण में कल्पना का उपयोग—हम विज्ञान में घटनाओं के कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा संस्थान के आविष्कार से ही संतुष्ट नहीं होते। यद्यपि इन नियमों के ज्ञान से अनेक पृथक्-पृथक् घटनायें व्यवस्थित और एक ही सूत्र में बँध जाने के कारण समझने योग्य हो जाती हैं, परन्तु ये नियम स्वयं भी स्पष्ट समझने योग्य होने चाहिये। एक नियम को उससे भी अधिक विस्तृत और स्पष्ट नियम की सहायता से समझा जाता है और अंत में हम एक ऐसे स्तर पर पहुँच जाते हैं जहाँ पर हमें स्वयं-सिद्ध मौलिक सिद्धान्त मिल जाता है। इस प्रक्रिया का नाम 'विशदीकरण' है। ऊपर के उदाहरण में, जीव और वनस्पति अपने आप को भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु इस नियम से भी अधिक विस्तृत नियम यह है कि प्रत्येक जीव, जीवन के लिये संघर्ष करता है। इस संघर्ष के कारण प्रत्येक जीव अपनी रक्षा के लिए भाँति-भाँति के आकारवाला हो जाता है। जीवन एक निरन्तर संघर्ष का नाम है। इस नियम की कल्पना करने से जीवन का

विकास-क्रम, प्रत्येक जीव और वनस्पति का अपने आपको बदलने का अथक प्रयत्न समझ में आ जाता है। यद्यपि यह सार्वभौम नियम केवल कल्पित है, परन्तु ज्यों-ज्यों हम राष्ट्रों के उत्थान और विनाश, जातियों और जीवों के उत्कर्ष और अपकर्ष का इतिहास, इस नियम के द्वारा समझने का प्रयत्न करते हैं, त्यों-त्यों इन घटनाओं पर नवीन प्रकाश पड़ता जाता है। इस प्रकार यह और भी स्पष्ट हो जाता है। अनेक नियमों को एक ही संस्थान में संगठित करने के लिये हम कल्पना का सहारा लेते हैं।

विज्ञान की उन्नति होने पर भी आज हमें अग्नि के स्वरूप का ठीक पता नहीं। इसके विषय में कई कल्पनायें की जा चुकी हैं और इनमें से कई अस्वीकार भी की गई हैं। हम अग्नि के विषय में कई नियम जानते हैं; जैसे अग्नि द्वारा वस्तुओं का तापक्रम बढ़ने से उनका मान बढ़ जाता है। अग्नि एक स्थान से दूसरे स्थान पर चली जाती है। एक गर्म वस्तु को ठण्डी वस्तु के साथ सम्पर्क में रखने से गर्म और ठंडी वस्तु दोनों ही समान तापक्रम पर पहुँच कर रुकती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे दो टङ्कियों को यदि एक नली द्वारा जोड़ दिया जाय तो अधिक पानीवाली टङ्की से पानी कम पानीवाली टङ्की में उस समय तक बहता रहेगा, जब तक दोनों का तल समान न हो जाये। इन नियमों का पृथक् रहना विज्ञान को अभीष्ट नहीं। इसलिये वैज्ञानिक ऐसे नियम की कल्पना करता है जिसके द्वारा वे सभी एक सूत्र में व्यवस्थित हो जाय। "अग्नि का स्वरूप परमाणुओं में निरन्तर स्पन्दन है"—इस कल्पना से सभी नियम व्यवस्थित और सूत्र-बद्ध हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्य विज्ञानों में भी अनेक नियमों में सामञ्जस्य उत्पन्न करने के लिये वैज्ञानिक कल्पना का सहारा लेता है।

(घ) अनुसंधान करने के लिये कल्पना का उपयोग—अनुसन्धान में कल्पना इतनी उपयोगी सिद्ध हुई है कि कुछ विचारक इसे एक अलग अनुसंधान-विधि मानते हैं। उदाहरण के लिये—मान लीजिये आज मैं जब विद्यालय से लौटकर घर आया तो देखा कि घर में बड़ी सफाई और तैयारी-सी मालूम होती है। कमरे धुले हुए, कुर्सी साफ, सब वस्तुयें अपने स्थान पर सजी हुई हैं, जैसा प्रतिदिन नहीं होता था। देखते ही कल्पना प्रारम्भ हुई

क्या आज कोई उत्सव है ? या कोई विशेष अतिथि आज आया है ? अथवा, आज कुछ सफाई की सनक सूझ गई है ? ये तीनों ही कल्पना निरीक्षण के अनुकूल हैं। यद्यपि इस उदाहरण में अनुसन्धान का विशेष महत्व नहीं, तो भी इसी के अनुसार दैनिक जीवन में कल्पना के द्वारा अनुसन्धान किया करते हैं। यदि मेरी पुस्तक खो गई है तो मैं एकदम कल्पना प्रारम्भ करता हूँ, क्या मैंने यह पुस्तक किसी को दे दी है ? या, घर या विद्यालय में रखकर भूल गया हूँ। इन्हीं कल्पनाओं के आधार पर आगे अनुसंधान किया जाता है। जिस कल्पना के अनुकूल परिस्थितियाँ मिलती जाती हैं, उसे हम स्वीकार कर लेते हैं और प्रतिकूल होने पर उसे त्याग देते हैं।

पुलिस का कोई जासूस हत्या के मामले में अनुसन्धान प्रारम्भ करता है। पहले उसने सारी ज्ञात परिस्थितियों का निरीक्षण किया। हत्या सन्ध्या के झुटपुटे में नदी के पास रेत के मैदान में हुई है जब कि वह व्यक्ति शहर से मुकदमे के उपरान्त घर को जा रहा था। हत्या के स्थान के पास एक झाड़ी है, उसके पास कुछ पैरों के निशान और जली हुई सिगरेट के टुकड़े और कुछ राख मिली। हत्या के स्थान पर वही पैरों के निशान हैं। हत्या में किसी तेज छुरे आदि का प्रयोग पीछे से किया गया है, परन्तु मरनेवाले व्यक्ति ने मरने से पूर्व लड़ाई की है, क्योंकि वहाँ पर काफी जगह में पैरों के विसटने के चिह्न हैं। कुछ सुनहरे बाल भी वहाँ पड़े मिले हैं। उसकी जेबों में रुपया, घड़ी इत्यादि मिली है। झाड़ी के पास और दुर्घटना के पास पैर के चिन्ह में एक विशेषता है कि वह एक ओर पृथ्वी में धँसा हुआ और दूसरी ओर उभरा हुआ है इत्यादि।

जासूस इन सब घटनाओं को सूत्रित करना चाहता है और इनके अनुकूल कल्पना करता है। यह हत्या किसी चोर या डाकू का काम नहीं। किसी जानते हुए शत्रु ने समय पाकर अपना वैर-शोधन किया है। इस कल्पना के आधार पर वह अनुसन्धान प्रारम्भ करता है। मृत मनुष्य के कई शत्रु हैं। वह गाँव का रहनेवाला धनी जमीदार है। परन्तु उसके शत्रुओं में से केवल तीन ही सिगरेट पीते हैं और इन तीनों में केवल एक व्यक्ति ऐसा है जिसके पैरों के चिह्न घटना स्थल के पैरों के चिह्न के बराबर हैं। वह व्यक्ति कुछ लंगड़ा भी है जिससे पैर वालू रेत में धँसा हुआ और दूसरी ओर उभरा हुआ रहता है। उसके बाल

भी उसी प्रकार के हैं जिनको जासूस ने घटना स्थल में पाया था। इन सब छोटी-बड़ी घटनाओं को एक साथ बाँधनेवाली केवल एक कल्पना प्रतीत होती है कि यह लंगड़ा, सुनहरे बालों वाला, सिगरेट पीनेवाला आदि व्यक्ति ही इस मामले में हत्यारा है।

परन्तु अभी तक यह कल्पना ही है। आगे अनुसन्धान और कल्पना के पुष्ट होने की आवश्यकता है। जासूस उसके आधार पर गवेषणा करता है और मान लीजिये, इसी कल्पना के अनुकूल सब बातें मिलती जाती हैं तो यह कल्पना पुष्ट हो जाती है, जैसे, हत्या के पहले और पीछे उस व्यक्ति को उस घटना-स्थल के समीप ही कुछ गवाहों ने देखा था। उसके साथ उस शहर में मुकदमे का निर्णय हुआ था जिसमें वह व्यक्ति हार गया था। इस प्रकार ज्यों-ज्यों इस कल्पना के अनुकूल नवीन बातें मिलती जाती हैं, त्यों-त्यों वह दृढ़ होती जाती है। यदि प्रतिकूल बातें मिलती हैं तो इसे छोड़कर दूसरी कल्पना के आधार पर अनुसन्धान किया जाता है। पुलिस के लगभग सभी अनुसन्धानों में इसी कल्पना-विधि का उपयोग किया जाता है। कुछ निरीक्षण के उपरान्त, अन्वेषक कर्मचारी कई कल्पनायें जो निरीक्षण पर आश्रित हों, करता है। प्रत्येक कल्पना अनुसन्धान की दिशा सूचित करती है। योग्य और अनुकूल बातों के अधिकाधिक मिलने से उनमें कोई एक स्वीकृत और दूसरी त्याज्य हो जाती हैं। इन सब अनुसन्धानों में कल्पना ही गवेषणा के लिये मार्ग-प्रदर्शन करती है।

विज्ञान में भी अनुसन्धान का ठीक यही रूप होता है। हिमालय पर्वत पर चढ़ाई करनेवाले कुछ लोगों को काफी ऊँचाई पर मछलियों के शरीर बर्फ में दबे हुए मिले। इतनी ऊँचाई पर मछलियों का जीवित पाया जाना असम्भव-सा प्रतीत होता है, और, कोई मनुष्य पहले यहाँ मछली लेकर आया हो, यह भी बात जँचती प्रतीत नहीं होती। तब कल्पना की गई ; सम्भव है आज जहाँ हिमालय पर्वत है वहाँ कभी गहरा समुद्र रहा हो। भूगर्भ में उथल-पुथल मचने पर समुद्र के स्थान पर पर्वत बन गया हो जिससे उसके तल में रहनेवाली मछलियाँ पर्वत की ऊँचाई पर पहुँच गई हों। परन्तु यदि यह कल्पना सत्य है तो इसके आधार पर अनुसन्धान करने से दूसरी बातें भी इसको पुष्ट करनेवाली होनी चाहिये। यदि पर्वत पर अनुसन्धान के अनन्तर दूसरे ऐसे चिह्न मिल

जायें जिससे प्रकट हो कि वहाँ कभी समुद्र था तो वह कल्पना स्वीकृत समझी जाती है। इसी प्रकार कोयले की खानों में बहुत से विशालकाय जीवधारियों के शरीरों के अवशेष मिले हैं जिससे कल्पना की गई है कि वहाँ कभी वन थे जो भूकम्प अथवा किसी कारण से दब गये। इस कल्पना के आधार पर आगे अनुसंधान किया गया तो पता लगा कि खानों में कोयला दबे हुए पेड़ों की आकृति में मिला। पुरातत्व विज्ञान में कल्पना के आधार पुराने नगरों की खुदाई की जाती है और निरीक्षण के अनन्तर कल्पना को ग्राह्य या त्याज्य माना जाता है।

(ङ) निरीक्षण के लिए कल्पना का महत्त्व—डार्विन नामक वैज्ञानिक का कथन है कि कल्पना की शक्ति के बिना कोई व्यक्ति सफल निरीक्षक नहीं बन सकता। हम सदा देखते हैं कि पेड़ों और बेलों पर हरे पत्तों के बीच में स्पष्ट चमकने वाले रंगीन फूल पाये जाते हैं। ये रङ्ग लाल, पीले, स्वेत, बैंगनी आदि विविध होते हैं और हरे पत्तों में सुन्दर प्रतीत होते हैं। इन पर भौंरे, तितली और मधु-मक्खियाँ आकर बैठती और उड़ जाती हैं। यह हमारा साधारण अनुभव है। परन्तु वैज्ञानिक कल्पना-शक्ति के अभाव से यह सारा दृश्य समझ में नहीं आता कि प्रकृति में इन रंगीन और सुगन्धित फूलों के होने का क्या कारण है। कवि और कलाकार भ्रमर और कमल के सम्बन्ध को समझाने के लिये अनेक सुन्दर कल्पनायें कर सकते हैं, परन्तु इनका वास्तविक सम्बन्ध केवल कल्पना-शक्ति रखने वाला वैज्ञानिक समझता है। फूलों के रंग-बिरंगे और गंधमय होने का कारण यह है कि भ्रमर आदि जीव उद्दीप्त और आकृष्ट होकर उन पर आयें। वृक्षों में कुछ स्थानों पर पुंरज और दूसरे स्थानों पर स्त्री-रज रहता है। यदि ये जीव उड़कर न आयें तो एक स्थान से दूसरे स्थान तक चलकर दोनों रजों का मिश्रण असम्भव हो जाय और वनस्पति का संसार नष्ट हो जाये। प्रकृति ने वनस्पति को आगे चलाने के लिये बीज पैदा करने की इच्छा से जीवधारियों को आकृष्ट और उद्दीप्त करने के लिये रंगीन और सुगन्धित फूलों का विकास किया।

प्रकृति में जीव-विज्ञान, वनस्पति-विज्ञान, खगोल और भूगर्भ-विज्ञान में जितनी घटनायें होती रहती हैं, वे हमारे लिये अस्पष्ट ही रहती हैं, जब तक कल्पना उनके पूर्ण महत्त्व को हमारे सम्मुख उद्घाटन नहीं करती। साधारण

प्रतीत होने वाली घटना वैज्ञानिक के लिये, कल्पना के बल से, स्पष्ट, महत्त्वपूर्ण और प्रकाश के एक नूतन संसार को खोल देने वाली हो जाती है। अधिकतर गवेषकों ने अत्यंत साधारण घटनाओं को लिया और कल्पना के द्वारा उन्हें महत्त्व शाली ज्ञानागार की कुंजी बना दिया। शास्त्रों में अनेक सिद्धांतों की स्थापना और विज्ञानों में बहुत से आविष्कार केवल प्रतिभाशाली व्यक्तियों की प्रबुद्ध और प्रबल कल्पना के कारण हुए हैं। विज्ञान का इतिहास इसका साक्षी है।

वैज्ञानिक कल्पना प्रतिभा की उपज होती है। इसलिए कल्पना करने के लिये विचार-विज्ञान कोई नियम नहीं बना सकता। परन्तु अपने मूल-सिद्धांतों की सहायता से हम ऐसे नियम बना सकते हैं जिनके द्वारा हम कल्पना के वैज्ञानिक स्वरूप का निश्चय कर सकें। ये नियम निम्नलिखित हैं :—

(१) कल्पना इस योग्य होनी चाहिए कि इसके अन्तर्गत वे सारी घटनायें आ जायें, जिनको स्पष्ट समझने के लिये इसकी रचना की गई है। बहुधा कल्पना का आधार कुछ घटनाओं का निरीक्षण होता है। कल्पना द्वारा हम इनको सूत्रबद्ध और नियमित कर देना चाहते हैं। यदि हमारी कल्पना इतनी असमर्थ, अयोग्य और संकुचित है कि इनमें से केवल कुछ ही को ग्रहण कर सकती है, अथवा अनुभूत घटनाओं में से किसी का विरोध करती है तो यह कल्पना हमारे लिये हेय होती है। नक्षत्रों की गति, ग्रहण, दिन-रात आदि के कारण को समझने के लिये गत खगोल ने कल्पना की थी कि पृथ्वी चौरस और सारे आकाश-पिंडों की गति का केन्द्र है। परन्तु कुछ वैज्ञानिकों ने दूरवीक्षण यंत्रों से कुछ नये निरीक्षण किये जिनका समझना पुरानी कल्पना से असम्भव था। इसलिए कोपरनिकस ने कई कल्पना की कि सूर्य ही सारी गतियों का केन्द्र है। इसके द्वारा सभी खगोल सम्बन्धी घटनायें समझ में आने लगीं। इसी प्रकार पृथ्वी आदि ग्रहों के मार्ग, गति, ऋतुओं का परिवर्त्तन, पृथ्वी के भिन्न-भिन्न भागों पर तापक्रम आदि अनेक ऐसी बातें हुईं जो नवीन कल्पना के अनुकूल सिद्ध हुईं। हत्या आदि के अपराधों में अनुसन्धान करने वाला गवेषक कल्पना करते समय इस बात को ध्यान में रखता है कि उसकी कल्पना किसी जानी हुई बात का विरोध न करे और सभी को अपने अन्तर्गत सम्मिलित कर सके।

(२) विज्ञान इस बात को स्वीकार करता है कि प्रत्येक प्राकृतिक घटना के

पीछे सामान्य नियम है। यह सामान्य नियम भी अकेला नहीं, इसका दूसरे नियमों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। एक विज्ञान में सारे नियम मिलकर एक संगठित संस्थान की रचना करते हैं। परन्तु ये संस्थान भी बिल्कुल अलग नहीं हो सकते, क्योंकि प्रकृति एक है जिसके प्रत्येक भाग का दूसरे से निश्चित सम्बन्ध है। इस प्रकार कोई भी एक साधारण अथवा असाधारण घटना अनंत प्रकृति का एक अङ्ग है। उदाहरण के लिये—मान लीजिये कि आज संध्या समय यहाँ थोड़ी वर्षा हुई। यह एक आकस्मिक घटना नहीं है, परन्तु इसके पीछे ऋतु सम्बन्धी भौगोलिक नियम हैं। भूगोल के नियमों का सम्बन्ध सूर्य, तापक्रम, वायु की गति, पृथ्वी और सूर्य का सम्बन्ध आदि अनेक घटनाओं से है। वर्षा का सम्बन्ध वनस्पति और जीवधारियों, यहाँ तक मनुष्य के सामाजिक जीवन तक से है। इस प्रकार वर्षा की साधारण घटना का सम्बन्ध सम्पूर्ण प्राकृतिक घटनाओं और सामान्य नियमों से है। इसका फल यह है कि वैज्ञानिक प्रकृति के किसी विभाग में कल्पना करते समय सम्पूर्ण का ध्यान रखता है जिससे उसकी कल्पना दूसरे सिद्ध और प्रमाणित नियमों का विरोध न करे, प्रत्युत उनके अनुकूल हो। सम्पूर्ण ज्ञान के साथ किसी भी नवीन कल्पना का सामञ्जस्य होना चाहिए। यदि हम यह मानने लगें कि इस वर्ष वर्षा इसलिए कम हुई है क्योंकि कांग्रेसी सरकार ने इस साल जमींदारी समाप्त करने का कानून बना दिया है, तो कल्पना हमारे सम्पूर्ण वैज्ञानिक, ज्ञात और सिद्ध, नियमों के प्रतिकूल होगी।

नवीन कल्पना के लिए अन्य नियमों के साथ अनुकूलता इसलिये अनिवार्य है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान एक है और उसमें पारस्परिक विरोध हमारे विचार की दृष्टि से सम्भव नहीं। यदि जीव-विज्ञान के कुछ नियम ऐसे हों जो दूसरे विज्ञानों के नियमों के प्रतिकूल हों तो हम उनको असत्य मानते हैं। नवीन कल्पना का संपूर्ण ज्ञान से विरोध नहीं होना चाहिए। परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में एक कल्पना इतनी प्रबल हो सकती है कि उसके द्वारा सम्पूर्ण विज्ञानों में परिवर्त्तन आवश्यक हो जाता है। इतनी प्रबल और सत्य कल्पना विज्ञान के इतिहास में बिरली ही होती हैं। इसलिये ऐसे अवसरों को छोड़कर हमारी कल्पना की सम्पूर्ण ज्ञान के साथ अनुकूलता आवश्यक है।

(३) गवेषणा की प्रारम्भिक भूमि कल्पना होती है। उसे हम प्रारम्भ ही से सत्य स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिये हमारी कल्पना इस योग्य होनी चाहिये कि उसे निरीक्षण और परीक्षण के उपरांत सत्य अथवा असत्य ठहराया जा सके। इसके लिये हम कल्पित नियम को सत्य मानकर, निगमन क्रिया से, कुछ फल निकालते हैं। यदि ये फल आगे किये जानेवाले निरीक्षण के अनुकूल सिद्ध हो जायें तो कल्पना भी पुष्ट हो जाती है। परीक्षण की यह विधि विज्ञान में महत्त्व रखती है। इसका नाम हम परिणाम-विधि रक्खेंगे। न्यूटन के आकर्षण-सिद्धांत को इसी के आधार पर सत्य ठहराया गया। पहले-पहल उसके बताये हुए कल्पित नियम को सत्य मानकर पृथ्वी आदि नक्षत्रों की गति, मार्ग आदि के सम्बन्ध में कुछ परिणाम निकाले गये। ये परिणाम भविष्य-वाणी की भाँति थे। समय-समय पर निरीक्षण के द्वारा यह देखा गया कि ये भविष्य-वाणी के रूप में रक्खे गये परिणाम वस्तुतः सत्य निकले। इसके द्वारा कल्पित नियम भी पुष्ट हो गया। गवेषणा के सभी अवसरों पर इस विधि के द्वारा कल्पना को दृढ़ बनाया जाता है।

कल्पना में परिणाम-विधि की योग्यता अत्यावश्यक है, क्योंकि इसी के द्वारा उसके सत्यासत्य का निर्णय हो सकता है। इसीलिये कल्पना निश्चित, स्पष्ट और प्राकृतिक होनी चाहिये। उसे ऐसे नियम का आविष्कार करना चाहिये जो सम्भावनीय हो। अतः अप्राकृतिक, दैविक, रहस्यमय, अस्पष्ट और अनिश्चित कल्पना को वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करते। यदि हम चोरी, वर्षा, भूकंप आदि घटनाओं में इस प्रकार के कारणों की कल्पना करें, तो इनके द्वारा हम कुछ भी परिणाम नहीं निकाल सकते। इसीलिये कल्पना का स्वरूप सम्भव और निश्चित होना आवश्यक है।

(४) यदि हम कुछ घटनाओं को दो या अधिक कल्पनाओं के आधार पर स्पष्ट समझ सकते हैं, तो वे हमें मान्य नहीं होती। वैज्ञानिक कल्पना घटनाओं को नियम-बद्ध करने के लिये एक ही होनी चाहिए, एक से अधिक नहीं। यदि कुछ घटनायें दो कल्पनाओं से समान रूप से समझ में आ जाती हैं तो उस दशा में वैज्ञानिक आगे निरीक्षण करता है और नवीन परिस्थितियों की खोज करता है जो एक से स्पष्ट हो जाती हैं और दूसरी से नहीं। हत्या के मामले में

सारी विदित परिस्थितियों के अनुकूल दो व्यक्ति अपराधी ठहराये जा सकते हैं। इस दशा में अनुसंधान करने वाला ऐसी परिस्थितियों की खोज करता है जो केवल उनमें से एक के लिये लागू होती हैं दूसरे के लिये नहीं। ये परिस्थितियाँ दो विरोधी कल्पनाओं में से एक को ग्राह्य और दूसरी को त्याज्य बनाने में समर्थ होने के कारण विज्ञान में विशेष महत्त्व रखती हैं। इस लिये इन्हें 'निश्चायक परिस्थिति' कहा जा सकता है। कभी प्रयोग द्वारा बैज्ञानिक इस निश्चय पर पहुँचता है। उस प्रयोग को भी हम 'निश्चायक' प्रयोग' कहेंगे।

(४) ऊपर के नियम हमें कल्पना के वैज्ञानिक स्वरूप का बोध करा देने के लिये पर्याप्त हैं। इनके अतिरिक्त कुछ और स्मरण रखने योग्य बातें हैं—जैसे कल्पना को यथा सम्भव सरल होना चाहिये। यदि दो कल्पनायें समान रूप से उपयुक्त हों तो उनमें से जटिल को छोड़कर सरल का ग्रहण करना ठीक होता है। परन्तु यह नियम सब जगह लागू नही किया जा सकता। इसी प्रकार यदि एक कल्पना करने से अन्य अनेक कल्पनायें करनी पड़ें तो इसे हमें त्याग देना चाहिये। वैज्ञानिक कल्पना में सरलता और मित होने के लिये अधिक आदर दिया जाता है। यों ही यदि एक कल्पना के द्वारा सम्बन्धित घटनाओं के अतिरिक्त और भी घटना समझ में आ जायें तो वह कल्पना अधिक सम्मान के योग्य समझी जाती है। जैसे, डार्विन का विकास-सिद्धान्त केवल जीव-सृष्टि के लिये बनाया गया है। परन्तु इसके द्वारा हम अन्य सामाजिक घटना-क्रम को भी समझ पाते हैं। इसलिये यह हमें इतना मान्य है।

कल्पना का मुख्य उद्देश्य किसी घटना को 'विशद' करना होता है। विशदीकरण के द्वारा कोई घटना अलग या अस्पष्ट नहीं रहने पाती, वरन् वह सम्पूर्ण प्रकृति और संगठित प्राकृतिक नियमों का एक भाग हो जाती है। ऐसी कल्पना विज्ञान का ध्येय है। इसे हम 'विशद कल्पना' कह सकते हैं। परन्तु कई बार कुछ बाधाओं के कारण हम इस उद्देश्य तक नहीं पहुँच पाते। उस दशा में हम घटना की उत्पत्ति के वर्णन से संतुष्ट हो जाते हैं। इस कल्पना से 'विवेचन' तो नहीं हो पाता, परन्तु हम उसकी प्रक्रिया को समझने के लिये केवल 'वर्णन' करते हैं। जैसे, धातु-विज्ञान ने पता लगाने का प्रयत्न किया है कि पृथ्वी के गहरे तलों में पड़े हुए खनिज पदार्थों का सम्बन्ध उन स्थानों पर

उगने वाली वनस्पति से रहता है। यह सम्बन्ध क्यों रहता है, इसका अभी उत्तर नहीं दिया जा सका। परन्तु कल्पना के द्वारा इतना मान लिया गया है कि प्रत्येक प्रकार का खनिज, जैसे लोहा, कोयला, ताँबा आदि अपने ऊपर उगने वाली वनस्पति को प्रभावित कर सकता है। इस प्रकार की कल्पना 'वर्णनात्मक' कहलाती हैं। कहीं-कहीं हमें कोई निरीक्षण करना असम्भव या कठिन रहने पर भी कुछ घटना-क्रमों को स्पष्ट समझने के लिये कल्पना करनी पड़ती है। वैज्ञानिक विद्युत्, अग्नि, परमाणु, विश्व-किरण तथा अन्य अनेक पदार्थों के स्वरूप की कल्पना करता है, यद्यपि उसने इनका कभी साक्षात्कार नहीं किया। वह कल्पना इसलिये करता है कि दूसरी प्रत्यक्ष घटनायें इनके द्वारा समझ में आ जाती हैं। ये कल्पित पदार्थ विज्ञान की सीमा को स्पष्ट बनाने में सफल होते हैं। इन्हें हम 'शुद्ध-कल्पना' के नाम से पुकारेंगे। कुछ अवस्थाओं में वैज्ञानिक किसी असत्य बात को भी सत्य मान लेता है जिससे उसकी वैज्ञानिक गवेषणा में सहायता मिले और उसका विवेचन स्पष्ट हो जाये। अर्थ-विज्ञान में 'रिकार्डो' नामक व्यक्ति का 'जमीन पर लगान' किस प्रकार लगता है, इस विषय में सिद्धान्त है कि मान लीजिये किसी नये टापू में कुछ आदमी जाकर बसे। अपने लिये खाद्य पदार्थ उपजाने के लिये उन्होंने सबसे अच्छी भूमि को ग्रहण किया। उस समय खाद्य-वस्तु का बाजार मूल्य केवल इतना रहेगा कि उससे केवल उसे उपजाने का व्यय पूरा हो सकेगा। जन-संख्या बढ़ने पर, खाद्य-वस्तु का मूल्य बढ़ना चाहिये। इस अवस्था में पहली भूमि की अपेक्षा निम्नकोटि की भूमि पर खेती प्रारम्भ होगी। यदि पहले एक बीघे में १० मन पैदा होता था तो अब केवल ८ मन बीघा पैदा होता है। परन्तु नीची कोटि की भूमि पर खेती करने से हानि नहीं होती, क्योंकि अब खाद्य-वस्तुओं का मूल्य पहले की अपेक्षा इतना बढ़ गया है कि ८ मन के मूल्य का सारा व्यय पूरा हो जाता है। इस दशा में पहली कोटि वाली भूमि पर २ मन बीघा का लाभ होगा जिसमें जोतने वाले का अधिकार नहीं। उसे यह लाभ अपने परिश्रम से नहीं मिला, परन्तु पृथ्वी के उच्चकोटि का होने के कारण से। यह दो मन बीघा पृथ्वी का उचित लगान है।

उपर्युक्त घटना किसी समय इतिहास में नहीं हुई। परन्तु 'मान लीजिये'

इतना कहने से हम लगान के सिद्धान्त को समझ जाते हैं। इसी प्रकार राजनीति विज्ञान में कई विचारकों ने 'समाज का उदय कैसे हुआ' इसको समझाने का प्रयत्न किया है और उन्होंने समाज से पूर्व अवस्था का वर्णन किया है जिसके ऐतिहासिक सत्य होने में सन्देह है। गणित में 'बिन्दु' रेखा आदि की परिभाषा असम्भव है। परन्तु इन असम्भव अथवा असत्य बातों को स्वीकार करने से अनेक बातों और सिद्धान्त समझने योग्य हो जाते हैं। यह बिल्कुल उपन्यास की भाँति है। उपन्यास में भी ऐतिहासिक सत्य तो नहीं होता, परन्तु उसे सत्य स्वीकार करने से उपन्यास की सफलता होती है। इन वैज्ञानिक कल्पाओं को हम 'औपन्यासिक कल्पना' कहेंगे।

'कल्पना न होने से कोई भी कल्पना अच्छी है' यह विज्ञान का मत है। उपर्युक्त विवेचन से विज्ञान में कल्पना का स्वरूप, अवसर और महत्व स्पष्ट हो गया होगा। यहाँ तक कि वे कल्पनायें जो असत्य सिद्ध हो जाती हैं, गवेषणा में सहायक होती हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे महान् समुद्र में वे चट्टाने भी काम देती हैं जिनसे टकरा कर पहले जहाज टूट चुकते हैं। उन पर प्रकाश-स्तम्भ बना दिये जाते हैं जिससे कोई जहाज का चालक उस ओर न आवे। कल्पना के बिना नियमों का आविष्कार असम्भव है क्योंकि इनका साक्षात् अनुभव नहीं हो सकता। वैज्ञानिक की वह कल्पना जिसके द्वारा वह अदृश्य नियम के सूत्र को देखता है, रचनात्मक कल्पना है जिसकी उपज विशेष प्रतिभा से होती है। अतः बहुत बड़े अन्वेषक बहुत बड़ी कल्पना-शक्ति वाले होते हैं।

वैज्ञानिक-विधियाँ

वैज्ञानिक युग के प्रवर्त्तकों का मत था कि मनुष्य अपनी शक्तियों से प्राकृतिक नियमों का अन्वेषण और उनका परीक्षण कर सकता है। ये प्राकृतिक नियम, इनके अनुसार, घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध को प्रकट करते हैं। यद्यपि विज्ञान में विचार के दूसरे रूप भी होते हैं, परन्तु कार्यों के कारणों का ज्ञान और एतद्विपरीत, उपयोग और विज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। प्रकृति के घटना-चक्र को समझने के लिये, इसी से कारण-कार्य सम्बन्ध की विशेष मान्यता रही है। बेकन नामक वैज्ञानिक ने इस सम्बन्ध की गवेषणा और स्थापना के लिए कुछ विधियों का आविष्कार किया। इसके अनन्तर मिल नामक दार्शनिक ने इनको वैज्ञानिक रूप दिया और परिष्कार के द्वारा गवेषणा के प्रबल यन्त्रों में परिवर्त्तित कर दिया। इसलिये ये 'मिल की विधियाँ' भी कहलाती हैं।

ये विधियाँ 'विचार' की प्रणालियाँ हैं जिनका उपयोग हम दैनिक जीवन और विज्ञान में समान रूप से करते हैं: केवल विज्ञान में हम उन्हें अधिक संयत और स्पष्ट बना देते हैं। साधारण मनुष्य भी अपने सिर में दर्द, खेतों में कम या अधिक उपज, वर्षा ऋतु, राजनैतिक घटना, मूल्य का घटना-बढ़ना, आदि अनेकों बातों के कारणों को जानता है। जैसे, वह कहता है कि सन्ध्या के समय उर्द की दाल खाने से सिर में दर्द हो जाता है। अधिक बार और गहरी जुताई करने से अधिक उपज होती है; गर्मी से वर्षा होती है। नेताओं की कुटिल और स्वार्थ-पूर्ण नीतियों के कारण देश में अशान्ति और अराजकता फैल जाती है, तथा व्यापारियों की कुटिलता से मूल्य बढ़ जाता है; इत्यादि। इन सब गवेषणाओं में विचार विद्यमान है। परन्तु यहाँ निरीक्षण वैज्ञानिक नहीं, क्योंकि हम एक ही प्रकार की अनेक घटनाओं का पूर्ण रूप से अध्ययन नहीं करते। प्रत्येक प्राकृतिक घटना,, जैसे सिर में दर्द, एक जटिल घटना होती है जिसमें कई परिस्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं। इनमें कुछ आवश्यक और कार्य को उत्पन्न करने के लिए अनिवार्य तथा अन्य आकस्मिक और अनावश्यक होत

हैं। वैज्ञानिक यह निर्णय करने से पहले कि सिर में दर्द उर्द की दाल खाने से होता है, अनेकों घटनाओं का उचित रीति से 'विश्लेषण' करता है। सिर में दर्द के कारण की परिस्थितियों में, उदर-विकार, सिर में रक्त की कमी, आँखों पर दबाव आदि अनेक अन्य बातें सम्मिलित हो सकती हैं। वैज्ञानिक निरीक्षण के द्वारा इन परिस्थितियों का निश्चय ज्ञान और विश्लेषण अत्यावश्यक है जो साधारण जीवन में कदाचित् नहीं रहता।

'सिर में दर्द' के स्वरूप का ज्ञान भी होना चाहिये, क्योंकि हम जिसके कारण की खोज करना चाहते हैं, वह स्वयं हमें स्पष्ट समझना चाहिये। दर्द कई प्रकार के हो सकते हैं और प्रत्येक प्रकार का कारण भी भिन्न होता है। अतः वैज्ञानिक निरीक्षण और विश्लेषण के साथ ही, गवेषणीय घटना को जानने के लिए 'प्रारम्भिक परिभाषा' भी करता है और उसके विशिष्ट गुणों का निश्चय करता है। यद्यपि गवेषणा के पूर्व 'कार्य' का स्वरूप हम पूर्ण रूप से नहीं समझ पाते, क्योंकि 'कार्य' का स्वरूप बहुत कुछ 'कारण' के ज्ञान से ही समझ में आता है, तथापि उसके विषय में कुछ न कुछ निश्चय रूप से बिना जाने हम गवेषणा भी प्रारम्भ नहीं कर सकते। यह स्पष्ट है कि हम जिस घटना के कारण अथवा कार्य का अनुसन्धान करना चाहते हैं, उसका प्रारम्भिक निश्चय ज्ञान हमें होना चाहिये।

वैज्ञानिक गवेषणा का प्रथम भाग अन्वेषणीय घटना के स्वरूप का निश्चय करने में लग जाता है। अनेकों घटनाओं में विद्यमान किसी समान और एक तत्त्व की कल्पना निरीक्षण के आधार पर की जाती है। अधिकतर गवेषक कुछ ही काल के अनन्तर, कभी-कभी निरीक्षण प्रारम्भ करने के साथ ही, दिये हुए कार्य के कारण की कल्पना करता है और इसी कल्पना के आधार पर आगे बढ़ता है। यदि कल्पना के अनुकूल आगे निरीक्षण मिलता जाता है तो कल्पना पुष्ट और विश्वसनीय होती जाती हैं, नहीं तो उसे छोड़कर दूसरी कल्पना का सहारा लिया जाता है। परन्तु गवेषणा में कारण-कार्य की कल्पना किसी न किसी रूप में विद्यमान अवश्य रहती है। भिन्न-भिन्न घटनाओं को नियम के आविष्कार से सूत्रबद्ध करने के लिए हम 'सामान्यीकरण' करते हैं। वैज्ञानिक विधियों में यह 'सामान्यीकरण' क्रिया विद्यमान रहती है। प्रारम्भिक भाग में

तो 'सामान्यीकरण' केवल कल्पना की तरह ग्रहण किया जाता है, परन्तु अन्त में इस कल्पना को निर्णय और वैज्ञानिक निष्कर्ष के रूप में स्वीकार किया जाता है। जैसे, 'सिर में दर्द' नामक घटना में गवेषक कुछ निरीक्षण, विश्लेषण, प्रारम्भिक परिभाषा के अनन्तर कल्पना करता है कि यह घटना सिर में पर्याप्त मात्रा में रक्त न पहुँचने से होती है। इस कल्पना के आधार पर वह 'वैज्ञानिक विधि' के अनुसार आगे निरीक्षण करता है, और सिर-दर्द की अनेकों घटनाओं में एक ही परिस्थिति को सामान्य रूप से विद्यमान पाता है तो यह सामान्य नियम की पूर्व-कल्पना दृढ़ हो जाती है। इस प्रकार 'वैज्ञानिक-विधि' में सामान्यीकरण-क्रिया के विद्यमान रहने के कारण, हम इसे आगमन-विधि भी कहते हैं।

सभी वैज्ञानिक-विधियों में आगमन-विचार अथवा सामान्यीकरण समान रूप से विद्यमान रहता है। हम इनके प्रारम्भ में अर्थात् निरीक्षण के अवसर पर तथा अन्त में अर्थात् निष्कर्ष के अवसर पर कहते हैं: क्योंकि सभी घटनाओं में अनेक अन्य परिस्थितियों के होते हुए भी एक परिस्थिति (मान लीजिए 'क') सदा समान रूप से विद्यमान मिलती है; इसलिये यही परिस्थिति अर्थात् 'क' ही कार्य (मान लीजिये 'ह') का कारण होगी। इस सम्पूर्ण आगमन-विचार क्रिया में 'क्योंकि' से लेकर 'इसलिये' तक, घटनाओं के निरीक्षण से लेकर 'क' ही 'ह' का कारण है, इस सामान्य निष्कर्ष तक, परीक्षण भी सम्मिलित है। हम क को ह का कारण ही नहीं बताते; हम यह भी सिद्ध करते हैं कि क के अतिरिक्त अन्य कोई ह का कारण नहीं हो सकता। यदि क के अतिरिक्त अन्य कोई परिस्थिति भी ह को उत्पन्न कर सकती है तो हमारा सामान्य कार्य-कारण नियम व्यर्थ हो जायगा और हम कार्य-कारण नामक मूल सिद्धांत को भङ्ग करने के अपराधी होंगे। 'क' को 'ह' का कारण उसी अवस्था में माना जा सकता है जब 'क' के अतिरिक्त अन्य किसी कारण की सम्भावना ही न रहे। अतः कारण-कार्य सम्बन्ध की पूर्ण स्थापना के लिए वैज्ञानिक विधि अथवा आगमन-विचार में परीक्षण भी सम्मिलित रहता है। परीक्षण का स्वरूप भी यह है कि हम 'क' के अतिरिक्त अन्य सम्भावनीय कारणों का निराकरण करें। अनावश्यक और आकस्मिक परिस्थितियों के निराकरण से आवश्यक

और अनिवार्य कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थापना होती है। अतः निराकरण ही वैज्ञानिक परीक्षण का स्वरूप है।

अनावश्यक घटनाओं का निराकरण किस आधार पर किया जाता है? कारण-कार्य सम्बन्ध का निश्चय करते समय हमने कारण-परिस्थिति के लक्षणों का निश्चय किया था जिनके द्वारा हम आवश्यक और अनिवार्य तथा अनावश्यक और आकस्मिक परिस्थितियों का भेद कर सकते हैं। गवेषणा और परीक्षण में इन लक्षणों की सहायता से हम कारण को अ-कारण से पृथक् कर सकते हैं। कारण-घटना वह है जो कार्य-घटना से नियत पूर्व-कालिक हो। यदि कोई परिस्थिति अथवा घटना किसी कार्य से पूर्व कभी पाई जाये, कभी नहीं, तो वह घटना अनियत होगी। यदि सिर-दर्द से पूर्व कोष्ठ-बद्ध, उर्द की दाल, आँखों पर दबाव आदि परिस्थितियाँ कहीं विद्यमान और कहीं नहीं रहतीं, तो इन घटनाओं को हम 'अनियत पूर्वकालिक' घटना कहेंगे। ऐसी कोई घटना कारण नहीं बन सकती। अतः निराकरण का प्रथम नियम इस प्रकार होगा—यदि कोई परिस्थिति अन्वेषणीय घटना के विद्यमान होने पर विद्यमान न हो, तो वह उस घटना का कारण नहीं हो सकती। अथवा, अविद्यमान परिस्थिति और विद्यमान परिस्थिति में कार्य-कारण सम्बन्ध सम्भव नहीं। अथवा, अविद्यमान घटना विद्यमान घटना का न कार्य हो सकती है और न कारण।

नियत सम्बन्ध से निराकरण के लिये दूसरा नियम भी निकाला जा सकता है—विद्यमान परिस्थिति अविद्यमान घटना का कारण अथवा कार्य नहीं हो सकती।

कारण-कार्य सम्बन्ध के लिए यह भी आवश्यक था कि दोनों घटनाएँ परिमाण में समान हों। अतः दो असमान घटनाएँ कारण-कार्य नहीं हो सकतीं। यदि कारण के बढ़ने से कार्य में बढ़ना, या कोई निश्चित परिवर्त्तन न हो, तो ऐसी दो घटनायें आपस में कार्य-कारण नहीं हो सकतीं। यदि ऊँचाई पर चलने से तापक्रम और वायु के भार में कोई निश्चित परिवर्तन न हो तो उनमें यह सम्बन्ध न होगा। यदि होता है तो अवश्य सम्बन्ध होगा। अतः निराकरण के लिये तीसरा नियम यह है—परिवर्त्तनशील घटना अपरिवर्त्तनशील घटना और एतद्विपरीत का कारण नहीं हो सकती।

कारण-कार्य घटनाओं में अन्योन्य सम्बन्ध होता है। यदि ख, ग, आदि घटनाएँ अन्य किसी घटनाओं के कारण हैं और यह हम निश्चयपूर्वक जानते हैं तो इन्हें 'ह' घटना का कारण नहीं बता सकते। अतः निराकरण का चतुर्थ नियम यह है—ऐसी कोई घटना जिसका सम्बन्ध अन्य किसी ज्ञात घटना से निश्चित हो, गवेषणीय घटना का कारण नहीं हो सकती।

इन चार निराकरण के नियमों से अनावश्यक का निराकरण करके दो घटनाओं में कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थापना की जाती है। निषेध से विधि की स्थापना [क के अतिरिक्त अन्य कोई कारण सम्भव नहीं, इसलिए क ही कारण है] वैज्ञानिक परीक्षण का सार है। इसलिए वैज्ञानिक विधियों को निराकरण विधि भी कहा जाता है। निराकरण करने में हमारे विचार की क्रिया इस प्रकार होती है—यदि क, ख, ग, घ आदि परिस्थितियों में कोई भी 'ह' का कारण है तो जहाँ-जहाँ ह विद्यमान हो, वहाँ वह विद्यमान रहे, जहाँ ह विद्यमान न हो, वहाँ वह विद्यमान न रहे, जब ह में परिवर्त्तन हो, तो उसमें भी समान रूप से परिवर्त्तन हो, यदि ह में परिवर्त्तन न हो, तो उसमें भी परिवर्त्तन न हो, तथा इनमें से कोई भी ऐसी परिस्थिति न हो जिसका सम्बन्ध किसी दूसरी घटना से ज्ञात हो। क, ख, ग, घ आदि में, मान लीजिए, ख, ग, घ आदि ऐसे हैं जो ऊपर के अनुसार नहीं रहते। इसलिए हम इनका निराकरण करके निष्कर्ष निकालते हैं—क ही ह का कारण है।

यदि हम 'ख' परिस्थिति का निराकरण करते हैं, तो इसलिए कि इसमें कारण-कार्य संबंध के सामान्य लक्षण विद्यमान नहीं हैं। सामान्य नियम की सहायता से निराकरण होने के कारण यहाँ विचार क्रिया 'निगमन' का रूप धारण करती है—कारण में अमुक लक्षण विद्यमान होने चाहिए, 'ख' में ये लक्षण नहीं हैं। इसलिए 'ख' ह का कारण नहीं है। इसी प्रकार ग, घ आदि का भी निराकरण किया जाता है। अतः वैज्ञानिक-विधि केवल 'आगमन' की विधि ही नहीं है, इसमें 'निगमन' विचार-प्रणाली भी विद्यमान रहती है। जहाँ तक हमें कारण की गवेषणा करने के लिए निरीक्षित अनुभवों के आधार पर सामान्यीकरण करना होता है, वहाँ तक हम आगमन का प्रयोग करते हैं। परंतु निराकरण करने के लिये तथा कार्य-कारण संबंध की वैज्ञानिक स्थापना के लिए

हम निगमन को काम में लाते हैं। इन विधियों में गवेषणा और प्रामाणिक स्थापना दोनों ही कार्य होते हैं। विचार विज्ञान के पंडितों में इस बात पर विवाद भी हुआ था कि इन विधियों का उपयोग गवेषणा या स्थापना के लिये होता है। परन्तु हम अपने मत के अनुसार इनका उपयोग दोनों कार्यों के लिए मानते हैं। आगमन द्वारा सामान्य नियम की खोज तथा निगमन द्वारा अनावश्यक का निराकरण, दोनों वैज्ञानिक विधियों के प्रमुख अंग हैं।

मिल ने निराकरण के उपर्युक्त चार नियमों के आधार पर पाँच वैज्ञानिक-विधियों की रचना की। प्रत्येक विधि में एक-एक नियम का उपयोग होता है, एक विधि में दो नियमों का उपयोग होता है। ये नियम वस्तुतः निराकरण करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। इनमें से हम अलग-अलग पर विचार करेंगे।

अन्वय-विधि

(१) मिल की साधारण प्रतिज्ञा :—

"यदि गवेषणीय विषय की दो या दो से अधिक घटनाओं में एक ही परिस्थिति साधारण रूप से विद्यमान हो, तो केवल वही परिस्थिति जो सभी घटनाओं में अन्वित है, उस विषय का कारण अथवा कार्य होगी।"

इस विधि के अनुसार हम गवेषणीय विषय की अनेक घटनाओं का निरीक्षण करते हैं। यदि हमें मलेरिया ज्वर के कारण का पता लगाना है तो हम जहाँ और जिन लोगों को यह पीड़ा होती है, उनका निरीक्षण करेंगे। यहाँ 'मलेरिया ज्वर का कारण' गवेषणीय विषय है। जो लोग इससे पीड़ित हैं वे इस विषय की घटनायें हैं। कारण का पता लगाने के लिए हमें उनकी अनेक परिस्थितियों का पता लगाना होगा, क्योंकि ज्वर की घटना में अनेक परिस्थितियाँ विद्यमान रह सकती हैं, जैसे, पाचन की दशा, भोजन, पान आदि की व्यवस्था, जलवायु का प्रभाव, मच्छरों का काटना इत्यादि। यदि अनेकों घटनाओं के विश्लेषण और निरीक्षण के उपरांत हम इनकी तुलना करें और देखें कि इन सब ज्वर-पीड़ित लोगों में भोजन, पान, पाचन, जलवायु आदि सभी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न पाई जाती हैं, परंतु मच्छरों का विशेष विष सभी में साधारण रूप

से विद्यमान है, तो केवल यही परिस्थिति ऐसी है जिसमें सभी घटना अन्वित मानी जा सकती हैं। इस विधि के अनुसार यही परिस्थिति ज्वर का कारण है। अतः अनेक घटनाओं में परिस्थितियों के विभिन्न रहते हुए भी यदि इनको अन्वित अर्थात् एक सूत्र में जोड़ने वाली कोई साधारण परिस्थिति मिल जाती है, तो वही इनमें आवश्यक और नियत मानी जायगी।

इस विधि के अनुसार गवेषणा करने के लिए वैज्ञानिक अनेक ऐसी घटनाओं का निरीक्षण, विश्लेषण और तुलना करता है जिनमें गवेषणीय विषय विद्यमान हो। ये घटनायें 'अन्वय' घटनायें कहलाई जा सकती हैं। इनकी संख्या जितनी अधिक होगी, उतना ही दृढ़ परिणाम भी होगा। साथ ही, ये घटनायें जितनी भिन्न हों, उतना ही अच्छा है। मलेरिया के कारण का पता लगाने के लिए हम इस घटना का निरीक्षण भिन्न-भिन्न जलवायु, तापक्रम, भौगोलिक दशाओं वाले देशों में, भिन्न-भिन्न भोजन करने वाले तथा भिन्न-भिन्न वंशानुक्रम, जाति, आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों वाले ज्वर पीड़ितों में करते हैं। यदि इतनी असमानता रहते हुए भी वे घटनायें एक ही परिस्थिति से अन्वित हैं अर्थात् विशेष मच्छर का विष, तो यह विष ही कारण होना चाहिए।

२—निराकरण का नियम :—'मच्छर का विष ही मलेरिया का कारण है' इस संबंध की स्थापना के लिये हमें अन्य परिस्थितियों का निराकरण करना चाहिए। यहाँ अन्य परिस्थितियाँ नियत रूप से विद्यमान नहीं रहतीं। मलेरिया से पीड़ित लोग चावल का भोजन करते भी हैं और कुछ नहीं भी करते। इनमें कुछ का पाचन ठीक होता है और दूसरों का खराब। ये अनियत परिस्थितियाँ कारण नहीं हो सकतीं, क्योंकि इन सब घटनाओं में ज्वर तो विद्यमान है, परंतु इनमें कोई परिस्थितियाँ अविद्यमान भी रहती हैं। अविद्यमान परिस्थिति विद्यमान विषय का कारण या कार्य नहीं हो सकती। निराकरण का पहला नियम यहाँ लागू होता है।

३—प्रतीक उदाहरण :

	कारण-घटना	कार्य-घटना
∵	क, ख, ग, घ	ह, य र व
	क, ग, घ, च	ह, र व, ल
	क, घ, च, छ	ह, व, ल, स

क च छ, ज — ह ल, स, श
इत्यादि — इत्यादि
∴ क ही — ह का कारण है।

यहाँ हमें 'ह' के कारण की गवेषणा और स्थापना करनी है। अतः उन घटनाओं का निरीक्षण किया गया जिनमें 'ह' विद्यमान हो। कार्य-घटना में ह के अतिरिक्त य, र, वं आदि दूसरी परिस्थितियाँ भी विद्यमान है। कारण की खोज के लिये कारण-घटनाओं का निरीक्षण किया गया। प्रत्येक घटना में अनेक परिस्थितियाँ; जैसे पहली में क, ख, ग, घ, दूसरी में, क ग, घ, च इत्यादि विद्यमान हैं। विश्लेषण के द्वारा इन परिस्थितियों को अलग-अलग किया गया। तुलना करने पर विदित हुआ कि इनमें ख, ग, घ, च, छ, ज आदि परिस्थितियाँ अनियत हैं अर्थात् कभी-कभी ह के विद्यमान रहने पर भी विद्यमान नहीं रहतीं, जैसे दूसरी घटना में ख नहीं है, तीसरी में ग नहीं है, इत्यादि। परंतु अन्य अनेक परिस्थितियों के भिन्न और अनियत रहने पर भी 'क' सभी में समान, नियत और अन्वित है। अन्य का निराकरण करके हम निष्कर्ष निकालते हैं। इसलिए क ही ह का कारण है।

४—अन्वय-विधि का मूल्यांकन—क—यह विधि प्रधानतः निरीक्षण के लिये उपयुक्त है, इसलिये दैनिक जीवन में इसका उपयोग प्रचुर रूप से होताहै। साधारण मनुष्य भी अनुभव करता है कि जिस दिन 'आलू खरीदने के लिये अधिक माँग हो जाती है, उस दिन आलू अथवा किसी अन्य वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है।' इसलिये माँग के कारण ही वस्तुओं का मूल्य अधिक हो जाता है। परंतु निरीक्षण के लिये उपयुक्त होने के कारण ही इसमें निरीक्षण के सभी दोष आ जाते हैं, जैसे विश्लेषण का पर्याप्त न हो सकना। ऊपर के उदाहरण में, मलेरिया जिन परिस्थितियों में होता है वे काफी जटिल हैं। उनको अलग अलग करने के लिए काफी श्रम बहुत दिनों तक किया गया। मूल्य के घटने-बढ़ने में अनेक परिस्थितियाँ सम्मिलित रहती हैं। इन सबका निरीक्षण और विश्लेषण सही परिणाम पर पहुँचने के लिये आवश्यक परंतु कठिन है। जहाँ इसमें प्रयोग के लिये अवसर रहता है, वहां परिणाम अधिक विश्वसनीय हो सकता है।

ख—इस विधि के उपयोग के लिये अधिक से अधिक संख्या में, अधिक

से अधिक विभिन्न और विविध परिस्थितियों में घटित होने वाली घटनाओं का निरीक्षण होना चाहिए जिनमें केवल एक ही परिस्थिति समान रूप से विद्यमान हो। यदि हम एक दो उदाहरणों की सहायता से निष्कर्ष निकालना चाहें तो हमारे विचार में 'अति शीघ्रता' दोष उत्पन्न हो जायगा। साधारण व्यक्ति देखता है कि कई बार छींक होने के बाद चलने से अनिष्ट होता है तो वह झट से परिणाम निकाल बैठता है कि छींक के कारण ही अनिष्ट होता है। निष्कर्ष को सफल और दृढ़ होने के लिये हमें विविध और विस्तृत क्षेत्रों में बहुत काल तक निरीक्षण आवश्यक है।

ग—यदि दो घटनायें सदा साथ ही उपस्थित हों और परिस्थितियों की विविधता होते हुए भी वे सभी उदाहरणों में विद्यमान हों तो इतने से इनका सहभाव या साहचर्य तो प्रतीत होता है, परंतु इनमें कारण-कार्य सम्बंध की केवल सम्भावना रहने पर भी स्थापना नहीं होती। जैसे, मस्तिष्क की बनावट का सम्बंध बुद्धि की कुशलता के साथ है, क्योंकि हम जिसके मस्तिष्क को भारी और जटिल पाते हैं, वह व्यक्ति चतुर भी पाया जाता है। यहाँ मस्तिष्क के स्वरूप और चातुर्य में सम्बंध की सम्भावना रहते हुए भी हम यह कहने में असमर्थ हैं कि इनमें कौन सा कारण और कौन सा कार्य है।

घ—कई बार दो घटनाओं का साहचर्य केवल आकस्मिक होता है। इस समय अफ्रीका, एशिया आदि महाद्वीपों के गर्म देश योरोप के ठंडे देशों से पीछे थे, इसलिए यह समझा गया था कि गर्मी से लोगों के शरीर और मन पर निर्बल करने वाला प्रभाव पड़ता है और ठंडे देश इसलिये उन्नति कर रहे हैं क्योंकि वे ठंडे हैं। ऋतु और वैज्ञानिक उन्नति में यह कारण-कार्य सम्बंध केवल आकस्मिक साहचर्य सिद्ध हो रहा है, क्योंकि उन्नति को रोकने वाले राजनैतिक और आर्थिक कारणों को हटाने से यहाँ उन्नति प्रारम्भ हो गई है।

ङ—यद्यपि दो घटनाओं का कार्य-कारण सम्बंध सापेक्ष और अन्योन्य होता है, तो भी कभी-कभी एक ही कार्य के अनेक कारण दिखाई देते हैं। मिल ने इसका नाम कारण-बहुल-सिद्धांत रक्खा है। मृत्यु के कारण विष, विषूचिका, ज्वर, चोट आदि अनेक होते हैं। ऐसी दशा में जहाँ एक ही कार्य के अनेक कारण प्रतीत होते हैं, वहाँ यह अन्वय-विधि व्यर्थ हो जायगी, क्योंकि

इनमें कोई अन्वित परिस्थिति प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार एक डाक्टर ज्वर की चिकित्सा एक प्रकार से, दूसरा वैद्य दूसरी प्रकार से और तीसरा हकीम तीसरी प्रकार से करता है। तीनों या अनेकों प्रकार से किसी रोग की चिकित्सा हो जाती है। ऐसी अवस्था में चिकित्सा का सामान्य कारण न मिलने से अन्वय-विधि गवेषणा करने में असमर्थ है।

कारण-बहुल सिद्धान्त स्वयं अवैज्ञानिक है। विज्ञान इसे स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इसको स्वीकार करने से कारण-कार्य सम्बंध की गवेषणा और स्थापना असम्भव हो जायगी। 'ह' घटना का केवल 'क' कारण हो सकता है, इसके अतिरिक्त नहीं। ऊपर के उदाहरणों में हमें कारण विभिन्न तो प्रतीत होते हैं, परन्तु कार्य समान। विचारपूर्वक देखने से जिस प्रकार मृत्यु के कारण भिन्न हैं, उसी प्रकार प्रत्येक कारण के अनुसार कार्य भी विभिन्न हैं। राजयक्ष्मा की मृत्यु और विष की मृत्यु में भेद है, क्योंकि इन दोनों प्रकार की मृत्युओं के कारणों में भेद है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न औषधियों से चिकित्सा भी भिन्न परिणाम वाली होती है। कारण-बहुल सिद्धांत इसलिए सही प्रतीत होता है क्योंकि हम कारण को विशिष्ट मानकर मृत्यु को सामान्य मानते हैं। कारण और कार्य दोनों ही विशिष्ट मानने से एक कार्य का एक ही कारण होगा। यदि हम कार्य को सामान्य मानें, क्योंकि सभी मृत्यु की अवस्थाओं को हम मृत्यु कहते हैं, तो इनका कारण अर्थात् प्राणान्त या हृदय का बन्द हो जाना भी समान है। यदि हम प्रत्येक घटना का पूर्ण विश्लेषण करें तो यह सिद्धान्त व्यर्थ, निराधार और अमान्य सिद्ध होगा।

परंतु अन्वय-विधि में प्रधानतः निरीक्षण का उपयोग होने के कारण कभी-कभी विश्लेषण पूर्ण न होने से कारण-बहुलता उपस्थित हो जाती है, जैसे हम समाचार तार द्वारा, विद्युत् द्वारा, वायु द्वारा भेज सकते हैं। बोलने से वायु में, विद्युत् और तार में जो प्रकम्पन पैदा होता है वह तीनों के माध्यम से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है। इसलिए तीनों ही शब्द-प्रकम्पन के माध्यम हो सकते हैं। इस अवस्था में कारण का निश्चय विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है। वायु, विद्युत, जल, तार आदि अनेक पदार्थों में 'लोच' नामक गुण है जिसके कारण इनमें प्रकम्पन को ग्रहण कर दूर तक

पहुँचाने की सम्मर्थ्य है। अतः यह लोच ही जो इन पदार्थों में विद्यमान है, शब्द का कारण है। इस प्रकार जिन अवस्थाओं में विश्लेषण अपूर्ण रहने के कारण हम सामान्य तत्त्व का पता नहीं लगा सकते, उनमें कारण-बाहुल्य अवश्य प्रतीत होगा और वहाँ अन्वय-विधि भी व्यर्थ सिद्ध होगी।

अन्वय-व्यतिरेक विधि

१—मिल की प्रतिज्ञा—'यदि गवेषणीय विषय की दो या दो से अधिक घटनाओं में एक ही परिस्थिति विद्यमान हो, और यदि दो या दो से अधिक ऐसी घटनाओं में जिनमें गवेषणीय विषय विद्यमान नहीं, वह परिस्थिति भी विद्यमान न हो, तो केवल वह परिस्थिति जिसमें दोनों प्रकार की घटनायें भिन्न हैं, उस गवेषणीय विषय का कारण अथवा कार्य होगी।"

इस विधि में हम अन्वय-विधि की भाँति ही अन्वय-घटनाओं को एकत्र करके परिस्थितियों के विभिन्न और विविध होने पर एक ही समान परिस्थिति विद्यमान पाते हैं और इसी को गवेषणीय विषय का कारण मानते हैं। इस भाँति हम कारण और कार्य के सहचार की स्थापना करते हैं। परन्तु दो घटनाओं का सहचार आकस्मिक होने की सम्भावना रहने के कारण अन्वय-विधि का परिणाम सर्वथा मान्य नहीं समझा जाता था। इसलिए इस विधि में हम ऐसी अनेक घटनाओं का संग्रह करते हैं जिनमें गवेषणीय विषय और उसके साथ ही वह परिस्थिति जिसका साहचर्य पहले विषय के साथ था, दोनों ही विद्यमान न हों। जहाँ-जहाँ मलेरिया ज्वर रहता है वहीं विशेष मच्छर का विष भी विद्यमान रहता है। यहाँ अन्वय-साहचर्य है। जहाँ-जहाँ मलेरिया ज्वर नहीं, वहाँ उसी मच्छर का विष भी विद्यमान नहीं। यह व्यतिरेक-साहचर्य है। इस प्रकार इस विधि में अन्वय साहचर्य के परिणाम को व्यतिरेक-साहचर्य की सहायता से और भी पुष्ट करते हैं।

विज्ञान में व्यतिरेक-साहचर्य का विशेष मान है। सम्भव है जहाँ क विद्यमान हो वहाँ ह का विद्यमान होना केवल आकस्मिक हो, क्योंकि 'क' के अतिरिक्त कोई अज्ञात परिस्थिति भी 'ह' का कारण हो सकती है। परन्तु यदि क के अभाव में ह का अभाव नियत रूप से पाया जाय तो पहली सम्भावना

और भी दृढ़ हो जाती है। अन्वय और व्यतिरेक साहचर्य द्वारा प्राप्त निष्कर्ष सिद्ध माना जाता है। गवेषक कार्य-कारण की खोज के लिए समान क्षेत्रों में निरीक्षण करके दोनों प्रकार के साहचर्य का संग्रह करता है। विविध और अनेक प्रकार की घटनाओं के निरीक्षण से साहचर्य के विरोधी व्यभिचार की सम्भावना का निरास हो जाता है। यदि जो व्यक्ति तम्बाकू का प्रयोग करते हैं, उनके हृदय की एक विशेष अवस्था रहती है और जो प्रयोग नहीं करते उनकी वह अवस्था नहीं रहती और यदि इस उभयविध साहचर्य नियम के विरुद्ध कोई व्यभिचारी उदाहरण नहीं मिलता तो हम एक व्यापक नियम की कल्पना करते हैं—तम्बाकू का प्रयोग ही हृदय की इस अवस्था का कारण है। इन नियम को भारतीय न्याय-शास्त्र में व्याप्ति भी कहते हैं।

(२) निराकरण के नियम—'तम्बाकू का प्रयोग हृदय की विशेष निर्बलता का कारण है।' इस कारण-कार्य सम्बन्ध की स्थापना के लिए अन्य सम्भावित कारणों का निराकरण होना चाहिए। इसलिए भोजन, जलवायु, दूसरी आदत इत्यादि का परीक्षण करना उचित है। यदि जिन सारी अन्वय घटनाओं में ये सब बातें केवल अनियत रूप से विद्यमान हैं अर्थात् किसी हृदय की निर्बलता की घटना में विद्यमान नहीं भी हैं, तो अनुपस्थित परिस्थिति उपस्थित कार्य का कारण नहीं हो सकती। इसी भाँति, व्यतिरेक घटना में जहाँ निर्बलता विद्यमान नहीं, वहाँ भी ये परिस्थितियाँ अनियत रूप से विद्यमान रहती हैं, तो भी इनका निराकरण हो जाता है, क्योंकि विद्यमान परिस्थिति अविद्यमान घटना का कारण नहीं हो सकती।

(३) प्रतीक उदाहरण

	कारण-घटना	कार्य-घटना
	∵ क, ख, ग घ	ह, य, र, व
अन्वय घटना	क ग घ च	ह र व ल
	क घ च छ	ह व ल स
	क च छ ज	ह ल स श
	इत्यादि	इत्यादि

∴ क ही ह का कारण है।

	कारण-घटना	कार्य-घटना
∵	ख ग घ ङ	य र, व, ल
व्यतिरेक घटना	ग घ ङ च	र व ल स
	घ ङ च छ	व ल स श
	ङ च छ ज	ल स श, म
	इत्यादि	इत्यादि

∴ क ही ह का कारण है।

ऊपर अन्वय घटनाओं में निराकरण ठीक उसी प्रकार है जैसा पहली विधि में था। व्यतिरेक घटनाओं में जहाँ कारण और कार्य (क और ह) दोनों ही अविद्यमान हैं, वहाँ भी 'क ही ह का कारण है' यही निष्कर्ष सिद्ध होता है, क्योंकि दूसरी परिस्थितियां सभी कभी न कभी विद्यमान रहती हैं, जैसे ख, ग, घ, ङ, च इत्यादि, जब कि कारण और कार्य दोनों सभी में विद्यमान नहीं है।

४—अन्वय-व्यतिरेक-विधि का मूल्यांकन—व्यतिरेक-घटनाओं को अपना आधार बनाने के कारण, यह विधि अपने निष्कर्ष को दृढ़ और सिद्ध बना सकती है और इसी से इस विधि में वे सब दोष नहीं हैं जिनके कारण केवल अन्वय-विधि इतनी निर्बल रहती है। परंतु इसकी केवल एक दुर्बलता है। वह यह कि इसमें बहुधा निरीक्षण का उपयोग किया जाता है और निरीक्षण का क्षेत्र जितना विविध और विस्तृत होता है उतना ही फल विश्वसनीय नहीं होता। निरीक्षण इतना सूक्ष्म नहीं हो पाता कि सभी परिस्थितियों को हम जान सकें। इसलिये बहुधा आवश्यक परिस्थितियों का अ-निरीक्षण हो जाता है। जैसे, हम देखते हैं टाई, टोप लगाने वाले पश्चिमी देशों के लोग स्वस्थ होते हैं और इनका प्रयोग न करने वाले एशिया और अफ्रीका के लोग इतने स्वस्थ नहीं होते। अतः टाई, टोप आदि पश्चिमी वेश ही उनके स्वास्थ्य का कारण है। अथवा, गर्म देशों के फल ठंडे देशों के फलों की अपेक्षा मीठे होते हैं, इसलिए गर्मी ही फलों के मिठास का कारण है। इन उदाहरणों में हमारा निरीक्षण अपूर्ण होने के कारण दूषित रहता है, क्योंकि आवश्यक परिस्थितियों को हम देख ही नहीं पाते। इस त्रुटि के अतिरिक्त, यह विधि पुष्ट और प्रमाणित निष्कर्ष तक हमें पहुँचाने में समर्थ होती है।

भेद-विधि

१—मिल की प्रतिज्ञा - 'यदि एक घटना में जिसमें गवेषणीय विषय विद्यमान हो और दूसरी घटना में जिसमें वह विद्यमान न हो, एक परिस्थिति को छोड़कर सभी परिस्थितियां समान हों और वह परिस्थिति पहली घटना में हो, तो वह परिस्थिति जिसमें दोनों घटनायें भिन्न हैं, कारण, कार्य या गवेषणीय विषय का आवश्यक भाग होगी।'

यदि हम दो बोतलें समान आकार-प्रकार की लें और उनमें समान ही परिस्थितियों में समान पदार्थ, जैसे दूध, भर दें, परन्तु इनमें केवल एक परिस्थिति का भेद कर दें : एक में दूषित वायु रहने दें और दूसरी में से दूषित वायु निकाल दें, तब यदि पहली बोतल का दूध सड़ जाये और दूसरी का शुद्ध रहे तो इस विधि के अनुसार हमारा निष्कर्ष होगा कि 'दूषित वायु का संपर्क ही सड़न का कारण होता है।' इसी प्रकार यदि जलते हुए दीपक के पास हम वायु को न जाने दें तो वायु ही जलने का कारण है, यह सिद्ध होगा। इस विधि में हम केवल दो घटनाओं को निष्कर्ष का आधार मानते हैं। अन्य विधियों में बहुत सी घटनाओं का संग्रह आवश्यक होता है। परन्तु ये दोनों घटनायें एक परिस्थिति के अतिरिक्त सभी प्रकार समान होनी चाहियें। ऊपर के उदाहरण में यदि दोनों बोतलों में वायु के रहने और न रहने के अन्तर के अतिरिक्त और भी कुछ अन्तर होता, जैसे हम एक में दूध और दूसरी में चीनी भरते, तो हम 'केवल दूषित वायु के कारण सड़न होती है इसलिए दूध सड़ गया और दूसरी बोतल में चीनी नहीं सड़ी' इस फल को प्रमाणित नहीं मान सकते थे, क्योंकि चीनी के न सड़ने का कारण केवल दूषित वायु का अभाव ही नहीं, अन्य भी सम्भावनीय है। यदि दो व्यक्ति कई प्रकार से समान और असमान हैं। उनमें एक व्यक्ति अधिक बुद्धिमान है तो इन असमान परिस्थितियों में से कौन सा उसके बुद्धिमान होने का कारण है यह निश्चय करना कठिन है।

'दोनों घटनायें सब प्रकार समान हों, उनमें केवल एक ही परिस्थिति का भेद होना चाहिए।' यह इस विधि की अनिवार्य आवश्यकता है। इसकी पूर्ति

के लिये गवेषक प्रयोग का आश्रय लेता है। केवल प्रयोग द्वारा सारी परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान और उन पर अधिकार रहता है अतः हम ऐसी दो घटनायें प्रयोग द्वारा उत्पन्न कर सकते हैं जिनमें केवल एक परिस्थिति का भेद हो। विज्ञान में अनेक निष्कर्षों का आधार इस प्रकार के प्रयोग होते हैं। वैज्ञानिक किसी घटना को उत्पन्न करके विश्लेषण द्वारा सारी परिस्थितियों का अङ्कन करता है। इनमें किसी एक परिस्थिति के घटाने या बढ़ाने से जो परिणाम उत्पन्न होता है, वह परिमाण इसी भेदक परिस्थिति का फल होता है। साधारण निरीक्षण में जहाँ घटना का क्रम प्राकृतिक अवस्था में होता है, हम इस विधि का प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते।

(२) निराकरण का नियम—यदि दूषित वायु के रहने से दूध में सड़न होती है और न रहने से सड़न नहीं होती, यद्यपि और सारी परिस्थितियाँ समान ही रहती हैं, तो यह वायु ही सड़न का कारण है। प्रश्न यह है कि दूसरी परिस्थितियों को हम कारण क्यों नहीं मानते? इसका उत्तर यह है कि ये परिस्थितियाँ उस गवेषणीय विषय के उपस्थित और अनुपस्थित, दोनों ही अवस्था में विद्यमान रहती हैं। अतः उपस्थित रहनेवाली परिस्थितियाँ अनुपस्थित विषय का कारण नहीं हो सकतीं।

(३) प्रतीक उदाहरण :—

	कारण-घटना	कार्य-घटना
∴	क, ख, ग, घ	ह, य, र, व,
	ख, ग, घ	य, र, व

∴ क ही ह का कारण है।

(४) मूल्याङ्कन—कार्य-कारण सम्बन्ध की स्थापना के लिए यह विधि सर्वोत्तम है। प्रयोग-विधि के कारण इनका परिणाम विश्वसनीय होता है। परन्तु जहाँ हम केवल निरीक्षण करते हैं, वहाँ साधारणतया एक दोष भी उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है। किसी बन्द स्थान में सभा, सनीमा आदि देखने के अनन्तर ज्योंही हम बाहर निकलते हैं, हमें जुकाम हो जाता है। भीतर भीड़ में गर्मी थी, बाहर निकलने पर सर्दी मालूम पड़ी। इस दशा में हम निष्कर्ष निकाल बैठते हैं—कि गर्मी के अनन्तर सर्दी मालूम पड़ने से जुकाम हुआ, इसलिए यह परिवर्तन ही इसका कारण है। छींक होने के अनन्तर चलने

से अनिष्ट हुआ इसलिए यही इस अनिष्ट का कारण है। इस प्रकार इस विधि में, "इसके अनन्तर, इसलिये इस कारण से" यह निष्कर्ष निकालने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। केवल 'अनन्तरता' कारण-कार्य सम्बन्ध के लिए पर्याप्त नहीं होती। 'इसके अनन्तर, इसलिये इस कारण से' यह प्रवृत्ति हमारे अनेक अशुद्ध निष्कर्षों का मूल है। विचार-विज्ञान के लिए यह दोष है।

सहक्रम-परिवर्तन विधि

१—मिल की प्रतिज्ञा :—"यदि किसी घटना के परिमाण में किसी क्रम से परिवर्त्तन होता हो, जब कि दूसरी घटना में भी किसी निश्चित क्रम से परिवर्त्तन हो, तो तो इन दोनों घटनाओं में अवश्य ही कारण-कार्य सम्बंध होगा।"

यदि अधिकाधिक ऊँचाई पर जाने से तापक्रम और वायु का भार कम होते हैं तो अवश्य ही ऊँचाई का इनके साथ कारण-कार्य सम्बंध है। यदि मस्तिष्क की अधिक तोल और जटिलता के साथ बुद्धि की क्रियायें भी अधिक जटिल पाई जाती हैं तो इनमें अवश्य ही सम्बंध है। इस प्रकार दो घटनाओं के साथ-साथ किसी निश्चित क्रम से बढ़ने या घटने से दोनों में सम्बंध की स्थापना होती है। यह विधि दो घटनाओं में परिमाण का निश्चयकरने में प्रयुक्त होती है। विज्ञान केवल इतना ही नहीं जानना चाहता कि कौन किसका कारण है; साथ हीं यह भी जानने की आवश्यकता होती है कि कितने कारण से कितना कार्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार के सम्बंध की गवेषणा और स्थापना के लिए यह विधि उपयुक्त समझी जाती है।

विज्ञान के उन क्षेत्रो में जहाँ कारण को बिल्कुल नहीं हटाया जा सकता, परंतु कम या अधिक किया जा सकता है, वहाँ इस विधि के अतिरिक्त और कोई सफल नहीं हो सकती। तापक्रम से शून्य कोई पदार्थ नहीं मिल सकता, न कोई ऐसा स्थान हमें प्राप्त है जहाँ पृथ्वी का आकर्षण न हो, परंतु तापक्रम और आकर्षण के प्रभाव को हम कम या अधिक करके इनके फल की गवेषणा करते हैं। अर्थ-विज्ञान में मूल्य, मांग, क्रम-विक्रय, मजदूरी, व्याज, व्यापार, आयात-नियति, पैदावारी आदि अनेक विषय होते हैं जिनमें क्रमिक परिवर्त्तन

होता रहता है। इस परिवर्त्तन के निरीक्षण करने से बहुत से आँकड़े एकत्र हो जाते हैं और इस विधि के अनुसार इनमें कारण-कार्य सम्बंध की गवेषणा और स्थापना की जाती है।

२—निराकरण का नियम :—अपरिवर्तनशील अथवा अनिश्चित रूप से परिवर्त्तित होनेवाली घटना परिवर्त्तनशील घटना का कारण अथवा कार्य नहीं हो सकती और एतद्विपरीत।

३—प्रतीक उदाहरण :—

	कारण-घटना	कार्य-घटना
	∵ क, ख, ग	ह, य, र
	२क, ख, ग	२ह, य, र
	३क, ख, ग	३ह, य, र
	इत्यादि	इत्यादि

∴ क ही ह का कारण है।

अथवा

∵ क ख ग घ	ह, य, र, व
२क ग व ङ	२ह, र, व, ल,
३क घ ङ, च	३ह, व, ल श
इत्यादि	इत्यादि

∴ क ही ह का कारण है।

इसी विधि में प्रयोग और निरीक्षण दोनों का उपयोग होना सम्भव है। पहले प्रतीक उदाहरण में हम क के बढ़ने के साथ ह का बढ़ना पाते हैं परंतु दूसरी परिस्थितियाँ वैसी ही और सभी घटनाओं में समान रूप से विद्यमान रहती हैं। इस प्रकार से इस विधि का उपयोग करने में हम इसे भेद-विधि का रूपान्तर मान सकते हैं। प्रयोग से काम लेनेवाले विज्ञान में परिमाण सम्बन्धी गवेषणा के लिये यह सर्वोत्तम विधि है। परंतु जहाँ केवल निरीक्षण ही संभव है और क के परिवर्त्तन के साथ ह का परिमाण तो बढ़ता है परंतु साथ ही दूसरी परिस्थितियाँ भी बदलती रहती हैं, वहाँ यह विधि अन्वय-विधि से बहुत मिलती-जुलती है।

४—मूल्याङ्कन :—यह विधि प्रयोग और निरीक्षण दोनों के लिये उपयुक्त

है। इसके द्वारा कारण-कार्य संबंध की गवेषणा और स्थापना दोनों ही संभव हैं। परिमाण संबंधी निर्णय इसी विधि के द्वारा होता है। यह विधि वहाँ सफलता-पूर्वक लागू होती है जहाँ कारण के अभाव की संभावना नहीं, प्रत्युत उसे घटाया-बढ़ाया जा सकता है। परंतु इस विधि में दुर्बलता इस बात की है कि प्रत्येक सक्रम परिवर्त्तन में सीमा नियत होती है जिसके पार यह नियम असत्य सिद्ध हो जायगा। जैसे गर्मी के प्रभाव से जल का परिमाण कुछ समय तक बढ़ेगा, परंतु उबाल ही अवधि पर पहुँचकर वह घटना प्रारम्भ हो जायेगा। इसी प्रकार कुछ समय शीत से वस्तुओं का परिमाण कम होता है, परंतु जल से बर्फ बन जाने पर घटने के स्थान पर वह बढ़ता है। इस विधि का प्रयोग करते समय उच्च और नीच सीमा का ध्यान रखना चाहिए। कभी-कभी दो घटनाओं का बढ़ना और घटना केवल आकस्मिक भी होता है, जैसे हमारे देश में औषधालयों और डाक्टरों की संख्या बढ़ने से बीमारी और दुर्बलता का बढ़ना। वस्तुतः इन दोनों में कोई आवश्यक कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं। ऐसी अवस्था में भी यह विधि असफल रहती है जहाँ एक ही कार्य के अनेक कारण प्रतीत होते हैं। यद्यपि हम अन्वय-विधि में यह देख चुके हैं कि कारण-बाहुल्य सिद्धांत सत्य नहीं परंतु निरीक्षण की कमी से ऐसी अवस्थायें हो सकती हैं।

शेष-विधि

१—मिल की प्रतिज्ञा :—"कार्य-घटना में से ऐसे भाग को निकाल दीजिये जिसका कारण पूर्व आगमन-विधियों से ज्ञात हो, तो कार्य-घटना का शेष भाग कारण-घटना के शेष भाग से कारण-कार्य संबंध रखनेवाला होगा।"

मान लीजिये इस समय वस्तुओं का मूल्य पहले की अपेक्षा पाँच गुना है। मूल्य के बढ़ने में कई कारण हो सकते हैं, जैसे माँग की अधिकता, उत्पत्ति की कमी, व्यापारियों का नियम-विरुद्ध संग्रह, सिक्के का अत्यधिक प्रचार। यहाँ वस्तुओं का पाँच गुना मूल्य संपूर्ण कार्य है और चारों कारण हैं। इन कारणों में से, पहले कारण से मूल्य केवल डेढ़ गुना बढ़ना चाहिये, दूसरे को मिला कर मूल्य दुगुना होना चाहिये, पहले तीनों कारणों से मूल्य की वृद्धि केवल तिगुनी हो सकती है। मूल्य की वृद्धि में इन कारणों का प्रभाव पूर्व गवेषणाओं

द्वारा हमें मालूम है। कार्य का शेष भाग अर्थात् मूल्य का तिगुने के स्थान पर पंच गुना होनां—यह शेष कारण अर्थात् सिक्कों का अत्यधिक प्रचार, का ही फल है, यह सिद्ध माना जायेगा।

इस विधि के द्वारा निष्कर्ष को प्रमाणित करने के अतिरिक्त हमें गवेषणा में भी सहायता मिलती है। यदि हमें शेष कारण का पहले से पता न हो तो हम शेष कार्य को समझने के लिए इसकी कल्पना कर सकते हैं और फिर निरीक्षण और प्रयोग के द्वारा उसके स्वरूप का पूर्ण निश्चय कर सकते हैं। कई गवेषणाएँ इस प्रकार होती हैं। खगोल के एक विद्वान् ने यूरेनस नामक ग्रह के मार्ग का निश्चय किया। उस समय उसे जितने प्रभावों का ज्ञान था उसके अनुसार उसने अनुमान किया कि यूरेनस अमुक दिन अमुक स्थान पर दृष्टिगोचर होना चाहिये। परन्तु कुछ अन्तर प्रतीत हुआ और एक नये प्रभाव की कल्पना की गई। अन्तर की सहायता से एक नवीन ग्रह के परिमाण, परिधि, दिशा आदि का अनुमान लगाया गया और इसके अनन्तर उस दिशा में दूरवीक्षण यन्त्रों की सहायता से देखने पर वहीं अनुमानित नवीन ग्रह का बोध किया। इस प्रकार नेपच्यून नामक ग्रह की गवेषणा हुई।

२—निराकरण का नियम :—यदि कोई परिस्थिति किसी दूसरे कार्य से ज्ञात सम्बन्ध रखती है तो वह गवेषणीय कार्य का कारण न होगी।

३—प्रतीक उदाहरण :—

कारण-घटना	कार्य-घटना
∵ क ख ग	ह, र, व
ख	र
ग	व

∴ क ही ह का कारण है।

यहाँ क, ख, ग सम्पूर्ण कारण-घटना है और ह, र, व, सम्पूर्ण कार्य-घटना। परन्तु इनमें ख कारण र का, ग कारण व का हमें मालूम है। इसलिए ख और ग, ह का कारण न होंगे। शेष, क, शेष, ह का कारण होगा।

४—मूल्यांकन :—यह गवेषणा और प्रमाण दोनों के लिए समान रूप से उपयुक्त है। इसमें कारण-कार्य सम्बन्धों का पूर्व ज्ञान होना आवश्यक है। इस पूर्व ज्ञान से शेषफल सिद्ध होता है इसलिए इसमें आगमन की अपेक्षा

निगमन का ही प्रयोग अधिक होता है। भेद-विधि से ये विधि भिन्न है, क्योंकि उसमें केवल दो उदाहरणों का उपयोग होता था और दोनों की भिन्नता वहाँ कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये पर्याप्त समझी जाती थी। इसमें प्रत्येक कारण का अलग-अलग फल मालूम होना चाहिये और शेष का अज्ञात। यह शेष फल ही शेष कारण से सम्बन्ध रखता है।

विधियों की समालोचना

१—ये विधियाँ पाँच हैं। मिल इन्हें भिन्न-भिन्न मानता है। वस्तुतः ये आगमन-विचार की भिन्न प्रणालियाँ है। प्रत्येक प्रणाली एक या एक से अधिक प्रकार से अनावश्यक और आकस्मिक का निराकरण करती है। परन्तु किसी फल की गवेषणा अथवा स्थापना में हम इन विधियों में से एक या एक से अधिक से काम ले सकते हैं।

२—यदि हमें कारण या कार्य का पूर्व-बोध न हो तो हम निरीक्षण अथवा प्रयोग के द्वारा इन विधियों के अनुसार चल कर इनकी खोज कर सकते हैं। यदि हमें कारण और कार्य का ज्ञान है तो इन विधिओं के अनुसार सामग्री को संगठित करके हम इनके सम्बन्ध की स्थापना कर सकते हैं। इस प्रकार गवेषणा और स्थापना दोनों के लिये ये विधि उपयुक्त हैं।

३—इन विधियों की गति उसी समय सम्भव है जब हमें कारण-घटना और कार्य-घटना में आनेवाली सभी परिस्थितियों का अलग-अलग निश्चित ज्ञान हो। विश्लेषण के पूर्व इनका उपयोग असम्भव है। विश्लेषण विज्ञान की कठिन-तम समस्या है। अतः ये विधि कठिनतम काम को मान कर ही आगे चलती हैं।

४—'क ही ह का कारण है।' ऐसे सरल कारण-कार्य सम्बन्धों की स्थापना इन विधियों से सम्भव है। परन्तु यदि कोई फल कई कारणों के सहयोग से उत्पन्न होता है अथवा कोई फल कई फलों का मिश्रण है तो वहाँ ये विधि सफल नहीं हो सकती। कारण-सहयोग इतिहास, भूगोल, समाज-विज्ञान आदि में रहता और इसी प्रकार कार्य-विमिश्रण खगोल आदि विज्ञानों में होता है। इन अवस्थाओं में ये विधि व्यर्थ सिद्ध होती हैं।

५—मिल के अनुसार ये विधियाँ केवल आगमनात्मक हैं। वस्तुतः ऐसी

नहीं। इनमें आगमन और निगमन दोनों ही विचार-प्रकारों का उपयोग होता है। जहाँ तक हम घटनाओं के निरीक्षण और प्रयोग के अनन्तर सामान्यीकरण द्वारा 'क ह का कारण है' इस नियम की गवेषणा करते हैं, वहाँ तक इनमें केवल आगमन है, परन्तु इस नियम की स्थापना के लिए हम मूल-सिद्धान्तों का उपयोग करते हैं। अतः स्थापना और प्रमाण के अवसर पर इनमें निगमन विचार शैली का उपयोग होता है।

———

उपमान-विधि

विज्ञान अपनी अनेक गवेषणाओं में वस्तुओं की स्वाभाविक समता का उपयोग करता है। मनुष्य की बुद्धि अनेक वस्तुओं में साम्य की खोज करती है, क्योंकि इसके द्वारा 'अनेक' भी एकता के सूत्र में बँध जाते हैं। यहाँ हम साम्य की गवेषणा-विधि के विषय में विचार नहीं करेंगे; प्रत्युत जिन गवेषणाओं में साम्य ही विचार का आधार होता है, केवल इसका विचार करेंगे। जैसे, एक गवेषक ने खोज की कि रेशम के कीड़ों में यदि स्वस्थ और अस्वस्थ (किसी विशेष रोग से ग्रस्त) कीड़ों को एक साथ रख दिया जाये तो अस्वस्थ कीड़ों के सम्पर्क से स्वस्थ भी उसी रोग से आक्रान्त हो जाते हैं। इस निरीक्षण से उस गवेषक ने रोगों के संक्रमण अथवा एक से दूसरे तक पहुँच जाने के सिद्धांत की खोज की। उसने स्थिर किया कि कुछ रोग अवश्य ही संक्रामक होते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार, अनेकों गवेषकों ने खोज प्रारम्भ की। उन्होंने विचार किया : यदि रेशम के कीड़ों में संक्रामक रोग हो सकते हैं, तो मनुष्य भी जीवधारी होने के कारण उन्हीं के समान है, अतः मनुष्य के भी अनेक रोग संक्रामक हो सकते हैं। इस खोज के फलस्वरूप आधुनिक चिकित्सा विज्ञान ने अनेक संक्रामक रोगों का पता लगाया है। समानता के आधार पर ही अनेकों 'इनजेक्सन', टीका, कृमि से उत्पन्न होनेवाले रोग, शरीर में किसी तत्त्व के अभाव से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ आदि का आविष्कार हुआ है।

राजनीति के क्षेत्र में भी विचार-धारा साम्य के आधार पर अनेक निष्कर्षों पर पहुँचती है। जैसे, भारतवर्ष की आन्तरिक अवस्था इस समय ऐसी ही है जैसी चीन की अवस्था चांग काई शेक के समय में थी। जिस प्रकार वहाँ राजनैतिक-आर्थिक क्रान्ति हुई जिसने पुराने तंत्र को नष्ट कर दिया, उसी प्रकार हमारे देश में भी सार्व-भौम क्रांति की सम्भावना है जो पुराने तंत्र को नष्ट करके नवीन तंत्र की स्थापना करेगी। अथवा, द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व जो वातावरण, भय, वैमनस्य, संदेह आदि संसार में विद्यमान था, वैसा ही आज

भी विद्यमान है। दोनों अवस्थाओं में पर्याप्त समानता है, इसलिए अब तीसरे युद्ध का सच्चा भय है। अथवा, हम विचार करते हैं: यदि बच्चा सदैव ही पिता की संरक्षता और अधीनता में रहे, तो वह कभी भी स्वतंत्र विचार करने में समर्थ नहीं हो सकता और न स्वावलम्बी बन सकता है। इसी प्रकार यदि किसी राष्ट्र में सभी व्यक्ति एक ही नेता अथवा दल की संरक्षता और अधीनता में रहें, तो वहाँ की जनता स्वावलम्बी और स्वतंत्र विचार करने के लिये अयोग्य हो जाती है। अथवा, राष्ट्र भी अनेक प्रकार से जीवित वस्तुओं की भाँति होता है। जिस प्रकार जीवित लोगों के स्वास्थ्य के लिये व्यायाम आवश्यक और लाभ प्रद होता है, उसी प्रकार राष्ट्र को शक्ति-शाली बनाये रखने के लिए युद्ध भी आवश्यक और लाभप्रद हो सकता है।

अर्थ-विज्ञान के क्षेत्र में भी 'साम्य' ही अनेक निष्कर्षों का एकमात्र आधार है। जैसे, जिस प्रकार शरीर में रुधिर के संक्रमण से वह दृढ़ और स्वस्थ होता है, उसी प्रकार व्यय के द्वारा धन के वितरण से समाज सम्पन्न हो सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को व्यय करना चाहिये। अथवा, किसी समाज में लेन-देन या क्रय-विक्रय करने में हम स्वभावतः पहले अच्छे सिक्कों, या नोटों को न देकर खराब और बिगड़े हुए सिक्कों को दूसरों को देना चाहते हैं। इस प्रकार स्वभावतः बहुधा बाज़ार में खराब सिक्के अधिक संख्या में मिलते हैं और लोग अच्छे सिक्कों को अपने पास रखते हैं। ठीक जिस प्रकार खराब, घिसे सिक्के अच्छों को बाज़ार से बाहर निकाल देते हैं, उसी प्रकार बुरे आदमी भले मनुष्यों को आगे बढ़ने आदि में बाधक होते हैं। इस प्रकार अनेकों विज्ञानों में समता के आश्रय पर खोज करके नवीन निष्कर्ष निकाले जाते हैं। हमारे धार्मिक विश्वास भी समता को ही आधार मान कर बनाये गये हैं। जैसे, समाज की रक्षा के लिये मनुष्यों ने दण्ड और पारितोषक आदि की व्यवस्था की है। इसी प्रकार संसार की रक्षा के लिये ईश्वर ने पाप-पुण्य की व्यवस्था की जिसके अनुसार स्वर्ग और नरक फल प्राप्त होते हैं। ईश्वर की सत्ता के लिये भी जो प्रमाण दिये जाते हैं, उनमें भी 'साम्य' का भाव विद्यमान रहता है। जैसे, जिस प्रकार घड़ा, वस्त्र आदि वस्तु स्वयं नहीं बन जाती; उनका बनानेवाला कोई चेतन कर्त्ता होता है उसी प्रकार संसार भी स्वयं नहीं बन सकता। उसका

बनानेवाला ईश्वर है। अथवा, जिस प्रकार किसी कमरे में सामान की उचित व्यवस्था देखकर, यद्यपि वहाँ हमें कोई व्यवस्थापक पुरुष दिखाई नहीं पड़ता, हम किसी चतुर व्यवस्था करनेवाले पुरुष की कल्पना कर सकते हैं, उसी प्रकार सारी प्रकृति में नियमों की अद्भुत व्यवस्था को देखकर हम परम पुरुष ईश्वर की कल्पना कर सकते हैं।

हम देखते हैं कि अनेक गवेषणा और युक्तियाँ दो वस्तुओं के साम्य पर आश्रित रहती हैं। साम्य हमारी विचार-क्रिया का आवश्यक आधार है। जहाँ हम साम्य का उपयोग गवेषणा अथवा नियम की स्थापना के लिये करते हैं, वहाँ हम 'उपमान-विधि' को काम में लाते हैं। विचार-विज्ञान का प्रश्न है: इस 'साम्य' का क्या स्वरूप है? क्या सभी तर्क और गवेषणा जिनका आधार उपमान होता है सिद्ध और सत्य माने जा सकते हैं? यद्यपि यह हमारे विचार की साधारण क्रिया है, परन्तु बहुधा यह साम्य केवल भ्रम में डालनेवाला हो सकता है। अथवा, साम्य इतना कम हो सकता है जिस पर किसी तर्क को आश्रित करना संदेहयुक्त होगा। सत्य के परीक्षक को चाहिये कि वह इन निर्बल, भ्रामक, संदेहास्पद तर्कों से सतर्क रहे।

उपमा का सबसे अधिक प्रयोग कवि अथवा वक्ता करते हैं। वे अनेक भिन्न पदार्थों में साम्य का उद्घाटन करके श्रोता के मन में सुन्दर कल्पनाओं का संचार करते हैं। उनका उद्देश्य इस प्रकार से श्रोता को प्रभावित करना और सूक्ष्म सौन्दर्य और आस्वाद का साक्षात्कार कराना होता है। परंतु इन उपमा और रूपकों से सौन्दर्य और प्रभाव के अतिरिक्त वैज्ञानिक सत्य को सिद्ध करने की आशा केवल दुराशा है। जब कभी कोई वक्ता केवल कला में प्रयुक्त उपमा आदि का प्रयोग किसी बुद्धिगम्य निष्कर्ष पर पहुँचाने के लिए करता है तो वह विचार-विज्ञान के लिए केवल वाक्छल है। जैसे, गंगास्नान हमारे हृदय के पाप को धो सकता है, क्योंकि इसका प्रवाह किनारे के मल को दूर कर देता है और कीटाणुओं को नष्ट करता है। यहाँ पाप और मल की समता केवल काल्पनिक है। परन्तु वस्तुतः पाप आन्तरिक क्रिया है जिस पर गङ्गा के प्रवाह का वही प्रभाव नहीं पड़ सकता जो किनारे के मलादि पर पड़ता है। विचार विज्ञान का यह पहला नियम है कि जिस समता के आधार पर हम निष्कर्ष निकालें, वह

वास्तविक हो, आलंकारिक या काल्पनिक न हो जिसका उद्देश्य केवल हृदय के भावों को जगाना और कल्पना को उर्वर बनाना होता है।

कभी-कभी हम केवल सम्बन्ध की समानता के आधार पर निष्कर्ष निकाल बैठते हैं। गणित में वह विचार-क्रिया सत्य और सिद्ध फल तक हमें पहुँचा देती है। जैसे, ३ : ४ : : १५ : क। ३ और ४ में वही सम्बन्ध है जो १५ और 'क' (अज्ञात संख्या) में है। यह 'क' संख्या २० होगी, क्योंकि ३ और ४ तथा १५ और २० में ही केवल सम्बन्ध की समानता हो सकती है और किसी संख्या में नहीं। ये प्रश्न अनुपात के साम्य पर आश्रित हैं। यदि दो वस्तुओं का मूल्य पाँच रुपया है तो ६ वस्तुओं का मूल्य उतना ही होना चाहिए जितना २ और ६ में अनुपात है। वस्तुओं की संख्या और उनके मूल्य में समानुपात होता है। किसी धन पर समय और ब्याज में समानुपात रहता है। इसी प्रकार धन, समय, ब्याज और दर आदि में अनुपात नियत रहता है। इसी नियत अनुपात के आधार पर ही गणित में बहुत सी विचार-क्रिया चलती रहती है। कहीं पर विषम अनुपात के सहारे पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। जैसे, यदि ८ मनुष्य एक काम को २० दिन में करते हैं तो यदि मनुष्यों की संख्या दूनी हो जाये तो दिनों की संख्या आधी हो जायेगी। मनुष्यों की और दिनों की संख्या में विषम अनुपात रहता है। यदि मनुष्यों की संख्या बढ़ती है तो दिनों की संख्या कम हो जाती है और एतद्विपरीत। इस प्रकार अंकगणित और बीजगणित की विचार-प्रणाली में अनुपात की नियत समता अथवा विषमता को आधार माना जाता है।

हम सभी स्थलों पर अनुपात की समता का उपयोग एक ही प्रकार से नहीं कर सकते। जैसे, यदि हम विचार करें कि "मातृभूमि और वहाँ से गये हुए लोगों द्वारा बसाये हुए उपनिवेशों में वही सम्बन्ध है जो माता और उसके पुत्रों में होता है; अतः जिस प्रकार पुत्र अपनी माता के अनुशासन में रहते हैं उसी प्रकार उपनिवेशों को भी सदैव मातृभूमि की आज्ञा का पालन करना चाहिए" तो यह युक्ति सर्वथा मान्य न होगी, क्योंकि यह अनुपाती सम्बन्ध मुख्य अंशों में संगत नहीं प्रतीत होता। माता की आज्ञा का पालन पुत्र करता है, परन्तु नये उपनिवेश स्वतन्त्र राष्ट्रों की स्थापना करते हैं और इसमें कुछ

अनुचित भी प्रतीत नहीं होता। अथवा, किसी देश की सरकार और उसकी प्रजा में वही सम्बन्ध है जो पिता और उसके पुत्रों में होता है। इसलिए कुटुंब की भलाई के लिए यदि पिता पुत्रों पर निरंकुश शासन करे तो अनुचित नहीं; इसी प्रकार सरकार भी वही अच्छी है जो प्रजा पर शासन करने में निरंकुश हो। इन सब युक्तियों में हमें दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए: (१) संबंध अथवा अनुपात कहाँ तक समान हैं अथवा कहाँ तक अ-समान हैं। यदि अ-समानता मुख्य और आवश्यक है तो हम इसके आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। (२) यदि समानता है भी तो क्या वह जिस निष्कर्ष पर हम आना चाहते हैं उससे कोई घनिष्ट सम्बन्ध रखती हैं या नहीं। उदा: किसी देश और उसकी राजधानी में वही सम्बन्ध है जो मनुष्य और उसके हृदय में है। इसलिए जिस प्रकार हृदय में शुद्ध और अशुद्ध रुधिर के लिए दो भिन्न भाग होते हैं, उसी प्रकार प्रधान नगर के भी दो भाग होने चाहिए। इस उदाहरण में स्पष्ट है कि समानता से भी अधिक अ-समानता है और जो समानता है भी उसका इससे निकाले जानेवाले निष्कर्ष से कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं।

कुछ गवेषणा और युक्तियों में केवल दो भिन्न वस्तुओं की समानता ही आधार होता है। जैसे, पृथ्वी और मंगल ग्रह अनेक बातों में समान हैं। परंतु पृथ्वी पर जीव सृष्टि विद्यमान है, इसलिए मङ्गल में जीव सृष्टि होगी। क और उसके पिता कई बातों में समान हैं। परंतु उसके पिता की मृत्यु असमय में हुई थी, इसलिए क की मृत्यु भी असमय में होगी। लोहा और सोना दोनों धातु हैं। परन्तु लोहा बहुत सस्ता है, इसलिए सोना भी सस्ता होगा। भारतवर्ष और चीन आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि अनेक प्रकार से समान हैं। परन्तु चीन में राज्य-क्रांति के उपरांत साम्यवाद की स्थापना हुई है, इसलिए भारत में भी राज्य-क्रांति के उपरांत साम्य-वाद की स्थापना होगी।

इन युक्तियों में प्रामाणिकता का निश्चय किस प्रकार होना चाहिए? गवेषणा के लिए 'समानता' मार्ग प्रदर्शन करती है। जैसे ऊपर के उदाहरण में, पृथ्वी और मङ्गल ग्रह का समान होना इस ओर संकेत करता है कि यह समानता किस सीमा तक है, इसकी हमें खोज करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि पिता और पुत्र समान हैं तो किस सीमा तक, इत्यादि। गवेषणा के अनन्तर हम

यह पता लगा सकेंगे कि यह समानता हमारे निष्कर्ष का आधार हो सकती है या नहीं, अथवा, यह समानता असम्बद्ध और अननुषंगिक है जिसका निष्कर्ष से कोई लगाव नहीं। प्रत्येक उपमान-विधि में निरीक्षण करने के अनन्तर परीक्षण करना होगा। सभी के लिये समान नियम का आविष्कार करना सरल नहीं है। हम केवल समानता के निरीक्षण और परीक्षण के लिए निम्नलिखित नियमों की कल्पना कर सकते हैं :—

१—यदि क और ख में समानता है तो किन अंशों में है। क्या वे समानता के अंश अधिक संख्या में हैं या अल्प संख्या में? यदि समानता बहुसंख्यक है तो निष्कर्ष सम्भव हो सकता है। २—केवल बहुसंख्यक समानता भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिन अंशों में समानता है वे आवश्यक होने चाहियें। जैसे, पृथ्वी और मङ्गल ग्रह में आंशिक समानता है और यह समानता कई अशों में है जो महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे मङ्गल में वायुमण्डल, समुद्र, बादल, वनस्पति आदि का पाया जाना। पिता और पुत्र में समानता अनेक अंशों में हो सकती है, परन्तु वे अंश, सम्भव है, महत्त्वपूर्ण न हों। उन्हीं अंशों को हमें महत्त्वपूर्ण मानना चाहिये जिनका निष्कर्ष के साथ आवश्यक और कार्य-कारण सम्बन्ध हो। सोना और लोहा अनेक महत्त्वपूर्ण अंशों में समान हैं, क्योंकि दोनों प्राकृतिक धातु हैं। परन्तु 'लोहे का मूल्य कम है, इसलिए सोना भी सस्ता होगा' यह निष्कर्ष न्याय-संगत नहीं क्योंकि किसी वस्तु का मूल्य जिन कारणों से निश्चित होता है, वह उनका धातु होना या न होना नहीं है। सोने की उपज कम है माँग अधिक है; इसीलिये अपेक्षाकृत लोहे से सोना अधिक मूल्यवान् है।

उपमान-विधि के प्रसंग में महत्त्वपूर्ण, आवश्यक, आनुषंगिक शब्दों का समान अर्थ है। एक निष्कर्ष के लिए जो आवश्यक समानता है, वह दूसरे निष्कर्ष के लिए अनावश्यक और असम्बद्ध हो सकती है। 'क और ख दोनों ही भारतीय हैं और उत्तर प्रदेश के निवासी हैं, इसलिए दोनों की भाषा समान होगी।" यह निष्कर्ष सम्भव है क्योंकि समानभाषी होने के लिए समान प्रदेश अथवा प्रान्त का होना महत्त्वपूर्ण है। परन्तु यदि कहें, "क और ख उत्तर प्रदेश के निवासी भारतीय हैं, परन्तु क हिन्दू धर्म को मानता है, इसलिए ख भी

हिन्दू होगा" यह निष्कर्ष विश्वसनीय नहीं हो सकता, क्योंकि किसी विशेष प्रदेश में रहना और धर्म में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं।

३—समानता के अतिरिक्त असमानता की खोज भी आवश्यक है। यदि असमानता कई अंशों में है और वे अंश महत्त्वपूर्ण हैं तो हमारा निष्कर्ष निर्बल होगा। इसलिए उपमान-विधि द्वारा निष्कर्ष की स्थापना करने के लिए समान अंशों' की भाँति ही 'असमान अंशों' का निरीक्षण करना चाहिये।

४—दो वस्तुओं की समान और असमान अंशों में तुलना करते समय जहाँ हम उनकी संख्या और महत्त्व पर ध्यान देते हैं, वहाँ हमें यह भी जानना चाहिये कि हम कितना इनके विषय में नहीं जानते। क और ख दोनों ही अंग्रेज हैं; दोनों में और कई समानतायें हैं जो हम ऊपर की दृष्टि से जान पाये हैं। परन्तु यदि क ईमानदार था तो ख भी ईमानदार होगा यह निष्कर्ष निश्चित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि किसी व्यक्ति का ईमानदार होना या न होना उसके चरित्र पर निर्भर है। यदि हम ख के चरित्र से परिचित नहीं तो हम क और ख की ज्ञात समानता के आधार पर ख को वही नहीं कह सकते जो हम क के विषय में कहते हैं। उपमान-विधि के अनुसार विचार करते समय हमें ज्ञात और अज्ञात समान और असमान अंशों की संख्या और उनके महत्त्व की ओर ध्यान देना चाहिए।

हम उपमान-विधि का प्रयोग निषेधात्मक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए भी कर सकते हैं। यदि क और ख असमान हैं और यदि क बुद्धिमान् है तो ख बुद्धिमान् नहीं होगा। अथवा, हिमालय और विन्ध्य पर्वत अनेक अंशों में असमान हैं। परन्तु हिमालय पर्वत पर ऊँचे पेड़ोंवाले सघन वन हैं तो विन्ध्य पर्वत पर ऐसे वन नहीं होंगे। अथवा, भारत और इंगलैण्ड के समुद्र तटों में अन्तर है, एक का तट कटा-छटा और दूसरे का सीधा सपाट है। परन्तु इंगलैंड के निवासी सदा से नाविक रहे हैं, इसलिये भारत के निवासी समुद्री जाति कभी नहीं रहे। इस प्रकार, इन उदाहरणों में असमानता के आधार पर ही निष्कर्ष निकाला जाता है। इनमें ऊपर के नियमों के अनुसार ही महत्त्वपूर्ण समान और असमान अंशों का निरीक्षण करना चाहिये। असमान अंशों के अधिक और महत्त्वपूर्ण होने पर हमारा निष्कर्ष सफल हो सकता है।

उपमान-विधि द्वारा प्राप्त निष्कर्ष का क्या वैज्ञानिक महत्त्व हो सकता है? इसका आधार भिन्न दो वस्तुओं की आंशिक समानता है; इसको मानकर हम आगे भी समान होने का निष्कर्ष निकालते हैं। 'यदि क वस्तु में य, र, ल, व विद्यमान गुण हैं, ख में भी य, र, ल, व विद्यमान हैं। परन्तु क में ह भी पाया जाता है, दोनों के समान होने के कारण, इसलिए ख में भी ह गुण पाया जायगा।' इस विचार-प्रणाली में हम निरीक्षण के उपरान्त सामान्य नियम का आविष्कार नहीं करते; केवल दो वस्तुओं की तुलना के आधार पर अनुमान करते हैं। यदि क और ख अनेक अंशों में समान हैं और इनमें क बुद्धिमान् है है तो सम्भव है ख भी बुद्धिमान् हो। परन्तु यह सम्भावना केवल कल्पना है; निश्चित नहीं। इस कल्पना के आधार पर आगे गवेषणा करनी चाहिए। संभव है क और ख के समान अंशों का बुद्धिमत्ता के साथ कारण-कार्य सम्बन्ध हो। इस प्रकार उपमान विधि का निष्कर्ष केवल सम्भावना मात्र हो सकता है। परंतु इस संभावना का निश्चय गवेषणा-विधि द्वारा किया जा सकता है, जिससे यह समान अंशों का आधार कारण-कार्य सम्बन्ध का आधार बन सकता है।

सहायक-विधियाँ

अनेक समान अनुभवों को सूत्रबद्ध करने के लिए हम सामान्य नियम की कल्पना करते हैं। यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार जैसे भूख या देखने की प्रवृत्ति। हम बार-बार अनुभव करते हैं कि चेचक का प्रकोप चैत्र मास में होता है तो हम सामान्य नियम निकाल बैठते हैं कि चैत्र मास में ही सदैव चेचक का प्रकोप होता है। अथवा, हम अनेक बार देखते हैं कि वर्षा ऋतु में आलू का भाव तेज़ हो जाता है तो इसी को सदैव के लिए नियम बना लेते है। अथवा, हमने कई बार अनुभव किया कि जिस वर्ष वैशाख में वर्षा होने से चौमासे में कम वर्षा होती है तो हम झट से यह नियम बनाने का प्रयत्न करते हैं। सामान्य-नियम बनाने की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति विज्ञान की जननी है और हमारे व्यवहारिक जीवन का आधार है। बार-बार समान अनुभव करते रहने से 'अग्नि गर्म होती है' 'पानी से प्यास बुझती है' 'ठंड लगने से ज्वर हो जाता है' इत्यादि अनगिन नियम हमारी बुद्धि में एकत्र हो जाते हैं। विज्ञान इस प्रवृत्ति को वैज्ञानिक, नियमित और परिष्कृत बना देता है। इन नियमों तक पहुँचने के लिए निरीक्षण और प्रयोग का सहारा लेता है। प्रत्येक घटना को उनकी सूक्ष्म परिस्थितियों में विश्लेषण करता है। अनेक निरीक्षणों और विश्लेषणों के अनन्तर उनमें सामान्य तत्त्व की कल्पना करता है; परन्तु इस कल्पना को सामान्य नियम मानने से पूर्व उसे तर्क और युक्तियों से सिद्ध कर लेता है। वैज्ञानिक गवेषणा एक नियत पद्धति का अनुसरण करती है, क्योंकि विज्ञान के लिए निष्कर्ष का उतना ही महत्त्व है जितना उस पद्धति का जिसके द्वारा निष्कर्ष का आविष्कार और स्थापना होती है।

साधारण जीवन में हम इस पद्धति का अनुसरण नहीं करते। परन्तु स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार सामान्य नियम अवश्य बनाते हैं। इसकी अनेक विधियाँ अथवा प्रकार हैं। उपमान-विधि का विवरण ऊपर किया जा चुका है। यहाँ हम गणना-विधि को लेते हैं। इसके अनुसार हम नियम की कल्पना करने

के लिए समान अनुभवों की गणना करते हैं। यह गणना पूर्ण और सीमित हो सकती है : जैसे, इस बाग में सभी आम के वृक्ष हैं, अथवा इस पुस्तकालय में सभी पुस्तकें हिन्दी भाषा की हैं। यह गणना अपूर्ण हो सकती है : जैसे, सभी कौवे काले होते हैं; सोना पीला होता है; विद्यार्थी चंचल होते हैं; इत्यादि। इन में पूर्ण गणना का फल निश्चित होता है; परन्तु इसका विज्ञान के लिए विशेष महत्त्व नहीं। पूर्ण गणना के अनन्तर हम 'इस बाग' 'इस पुस्तकालय' आदि का निरीक्षण करके केवल सीमित ज्ञान प्राप्त करते हैं। यद्यपि कभी-कभी यह ज्ञान व्यवहारिक महत्व रखता है, तो भी विज्ञान की दृष्टि से यह नगण्य है। वास्तविक नियम अपूर्ण गणना से प्राप्त होता है, क्योंकि इसमें हम 'कुछ' का निरीक्षण करके 'सब' के विषय में नियम का आविष्कार करते हैं और ऐसा करने के लिए विचार को सावधान और सतर्क रहने के अतिरिक्त कुछ साधारण नियमों का पालन करना पड़ता है।

अपूर्ण गणना-विधि का उपयोग साधारण जीवन में अधिक किया जाता है। अनेक कहावतें जो समाज में प्रचलित रहती हैं इसी के द्वारा प्राप्त होती हैं। परन्तु केवल गणना के आधार पर किसी निष्कर्ष को स्थापित करना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक घटनाओं का विश्लेषण करके उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है जिसके लिए वैज्ञानिक-विधियों का प्रयोग किया जाता है। गणना-विधि के द्वारा जो सामान्य नियम निकाला जाता है उसको कल्पना मानकर आगे उसका परीक्षण किया जा सकता है। यदि हम अनेक बार यही अनुभव करें कि वैसाख में वर्षा होने से आषाढ़ में वर्षा कम होती है तो सम्भव है दोनों में कोई घनिष्ठ कारण-कार्य सम्बन्ध हो। इस प्रकार गणना-विधि का निष्कर्ष गवेषणा और परीक्षा के अनन्तर वैज्ञानिक निष्कर्ष के रूप में स्थापित किया जा सकता है। यदि निष्कर्ष का आधार केवल सामान्य अनुभव है, जैसे 'कौवे काले होते हैं' और 'हंस सफेद होते हैं' और 'खल्वाट धनवान् होते हैं' आदि, तो इनका विरोधी एक भी अनुभव मिलने पर ये सदा के लिए असिद्ध हो जाते हैं। यों गणना-विधि का निष्कर्ष विचार की दृष्टि से निर्बल और सन्दिग्ध रहता है। हम अनेक बार थोड़े साधारण अनुभव पर भी निष्कर्ष निकाल बैठते हैं जो वस्तुतः निराधार होता है। यदि कई बार छींक होने

के बाद चलने से अनिष्ट हो गया तो हम छींक के अपशकुन का नियम बना लेते हैं। हम उन घटनाओं को ध्यान में नहीं लाते जब छींक के बाद चलने से अनिष्ट नहीं हुआ अथवा छींक न होने पर चलने से भी अनिष्ट हुआ। इस प्रकार का निष्कर्ष केवल आतुरता के कारण है और यह आतुरता की प्रवृत्ति अनेक व्यर्थ भय और कल्पनाओं का मूल है। इतने पर भी गणना-विधि, यदि हम इसमें दोषों की प्रवृत्ति से सावधान रहें, विज्ञान में सहायक सिद्ध हो सकती है क्योंकि यह नियम की कल्पना की ओर मस्तिक को ले जाती हैं; हाँ, नियम की स्थापना के लिए सर्वथा असमर्थ हैं।

वर्गीकरण भी विज्ञान की सहायक विधि है। इसके द्वारा विज्ञान-वेत्ता अपने विषय के पदार्थों को वर्गों में विभाजित करता है, जैसे वनस्पति-विज्ञान में अनेकानेक वनस्पतियों को अथवा जीव-विज्ञान में अनेकानेक जीवों को। वर्गीकरण से उसे अनेक लाभ होते हैं। वह अपनी बिखरी हुई सामग्री को एकत्रित और सङ्गठित कर पाता है। वैसे तो वनस्पति असंख्य और अनन्त हैं और प्रत्येक का अध्ययन, निरीक्षण आदि नितांत असम्भव है। परंतु अनन्त वनस्पति भी कुछ वर्गों में विभक्त हो जाने से अध्ययन के योग्य हो जाती हैं, क्योंकि एक वर्ग का प्रत्येक सदस्य कुछ आकस्मिक गुणों में भिन्न होते हुए भी आवश्यक गुणों में सबके समान होगा। इसलिए एक के अध्ययन और निरीक्षण से सम्पूर्ण वर्ग का निश्चय ज्ञान प्राप्त हो जाता है। विज्ञान में सामान्यीकरण के लिए वर्ग ही आधार होता है। एक वर्ग के कुछ सदस्यों के विषय में जो वैज्ञानिक रीति से निष्कर्ष निकाला जायगा, वही सम्पूर्ण के लिए लागू होने से सामान्य नियम होगा। यदि हम अनुभव करें कि कुछ वृक्ष जाड़े के अंत में और कुछ जाड़े के प्रारंभ में अपने पत्तों को गिरा देते हैं तो यह केवल वनस्पति जगत् की आकस्मिक घटना नहीं है, किन्तु जाड़े और पत्ते गिरने में कारण-कार्य संबंध होने से यह अवश्यम्भावी है। इसलिए वे वृक्ष जो शीत ऋतु से पूर्व अपने पत्ते गिरा देते हैं, एक वर्ग के हैं और उनमें आवश्यक और तात्विक सवर्गीयता है। इसी प्रकार दूसरे वृक्ष भी परस्पर घनिष्ठ संबंध से जुड़े हुए हैं। प्रत्येक वर्ग अपनी सत्ता के लिए कुछ आवश्यक समान गुणों से गुंथा होता है। ये आवश्यक गुण ही प्रत्येक वर्ग के लिए सामान्य-नियमों के आधार होते हैं।

हम सारे प्राकृतिक जगत् को नियमों से बँधा हुआ और व्यवथिस्त मानते हैं। परन्तु इस अनन्त जगत् के अन्तर्गत अनेक जगत् हैं, जैसे जीव जगत्, खनिज पदार्थों का जगत्, वनस्पति जगत् इत्यादि। इन साधारण जगतों में अनेक जगत् सम्मिलित हैं, जैसे, जीव जगत् में अनेक प्रकार के जीव हैं जो प्रत्येक किसी न किसी वर्ग से संबंध रखते हैं। प्रत्येक वर्ग चाहे वह किसी विशेष आकार-प्रकारवाले जीवों का हो अथवा वनस्पतियों अथवा खनिज पदार्थों का, वह एक प्राकृतिक व्यवस्था का द्योतक है। प्रकृति ने अपनी विशाल सृष्टि को वर्गों में विभक्त करके नियमों की व्यवस्था की है। वैज्ञानिक वर्गीकरण द्वारा प्रकृति की इस व्यवस्था का आविष्कार करता है जिससे उसका ज्ञान भी व्यवस्थित और संगठित हो जाता है।

हम साधारण जीवन में भी वर्गीकरण का उपयोग करते हैं, जैसे पुस्तकालय की पुस्तकों को व्यवस्थित करने के लिए अथवा विद्यालय में छात्रों की व्यवस्था के लिए। परन्तु साधारण और वैज्ञानिक वर्गीकरण में अन्तर रहता है। १—साधारणतया हमारा उद्देश्य व्यवहारिक सफलता का पाना होता है, जैसे शब्दों को अकारादि क्रम के कोश में व्यवस्थित करना अथवा पुस्तकों में बड़ी और मूल्यवान् पुस्तकों को एक ओर रखना, छोटी और कम मूल्यवाली पुस्तकों को दूसरे वर्ग में रखना। परन्तु शब्दों का यह संकलन अथवा पुस्तकों का यह वर्गीकरण कृत्रिम है। इसमें प्राकृतिक, आवश्यक गुणों के आधार पर व्यवस्था नहीं की गई, प्रत्युत किसी व्यवहारिक उद्देश्य के लिए। २—कृत्रिम व्यवस्था में वस्तुओं की समानता के लिए हम गहराई में नहीं जाते। हम उनके प्राकृतिक स्वरूप, गुण, बनावट आदि का विचार न कर केवल अपने उद्देश्य के अनुकूल किसी गुण के आधार पर वर्गीकरण कर लेते हैं। जैसे, मनुष्यों की साधारण व्यवस्था देशों के अनुसार, रंगों के आधार पर, भाषा आदि के सहारे की जाती है। परन्तु प्रकृति ने मनुष्य जाति को जिन वर्गों में विभाजित किया है, वे ये नहीं हैं। उनमें मंगोल, सेमीटिक, आर्य, नीग्रो आदि जातियाँ हैं जिनमें बनावट आदि के अन्तर पाये जाते हैं।

विकासवाद के अनुसार प्रकृति में भिन्न वर्ग नहीं है, परन्तु सारा जीव, वनस्पति जगत् क्रमिक विकास के कारण एक दूसरे से सम्बन्ध रखता है। ये सब

एक ही वंश के आगे-पीछे होनेवाले सदस्य हैं। इसलिये वर्गीकरण-विधि का अर्थ केवल भिन्न वर्गों को परस्पर कौटुम्बिक सम्बन्ध में व्यवस्थित करना होता है। सबसे पहले कौन जीव अथवा वनस्पति उत्पन्न हुए; इसके अनन्तर कितनी शाखाओं में विकास की गति हुई और कौन सी नई श्रेणियाँ उत्पन्न हुईं और इस प्रकार आजतक कौन से भिन्न-भिन्न जीवधारी अथवा वनस्पति विकसित रूप में आविर्भूत हुए—यही वर्गीकरण का सामान्य अर्थ आजकल माना जाता है। कुछ भी हो, वर्गीकरण का अर्थ अध्ययन की जानेवाली वस्तुओं में व्यवस्था उत्पन्न करना होता है।

वर्गीकरण का साधारण नियम यह है कि सर्वप्रथम वस्तुओं का निरीक्षण और परीक्षण करना चाहिए; इसके अनन्तर उनके प्राकृतिक गुण, आकार, बनावट आदि की तुलना करनी चाहिए। तुलना से उन वस्तुओं के भेद व समानता स्पष्ट होंगे। उन वस्तुओं को जिनमें अधिक से अधिक समानता और कम से कम भेद हो एक वर्ग में रखना चाहिए। केवल ऊपरी समानता अथवा भेद के आधार पर वर्गीकरण करना उपयुक्त न होगा। इसलिए आवश्यक व आन्तरिक गुणों के आधार पर वर्ग बनाये जाते हैं। इसके बाद प्रत्येक क्षेत्र की वस्तुओं को साधारण वर्गों में विभाजित करके उन वर्गों को भी समानता और भेद के आधार पर कुछ वर्गों में बाँटा जा सकता है और इसी प्रकार क्रमानुसार अन्तिम वर्ग जिसके अन्य सम्पूर्ण वर्ग केवल भेद और उपभेद हों मिल सकता है। वस्तुओं से लेकर चरम वर्ग का आविष्कार करना यही वर्गीकरण का उद्देश्य है। इसी के द्वारा किसी विशेष क्षेत्र अथवा जगत् की सभी वस्तुएँ व्यवस्थित और परस्पर सम्बद्ध हो जाती हैं। इससे हम प्रत्येक वस्तु का स्थान प्रकृति की व्यवस्था में जान लेते हैं और उसके गुण और संबंधों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वर्गीकरण में इसीलिए क्रमशः वर्ग बनाने के लिए बल दिया जाता है।

विविध विज्ञानों में गवेषणा-पद्धति

विज्ञान के लिये 'निष्कर्ष' का महत्त्व उतना ही है जितना वैज्ञानिक पद्धति का, जिसके द्वारा उसकी गवेषणा और स्थापना की जाती है। अवश्य ही विज्ञानों में कुछ 'सत्य' अकस्मात् और अनायास मिल जाते हैं, तो भी साधारणतया गवेषक उनके मूल का पता लगाने के लिये किसी पद्धति का अनुसरण करता है। विचार के वे प्रकार जिनके द्वारा इस प्रकार की खोज की जाती हैं, विचार-विज्ञान के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में सत्य की खोज करने के लिये विचार की एक विशेष-पद्धति से काम लेता है। यद्यपि वैज्ञानिक गवेषणा की साधारण पद्धति सभी के लिये समान है, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, परन्तु वस्तु की विभिन्नता के कारण प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्र में एक विशेष गवेषणा-प्रणाली का आविष्कार करता है। हम यहाँ प्रत्येक विज्ञान की गवेषण-पद्धति का विवरण तो नहीं कर सकते, परन्तु उनके प्रधान अवयवों और प्रकारों की संक्षिप्त चर्चा करते हैं।

सबसे पहले वे विज्ञान हैं जो भौतिक पदार्थों का अध्ययन करते हैं, जैसे भौतिक विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदि। इनमें प्रत्येक वस्तु; जैसे पानी, बिजली, गैस आदि, सब का अध्ययन, इनके भौतिक स्वरूप का ज्ञान और इनके परिवर्त्तन के सामान्य नियमों का आविष्कार किया जाता है। 'विश्लेषण' इन विज्ञानों का प्रथम सोपान है। प्रत्येक भौतिक वस्तु को उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म भागों में बाँट देना और उनके मूल तत्त्वों का अलग-अलग पता लगाना, उनकी नाप, तोल और भिन्न-भिन्न दशा और क्रियाओं की खोज करना, यही इनका ध्येय होता है। भौतिक विज्ञानों ने सृष्टि के अनेकानेक पदार्थों का इसी विश्लेषण-पद्धति से अध्ययन करके उनके स्वरूप, आकार-प्रकार, परिवर्त्तन, व्यवहार आदि का निश्चय किया है। इनमें गणित की प्रधानता रहती है; इसलिये भार, आयतन, क्षेत्रफल, संख्या, समय, स्थान आदि की विशेष नाप-जोख रक्खी जाती है। इनका ठीक-ठीक निरीक्षण करने के लिये प्रयोगशाला और प्रयोगों का

उपयोग किया जाता है। इसी से इस सारी गवेषणा-पद्धति का नाम ही प्रयोग-शाला-पद्धति पड़ गया है। प्रयोग के द्वारा किसी भी सम्भव प्राकृतिक घटना को लेकर प्रयागशाला में उसको कृत्रिम रूप से उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाता है और उस घटना की परिस्थितियों को ठीक समझने का उद्योग किया जाता है। इस पद्धति का एक अच्छा उदाहरण हमारे देश में 'कृत्रिम वर्षा' करने का प्रयत्न है। इस प्रयोग में वर्षा की प्राकृतिक घटना को प्रयोगशाला में उत्पन्न किया जा रहा है जहाँ पर सभी परिस्थितियों का ठीक अध्ययन किया जा सकता है।

यह विज्ञान की विश्लेषण-गणित-प्रयोग-प्रधान गवेषणा पद्धति है। इसके द्वारा हम निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। भौतिक विज्ञानों की वर्त्तमान खाज का आधार यही प्रणाली है। यद्यपि इसका चेत्र सीमित है, तो भी इसका उपयोग जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान के चेत्र में भी किया जा रहा है। जैसे, जीवित पदार्थों का विश्लेषण, रुधिर, हृदय की गति का नाप, शरीर के स्वास्थ्य और भार में सम्बन्ध, श्वाँस की प्रति मिनट गिनती, आदि बहुत-सी खोज इस गवेषणा प्रणाली के फल हैं। स्वस्थ शरीर में भिन्न-भिन्न तत्त्वों की नाप-तोल से अनेकों रोगों के निदान किये जाते हैं और खून, मूत्र आदि की परीक्षा की जाती है। आँख के अध्ययन में भी इसी का उपयोग किया जाता है। मनोविज्ञान में आजकल बुद्धि की नाप-तोल, स्मृति, कल्पना-शक्ति, सीखने की शक्ति आदि का परिमाण इसी से निश्चित किया गया है। जहाँ कहीं विश्लेषण और किसी घटना पर नियंत्रण कठिन होता है, वहाँ इस पद्धति से काम नहीं लिया जा सकता।

कई विज्ञानों में कुछ घटनायें और स्थितियाँ हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं। हम इनके कारण-कार्य सम्बन्ध को समझकर इनकी वैज्ञानिक व्यवस्था करना चाहते हैं। विश्लेषण या तो असम्भव है अथवा अत्यन्त कठिन। साथ ही, इन घटनाओं के कारण न हमारे सम्मुख उपस्थित हैं और उन पर हमारा विशेष नियन्त्रण ही है। ऐसी दशा में प्रयोग-विश्लेषणात्मक पद्धति व्यर्थ होती है। खगोल, भूगोल, भूगर्भ विज्ञान आदि को लीजिये जिनमें नक्षत्रों, ग्रहों के मार्ग, गति, अयन, मैदान, पर्वत, नदी, समुद्रों का निर्माण;

वायु, समुद्री धाराओं की दशा आदि का अध्ययन किया जाता है। इन सब के लिये एक विशेष पद्धति का अनुसरण किया जाता है जिसमें कल्पना और विचारों के संश्लेषण की प्रधानता रहती है। यह पद्धति संक्षेप में इस प्रकार है: प्रत्येक घटना अथवा परिस्थिति का सावधानता के साथ निरीक्षण और उसके प्रत्येक अंग, प्रत्यंग का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है। इसके अनन्तर इनके स्वरूप और विशेष आकार-प्रकार को समझने के लिये सम्भव और प्राकृतिक कारण की कल्पना की जाती है। कल्पना को स्वीकार करके फिर दूसरी समान घटनाओं का अध्ययन और निरीक्षण किया जाता है यदि इस कल्पना और निरीक्षण में विरोध न हो तो कल्पना के सत्य होने में संदेह कम रह जाता है। परन्तु विज्ञान में एक कल्पना भी दूसरी कल्पना का विरोध नहीं कर सकती। सभी कल्पनाओं का परस्पर सामञ्जस्य होना चाहिये। अतएव इन कल्पनाओं को संश्लेषण द्वारा व्यवस्थित करके एक बृहत् सामञ्जस्य में लाया जाता है। इस समय तक अनेक विज्ञानों ने जिन सिद्धांतों की कल्पना की हैं, वे सब सूत्रबद्ध और व्यवस्थित कर दिये गये हैं और नित नये निरीक्षणों द्वारा उन काल्पनिक सिद्धांतों की पुष्टि होती जाती है। ऐसी दशा में, किसी ऐसी कल्पना से सिद्धांत का आविष्कार करना जो इस समय तक स्वीकृत सिद्धांत का विरोधी हो, कठिन होता है। अतएव इस कल्पना-सामञ्जस्य-संश्लेषण-प्रधान पद्धति के अनुसार निरीक्षण के अनन्तर घटनाओं और परिस्थितियों को समझने के लिये एक संगत कल्पना के आधार पर नवीन सिद्धांत का आविष्कार किया जाता है।

उपर्युक्त पद्धति का एक उदाहरण जीव विज्ञान में वंशानुक्रम का सिद्धांत है। इसके अनुसार पिता के कुछ गुण और माता के कुछ गुण पुत्र अथवा पुत्री तक पहुँचते हैं। किस प्रकार पहुँचते हैं? इसकी कल्पना वैज्ञानिकों ने की है। यह कल्पना है कि जिन उत्पादक जीवाणुओं से सन्तान का जन्म होता है, उनमें अत्यंत सूक्ष्म जीवित कण रहते हैं और प्रत्येक कण एक माता-पिता के गुण का वहन करने वाला होता है। ये कण बाहरी वातावरण के प्रभाव से नहीं बदलते। इसलिये पैतृक गुण पुत्र तक पहुँच पाते हैं। यह सिद्धात अब तक खोजी गई और स्वीकृत कल्पनाओं के अनुकूल होने के कारण स्वीकार किया जाता है।

यदि कोई ऐसी नवीन कल्पना उपस्थित की जाये जो हमारे व्यवस्थित ज्ञान का विरोध करे तो उसे हम या तो असत्य समझें, या, यदि वह कल्पना निराधार नहीं है, तो उसके आगे परीक्षा की जाये। यदि हमारे निरीक्षण और अन्य परिस्थितियाँ उसी कल्पना के अधिक अनुकूल हों तो हम अपने सम्पूर्ण वैज्ञानिक ज्ञान की फिर से व्यवस्था करने को बाध्य होते हैं। हमारे समय में रूस के एक जीव-विज्ञान-वेत्ता ने पुराने वंशानुक्रम सिद्धांत के विरोधी एक सिद्धांत की कल्पना की है, जिसके अनुसार परिस्थिति के अनुकूल, जीवित वस्तुओं के स्वभाव में भी भारी परिवर्त्तन उपस्थित हो सकता है। अभी यह सिद्धांत पूर्णरूप से स्वीकृत नहीं हो सका है। परन्तु वैज्ञानिक-विधि जिससे इसकी गवेषणा और स्थापना हुई है, वह कल्पना-सामञ्जस्य और संश्लेषण प्रधान ही है।

समाज-विज्ञानों में वस्तु की भिन्नता के कारण एक भिन्न पद्धति का अनुसरण किया जाता है। अधिकतर समाज-विज्ञानों का स्वरूप ऐतिहासिक होता है, अर्थात्, एक स्तर और विकास-क्रम के अनन्तर दूसरे स्तर और विकास क्रम का आविर्भाव कैसे हुआ? यही इनकी मुख्य समस्या है। कला, संस्कृति, साहित्य, धर्म, सामाजिक संस्थायें, रूढ़ियाँ, भाषा आदि के अध्ययन में इसी ऐतिहासिक पद्धति से काम लिया जाता है। विज्ञान-वेत्ता एक ही समय में पाई जाने वाली कला, मूर्ति, मन्दिर, सिक्के और उस युग के अनेक चिन्हों, ग्रंथों तथा भग्नावशेषों का अध्ययन करता है। ग्रंथों और ग्रंथकारों, उस युग की ज्ञात घटनाओं और प्रसिद्ध पुरुषों, आख्यानों आदि का संग्रह करके उस युग के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन की कल्पना करता है; जन-समाज की रुचि, प्रवृत्ति, धारणा और मानसिक दशाओं का चित्रण करता है। इसके अनन्तर घटनाओं का प्रभाव, विकास, क्रांति, आन्दोलन तथा प्रतिक्रियाओं का अध्ययन तथा नवीन युग के आगमन की सूचना आदि की कल्पना करता है। इस प्रकार एक के बाद एक युगों के विकास और आविर्भाव के क्रम की स्थापना की जाती है। इसका नाम इतिहास है। इस इतिहास और क्रम-स्थापना की प्रणाली को जहाँ कहीं मानव सम्बंधी गवेषणा करनी होती है, स्वीकार किया जाता है। दर्शन शास्त्र, राजनीति शास्त्र तथा दूसरे मानव शास्त्र इसी ऐतिहासिक पद्धति को मानते हैं।

इस पद्धति में कल्पना और सामञ्जस्य से तो काम लिया जाता है, परन्तु प्रधानता इसमें क्रम-विकास के अध्ययन की रहती है। एक युग के अनन्तर दूसरे युग का आविर्भाव किन कारणों से हुआ? समाज के वाह्य और आंतरिक स्तरों पर कौन सी घटनाएँ और शक्तियाँ काम कर रही थीं जिनके द्वारा युगांतर उपस्थित हुआ—यह इस पद्धति का मुख्य प्रश्न है। इन शक्तियों की कल्पना के लिए ऐतिहासिक सामग्री का अध्ययन इस प्रणाली का प्रधान अंग है। पूर्वापर सम्बंध, कार्य-कारण सम्बंध, क्रमिक सम्बंध के निश्चय के लिए विज्ञान-वेत्ता समीक्षा से काम लेता है। एक युग के निर्माण के लिए उस युग की कला, इतिहास, धर्म, साहित्य, संस्कृति का समन्वय करता है। यदि कोई वस्तु इस समन्वय के विपरीत उतरती है तो उसे त्याग देता है। सामाजिक जीवन अनेक धाराओं से मिलकर बनता है। वह इन धाराओं की समष्टि, इनके उत्थान-पतन, दिशा और सामर्थ्य का अध्ययन करता है और इस सबके अनन्तर सतत विकासशील, जटिल सामाजिक जीवन के निरन्तर इतिहास की स्थापना करता है।

अर्थशास्त्र, राजनीति आदि कुछ ऐसे सामाजिक विज्ञान भी हैं जिनमें पुरातन की अपेक्षा वर्त्तमान का अध्ययन करते हैं। अतएव इनमें, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टिकोण को छोड़ा नहीं जा सकता, हम केवल साधारण वैज्ञानिक पद्धति से काम लेते हैं। किसी एक आर्थिक घटना अथवा परिस्थिति को लेकर हम उसका सूक्ष्म रूप से विश्लेषण करते हैं, और प्रत्येक आवर्त्तक विभाग के कारण का पता लगाते हैं। जैसे, मूल्य की कमी या वृद्धि, व्यापार का बढ़ना-घटना, गरीबी, जन-संख्या, रोग, अशिक्षा आदि किसी घटना के अन्तर्गत परिस्थितियों का पृथक्करण और प्रत्येक के कारण का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन करना होता है। यदि प्रत्येक का पृथक् कारण पता लग जाये तो सबको सम्मिलित कर सबका फल यदि वास्तविक फल के अनुकूल और समान है तो हमारी गवेषणा सफल मानी जाती है। यदि अन्तर हो तो फिर से विश्लेषण और पृथक् परिस्थिति के कारणों की खोज प्रारम्भ की जाती है।

इन विज्ञानों में समाज की मानसिक शक्तियों, रुचि, घृणा रूढ़ियों आदि का भी हाथ रहता है। इनका निश्चय करने के लिए आँकड़ों का प्रयोग किया

जाता है। एक समय और दूसरे समय, एक स्थान और दूसरे स्थान के आँकड़ों की तुलना से अनेक नियमों का स्पष्टीकरण होता है। एक व्यवसाय उन्नति कर रहा है अथवा नहीं, पूँजी किस दिशा में जा रही है; समाज का जीवन स्तर उठ रहा है अथवा गिर रहा है; इत्यादि सामाजिक घटनाओं की प्रगति और दिशा जानने के लिए इन आँकड़ों की तुलना महत्त्वपूर्ण होती है। इन गवेषणाओं में आँकड़ों का सही होना अत्यावश्यक है, क्योंकि ये ही निष्कर्षों का आधार होते हैं।

परीक्षण की समस्या

विचार-विज्ञान के लिए दो प्रश्न हैं : १—सत्य का अनुसन्धान, २—सत्य का परीक्षण । सत्य का अनुसन्धान विचार द्वारा किया जाता है । हम पहले प्राकृतिक घटनाओं का निरीक्षण करते हैं और इसके पश्चात् अनेक घटनाओं में एक सामान्य तत्व की कल्पना करते हैं । फिर, कुछ प्रमाणों द्वारा कल्पना की स्थापना वैज्ञानिक नियम के रूप में की जाती है । हम यह देख चुके हैं कि निरीक्षण, कल्पना अथवा स्थापना विचार की भिन्न-भिन्न शैलियाँ हैं । गवेषक इन्हीं शैलियों के उचित उपयोग से सत्य निर्णय पर पहुँचता है। परंतु सावधान पूर्वक विचार न करने से अथवा विचार के नियमों को तोड़ने से उसका निष्कर्ष असत्य रहता है । पिछले भाग में हमने निरीक्षण आदि विचारों के वैज्ञानिक स्वरूप को स्पष्ट किया है और उसके सद् उपयोग और दुरुपयोग के भेद को उपस्थित किया है । किसी वैज्ञानिक निर्णय के सत्य होने के लिए यह आवश्यक है कि जिस गवेषणा-पद्धति से अथवा जिन विचार-शैलियों से उसका आविष्कार हुआ है वह स्वयं नियमित और शुद्ध हों । परन्तु गवेषणा की पद्धति का शुद्ध होना विज्ञान में सत्य के आविष्कार के लिये आवश्यक होने पर भी पर्याप्त नहीं हैं । इसीलिये विचार-विज्ञान के इस भाग में हम 'परीक्षण की समस्या' पर विचार करते हैं ।

वैज्ञानिक निष्कर्ष की परीक्षा क्यों आवश्यक है ?

हम सत्य की खोज करने में सावधानी करते हैं । निष्कर्ष पर पहुँचने से पहले निरीक्षण किया जाता है । वैज्ञानिक निरीक्षण के नियम प्रकट करते हैं कि हम विचार के द्वारा उन घटनाओं को और उनके लक्षणों का अध्ययन करते हैं जो वस्तुतः विद्यमान हैं । हमारा निरीक्षण वस्तुसत्ता के अनुकूल होना चाहिये । परन्तु अनेक बाधाओं और मनुष्य की स्वाभाविक सीमाओं द्वारा हम अपनी रुचि और पक्षपात के अनुसार भी असत्य निरीक्षण करते हैं । इसी प्रकार सामान्य नियम की कल्पना करते समय और उस नियम

की स्थापना के अवसर पर भी मनुष्य अपनी दुर्बलताओं से प्रभावित होकर गल्ती कर सकता है। इसलिये वैज्ञानिक निष्कर्ष का परीक्षण आवश्यक हो जाता है।

यह परीक्षण दो प्रकार से होता है।

१—विचार की परस्पर संगति—विज्ञान की दृष्टि में प्रकृति एक है: विशाल प्रकृति के अनेक भाग होते हुए भी वे एक दूसरे से निश्चित, नियत संबंध रखते हैं। इसके संपूर्ण क्षेत्रों में नियमों का प्रसार है। एक छोटा बालुका का कण और दूसरा विशालकाय नक्षत्र समान नियमों से बँधकर गति करते हैं। एक घटना का प्रभाव दूसरी पर अवश्य पड़ता है। प्रकृति की एकता के कारण वैज्ञानिक एकता भी उत्पन्न होती है। विज्ञान, प्राकृतिक घटनाओं को जो हर समय और स्थान पर होती रहती हैं, सामान्य नियमों के द्वारा समझने का प्रयत्न है। बिजली की क्षणिक चमक, वर्षा, भूचाल, जल-प्रवाह, पहाड़ों का विनाश और निर्माण, पशुओं का विकास आदि अनन्त प्राकृतिक घटनायें सामान्य नियमों के अनुसार घटित होती हैं। हम यह देख चुके हैं कि यह विश्वास हमारे लिये अनिवार्य है, क्योंकि इसके बिना हमारी बुद्धि अपने चारों ओर के विश्व को समझ ही न सकेगी। यदि प्रकृति एक है तो उसका विज्ञान भी एक होगा। इसका अर्थ है कि अनेक वैज्ञानिक निष्कर्ष और सामान्य नियम एक ही विशाल ज्ञान के परस्पर संगठित भाग होते हैं।

हम मानते हैं कि कोई वैज्ञानिक निर्णय स्वतंत्र और निरपेक्ष नहीं हो सकता। वह एक विस्तृत और संगठित ज्ञान का अंग होता है। इसी से इसका सम्बंध ज्ञान के दूसरे अंगों से होगा ही। इसलिए प्रत्येक वैज्ञानिक निर्णय ज्ञान के बृहत्, संगठित समुदाय में अपना उचित स्थान अवश्य पायेगा। दूसरे निर्णयों से उसकी संगति होगी और निश्चित सम्बंध होगा। बिना निश्चित सम्बंध और संगति के, किसी निर्णय की सत्यता स्वीकार करना असम्भव है। प्रत्येक विज्ञान के लिये जिस प्रकार अपने क्षेत्र में गवेषणा करना होता है और गवेषणा के लिये प्रयुक्त विचार-शैलियों को परिमार्जित रखना आवश्यक होता है, उसी प्रकार अपने अनुसन्धानों, निर्णयों का परस्पर संगठन, सम्मिलन और संगति की स्थापना करना भी कम महत्त्व नहीं रखता। न केवल अपने ही क्षेत्र में, किन्तु विज्ञान को दूसरे विज्ञानों के सामान्य और स्वीकृत निर्णयों को भी

ध्यान में रखना होता है, जिससे उनके साथ विरोध न हो। विचार की जिन प्रणालियों द्वारा हम वैज्ञानिक निष्कर्षों का परस्पर संगठन और संगति-स्थापन करते हैं, इनका अध्ययन विचार-विज्ञान की समस्या है।

उदाहरण लीजिये : यदि हम बहुत सी बातों के निरीक्षण के उपरांत निर्णय करें कि भारतवर्ष की विदेशी नीति स्वतंत्र हैं, तो प्रश्न है कि यह निर्णय दूसरे निर्णयों के अनुकूल है अथवा नहीं, जिनको हम सत्य स्वीकार कर चुके हैं ? 'जिन देशों की विदेशी नीति स्वतंत्र होती है, वे अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में किसी शक्ति-दल की अपेक्षा न कर अपना मत स्वतंत्रता के साथ प्रकट करते हैं।' 'भारतवर्ष ने कई अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शक्ति-दलों की पर्वाह न कर स्वतंत्र मत प्रकट किया है।' ये दो निर्णय यदि हमें स्वीकृत हैं, तो इनके अनुकूल केवल एक ही निर्णय मिल सकता है कि भारतवर्ष की विदेशी नीति स्वतंत्र है। इसी प्रकार हम कह सकते हैं : 'जो देश स्वतंत्र विदेशी नीति रखना चाहता है, उसे दूसरे दलों से कोई सहायता किसी शर्त्त पर जो उस देश की राजनीति में हस्तक्षेप करें स्वीकार न करनी चाहिये।' 'भारतवर्ष ने इस प्रकार की सहायता लेना अस्वीकार किया है।' इसलिये इस देश की विदेशी नीति स्वतंत्र है।'

ऊपर के उदाहरण में हमें निष्कर्ष [भारतवर्ष की विदेशी नीति स्वतन्त्र है] इसलिए मान्य है कि वह अन्य निर्णयों के साथ संगति रखता है। इसी प्रकार हम प्रत्येक वैज्ञानिक निर्णय के सत्य की परीक्षा करते हैं। यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वस्तुओं का मूल्य गिरने से समाज को हानि होती है, तो इस कथन के सत्य को हम उस समय तक स्वीकार न करेंगे, जब तक दूसरे पुष्ट और प्रमाणित वाक्यों के साथ इसकी संगति न हो। यदि वह कहता है : वस्तुओं का मूल्य गिरने से उद्योग-धंधे कमजोर हो जाते हैं जिस कारण समाज में धन की उत्पत्ति कम हो जाती है। वस्तुओं की कम उत्पत्ति होने से समाज निर्धन होता है, इत्यादि, तो हम उसके निर्णय को मानने को तैयार हो जाते हैं। जैसा हमने ऊपर कहा है कि कोई निर्णय विज्ञान में ऐसा नहीं हो सकता जो स्वयं ही अपना प्रमाण हो, जिसके सत्य की परीक्षा के लिए दूसरे निर्णय की अपेक्षा न हो और जिसे हम केवल अधिकार, अन्धविश्वास और भावना के आधार पर स्वीकार कर सकें। वैज्ञानिक परीक्षण का एक तत्व यह है कि प्रत्येक

निर्णय सापेक्ष है और दूसरे सिद्ध और स्वीकृत निर्णयों के साथ इसकी संगति स्थापित होने पर ही इसकी सत्यता की स्थापना की जा सकती है। विचार-विज्ञान के इस भाग में हम विचार की उन शैलियों को स्पष्ट करेंगे जिनके किसी वैज्ञानिक निर्णय के सत्य की स्थापना अपेक्षित वाक्यों के साथ संगति प्रदर्शन द्वारा की जाती है।

२—विचार का उपयोग—परीक्षण का दूसरा प्रकार भी है। प्रत्येक विचार अपने तक ही सीमित नहीं रहता। उसका लगाव दूसरे विचारों के साथ रहता है; साथ ही, विचार-क्रिया के साधन भी हैं। हमारा व्यवहार किन्हीं सामान्य विचारों के अनुसार, चाहे हम जाने या न जाने, चलता है। मैं पानी पीना चाहता हूँ, क्योंकि प्यास लगने पर पानी से शांति होती है। मैं प्यासा हूँ, इसलिए पानी पीने से मुझे शांति होगी। यहि कोई सरकार बैंकों को रुपया उधार देने में कमी करने के लिए ब्याज की दर बढ़ाती है तो वह जानती है कि ब्याज की दर बढ़ने से उधार कम लिया जाता है। उधार कम लेने से व्यापारियों के पास रुपया कम रहेगा और रुपया कम रहने से वस्तुओं की माँग घट जायगी और माँग घटने से वस्तुओं का मूल्य गिर जायगा। इस प्रकार हमारा सभी व्यवहार सामान्य विचारों के अनुसार चलता है।

व्यवहार के लिए वैज्ञानिक निर्णय के उपयोग से उसका परीक्षण भी होता है। यदि हम किसी वैज्ञानिक निर्णय को मानते हैं तो उसके मानने से कुछ फल का अनुमान कर सकते हैं। यदि यह अनुमानित फल वास्तविक फल के अनुकूल बैठता है, तो इसके द्वारा वह वैज्ञानिक निर्णय सत्य मान लिया जाता है। मान लिया : हमने निर्णय किया कि पानी द्रव पदार्थ है और पानी के बर्त्तन में अथवा दो ऐसे बर्तनों में जो जुड़े हुए हैं, किसी द्रव पदार्थ के दो तल नहीं हो सकते। इसलिए यदि एक टङ्की से पानी दूसरी टङ्की अथवा नल में डाला जाये तो पानी का तल समान होने से दूसरी टङ्की अथवा नल में पानी पहली टङ्की के तल से अधिक ऊँचा नहीं उठ सकता। इस निर्णव की सत्यता का एक प्रमाण यह भी हो सकता है कि हम टङ्की जिसमें पानी की ऊँचाई १० फीट है, लें और उससे दूसरी टङ्की में पानी जाने दें जिसमें नल लगा है। यदि नल में पानी १० फीट से अधिक ऊँचा न जा सके तो ऊपर का निर्णय सत्य

सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अन्य विज्ञानों में भी अनेकों निर्णय की परीक्षा उनके व्यावहारिक उपयोग से भी हो जाती है।

कुछ वैज्ञानिक निर्णय ऐसे भी होते हैं जो चरम सत्य कहलाये जाते हैं, अर्थात् ऐसे सत्य जिनके न मानने से दूसरे निर्णय भी असत्य हो जायेंगे। इन चरम सत्यों का आविष्कार गवेषक अनेक निरीक्षणों के उपरांत करता है, और क्योंकि उनका असत्य मानना असम्भव है इसलिए हम इन्हें सत्य मानने को विवश होते हैं। परन्तु इन चरम निर्णयों के विषय में भी 'उपयोग' द्वारा सिद्ध करना सम्भव हो सकता है। इनके सत्य मानने से अनेक व्यावहारिक और वैज्ञानिक फल निकाले जा सकते हैं। यदि ये फल वास्तविक हैं तो हम उनकी सत्यता पर विश्वास करने लगते हैं। वैसे तो जीव-विकास सिद्धांत अब सर्वमान्य है। परन्तु इसकी सत्यता का प्रमाण इसके उपयोग द्वारा हुआ है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसको सत्य मानने से, हमारे अन्य निर्णय समझ में आ जाते हैं और ज्यों-ज्यों इसका उपयोग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इस पर हमारा विश्वास भी बढ़ता जाता है। अतः वैज्ञानिक निर्णयों का उपयोग भी उनके सत्य को स्थापित करने का एक साधन है।

विचार-विज्ञान की समस्या—सत्य की परीक्षा के लिए संगति-प्रदर्शन और उपयोग आवश्यक है। जिस वाक्य की सत्यता की परीक्षा की जाती है, उसे हम निष्कर्ष अथवा निर्णय कहेंगे। जिन वाक्यों के साथ उसकी संगति दिखाई जाती है, उन्हें हम आधार-वाक्य करेंगे। आधार-वाक्य और निष्कर्ष की संगति उसके सत्य की कसौटी है। यह संगति वास्तविक होनी चाहिए, अर्थात् हमारे विचार के मूल सिद्धांतों के अनुकूल होनी उचित है। विचार के मूल-सिद्धांत स्वयं-सिद्ध; स्पष्ट और चरम-नियम हैं जिनका प्रमाण देना असंभव है; परन्तु ये स्वयं सारे प्रमाणों के आधार हैं। आधार-वाक्यों और निष्कर्ष की अन्तः संगति का मूल भी यही सिद्धांत होते हैं। आधार-वाक्य और निष्कर्ष में सम्बन्ध होना चाहिए। किसी भी वाक्यों से कोई निष्कर्ष निकालना असंगत है। यदि कहा जाये : 'रूस साम्यवादी देश है; भारतवर्ष स्वतन्त्र है; इसलिए सभी मनुष्य मर्त्य हैं।'' तो इसमें आधार-वाक्य और निष्कर्ष में कोई सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता। आधार-वाक्य वही हो सकते हैं जिनमें निष्कर्ष विद्यमान

हो और जिनसे वह निष्कर्ष निकाला जा सकता हो। अतएव दोनों में संबंध निश्चित होना चाहिए। हम विचार-क्रिया के द्वारा आधार-वाक्यों में अस्पष्ट रूप से निहित निष्कर्ष को स्पष्ट करते हैं और दोनों के सम्बन्ध की समालोचना करते हैं। यदि यह सम्बन्ध अ-वास्तविक अथवा मूल-सिद्धांतों का विरोधी, अस्पष्ट और असंगत है, तो हमारा निष्कर्ष भी असत्य और अमान्य होगा। विचार-विज्ञान की मुख्य समस्या आधार-वाक्यों और निष्कर्ष के सम्बन्ध के स्वरूप का पता लगाना, उसके सत्यासत्य का निर्णय करना है।

आधार-वाक्य और उसका निष्कर्ष मिलकर विचार-क्रिया की एक इकाई बनाते हैं। इस इकाई को हम युक्ति अथवा तर्क कह सकते हैं। युक्ति अथवा तर्क हमारे विचार का साधारण ढङ्ग है। किसी निष्कर्ष को सत्य सिद्ध करने के लिए हम अनेक आधार-वाक्य खोज निकालते हैं, और बहुधा ये आधार-वाक्य असम्बद्ध, अविचार-पूर्ण, अस्पष्ट और असंगत होते हैं। स्वार्थ अथवा अपनी धारणाओं के वश होकर हम अनेक असत्य युक्तियों का प्रयोग करते हैं और सत्य के स्वरूप की, जाने या अनजाने, अवहेलना करके, मनचाहा निष्कर्ष निकाल बैठते हैं। विचार-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम सत्य और असत्य युक्तियों के अंतर को, विचार के मूल-सिद्धांतों की सहायता से, समझ सकें।

अपने अध्ययन के इस भाग में, हमें अनेकों युक्तियों की आकृति और उनके नियमों की समालोचना करनी है। इसके अतिरिक्त, कुछ ऐसी विचार की क्रियाएँ हैं जिनका उपयोग विचार और युक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये होता है जैसे, परिभाषा, विभाजन आदि। यद्यपि असत्य के अगणित स्वरूप हैं, तो भी साधारण प्रसिद्ध स्वरूपों को ज्ञान प्राप्त करना विचार-विज्ञान के लिए आवश्यक है। इस प्रकार हमारा सम्पूर्ण अध्ययन, युक्तियों की समालोचना, सहायक विधियों का स्पष्टीकरण और असत्य हेतुओं के स्वरूप ज्ञान के लिए है। इस भाग को हम निगमन भी कहते हैं, क्योंकि निष्कर्ष की संगति सिद्ध करने के लिए हम सामान्य वाक्यों का प्रयोग करते हैं। इन्हीं के साथ संगति स्पष्ट की जाती है। जहाँ हम सामान्य वाक्य की खोज निरीक्षण आदि के आधार पर करते हैं, वहाँ हम आगमन विचार का उपयोग करते हैं। इसका प्रयोग 'अन्वेषण' के लिए विशेषतः किया जाता है।

भाषा और विचार

विचार आत्मा है, भाषा उसका शरीर है। भाषा लिखित अथवा बोले जाने वाले चिन्हों से बनती है। गूँगे लोग और असभ्य समाज प्राकृतिक चिन्हों का प्रयोग करते हैं। इन्हीं के द्वारा मनुष्य अपने भाव, विचार, इच्छा, आज्ञा, विनय, आश्चर्य आदि को प्रकट करते हैं। यहाँ हमारा सम्बंध विचार और भाषा से है। विचार मानसिक क्रिया है। यह बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न है। इस क्रिया का व्यक्त आधार शब्द हैं। प्रत्येक शब्द अथवा वाक्य एक विचार-धारा को व्यक्त करता है। शब्दों के द्वारा विचार का आदान-प्रदान, संरक्षण, प्रसार और विकास भी होता है। विचार के विकास के साथ भाषा का विकास भी होता है। यह कहना तो कठिन है कि भाषा के बिना विचार सम्भव नहीं, क्योंकि विचार की उत्पत्ति से पूर्व शब्द नहीं होता; कभी-कभी विचार होते हुए भी शब्द नहीं मिलते। परन्तु विचार बिना भाषा के जीवित नहीं रह सकता। विचार भाषा को जन्म देता है; उसे सार्थक और सफल बनाता है। भाषा के बिना विचार अव्यक्त, अस्पष्ट, अग्राह्य है, और, बिना विचार के भाषा निष्प्राण और निरर्थक है।

विचार-विज्ञान में भाषा के अध्ययन का महत्त्व इसलिये है कि स्पष्ट विचार के लिये स्पष्ट भाषा का साधन आवश्यक है। भाषा-विज्ञान शब्दों की उत्पत्ति, विकास, विस्तार, विलय तथा भाषा संबंधी अन्य प्रश्नों पर विचार करता है। व्याकरण शब्दों और वाक्यों के साधु और असाधु प्रयोगों के लिये नियम बनाता है। हमारा दृष्टिकोण इनसे भिन्न है। भाषा के अस्पष्ट, क्लिष्ट और अशुद्ध प्रयोग से विचार भी असत्य और अस्पष्ट हो सकता है; इसलिये स्पष्ट और सत्य विचार के लिये भाषा, शब्द और वाक्यों के वे स्वरूप जो हमें मान्य हैं और जो हमें मान्य नहीं, केवल इनका अध्ययन करना हमारा अभिप्राय है। युक्ति और प्रमाण, शब्दों और वाक्यों के अशुद्ध प्रयोग से असत्य हो जाते हैं। इसलिये विचार-विज्ञान विचार को विकृत बनाने वाले और, साथ ही, उसको

स्पष्ट और सत्य रखने वाले, शब्दों और वाक्यों के प्रयोग को समझना आवश्यक मानता है। इस परिच्छेद में हम विचार के उपयुक्त भाषा के कुछ प्रयोगों का उल्लेख करेंगे।

विचार की छोटी से छोटी इकाई वाक्य है, शब्द नहीं। हम अपना अभिप्राय प्रकट करने के लिए वाक्य का प्रयोग करते हैं जिसमें प्रत्येक शब्द का अलग अर्थ तो होता ही है, परन्तु उन शब्दों से मिलकर ही अभिप्राय प्रकट होता है। जहाँ कहीं एक शब्द का प्रयोग भी किया जाता है वहाँ भी वाक्य ही वस्तुतः रहता है। जैसे 'आइये', 'लाओ', 'मर गया' आदि में वस्तुतः 'आप आइये', 'पान लाओ', 'बीमार मर गया' पूरे-पूरे वाक्य हैं। जहाँ एक शब्द का प्रयोग वाक्य से अलग किया जाता है, वहाँ उसका अर्थ परिभाषा से निश्चित करना पड़ता है। जैसे : 'अर्थ-शास्त्र' 'माँग' 'स्वतंत्रता' इत्यादि। परंतु जहाँ कहीं शब्द का प्रयोग वाक्य में होता है, वहाँ वाक्य का अर्थ ही मुख्य रहता है, शब्द उस अर्थ को व्यक्त करने के साधन अवश्य हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे कमरे के बनाने में ईंट का प्रयोग किया जाता है। वास्तविक उद्देश्य तो वाक्य का अर्थ और कमरा है, न कि शब्द अथवा ईंट।

वाक्य अनेक प्रकार के होते हैं, क्योंकि मन के अनेक भावों और अनुभवों को प्रकट करने के लिए इनका उपयोग किया जाता है। जहाँ केवल विचार को व्यक्त करने के लिए वाक्य होता है, उस वाक्य में दो भाग रहते हैं : एक, जिसके विषय में विचार किया जाता है : उद्देश; दूसरा, जो कुछ उसके विषय में विचार किया जाता है : विधेय। जैसे : 'किसी देश की जन-संख्या की अधिकता हानिकर होती है।' "मलेरिया एक ज्वर है" "स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सैनिक शक्ति आवश्यक है।" इन वाक्यों में विचारक अपनी भावना, आज्ञा, इच्छा, प्रार्थना आदि प्रकट नहीं करता, प्रत्युत अपने विचार द्वारा जिन निष्कर्षों पर पहुँचा है, उनको प्रकट करता है। प्रत्येक निष्कर्ष में उद्देश वह भाग है जिसके विषय में निष्कर्ष निकाला गया है। यह विचार का विषय अथवा केन्द्र है। विचार शून्य के ऊपर असम्भव है। विचार किसी न किसी विषय को केन्द्र मानकर ही बढ़ सकता है। जिस वस्तु के विषय में विचार उपस्थित हो, वह उस वाक्य में उद्देश होता है। ऊपर के वाक्यों में 'किसी देश की जन-

संख्या की अधिकता", 'मलेरिया" "स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सैनिक-शक्ति" आदि उद्देश हैं। हम विचार-क्रिया में उद्देश के विषय पर कोई विशेष बात प्रस्तुत करते हैं। यह विशेष बात ही विधेय है। ऊपर के वाक्यों में "हानिकर होती है।" "एक ज्वर है", "आवश्यक है" आदि विधेय हैं।

वाक्य के उद्देश और विधेय भागों को पद कहते हैं। प्रत्येक वाक्य में जिससे विचार व्यक्त किया जाता है ये दोनों पद विद्यमान होते हैं। दोनों पदों के सम्बन्ध को प्रस्तुत करना वस्तुतः वाक्य का अभिप्राय होता है। इसलिए हम विचार के लिए उपयुक्त वाक्य को प्रस्ताव-वाक्य या तर्क-वाक्य कह सकते हैं। इसकी पहचान यह है कि हम इस प्रस्ताव-वाक्य में प्रस्तुत किये गये उद्देश-विधेय सम्बन्ध को स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति अधिक जन-संख्या को हानिकर मानता है तो दूसरा व्यक्ति अपने कारणों और प्रमाणों की सहायता से इस निष्कर्ष को खंडन कर सकता है। विचार मानसिक वस्तु है; वाक्य उसका व्यक्त स्वरूप है। परन्तु भाषा के प्रयोग में बहुधा हम वाक्य के स्वरूप से विचार-क्रिया को यथा रूप प्रकट नहीं कर पाते। जैसे: भारतवर्ष की अधिक जन-संख्या उसके दरिद्र होने का कारण है। इस प्रस्ताव-वाक्य में उद्देश 'भारतवर्ष की जन-संख्या' और विधेय 'उसके दरिद्र होने का कारण है।' यद्यपि उद्देश और विधेय पदों में भाषा की दृष्टि से कई शब्द उपस्थित हैं, परन्तु विचार की दृष्टि से कई शब्द मिलकर भी एक पद हो सकता है। यहाँ 'भारतवर्ष की जन-संख्या' एक ही पद है जिसके विषय में कुछ सोचा गया है अर्थात् 'उसके दरिद्र होने का कारण है।' इस प्रकार विचार के स्वरूप को प्रगट करने के लिए वाक्य और पदों का रूप भी स्पष्ट होना चाहिए।

ऊपर के अनुसार पद की परिभाषा निम्नलिखित होनी चाहिए: पद वह शब्द अथवा शब्दों का समुदाय है, जो किसी प्रस्ताव-वाक्य में उद्देश अथवा विधेय के रूप में उपस्थित हो सके। विचार के अनुसार पद भी अनेक प्रकार के होते हैं। इनके मुख्य प्रकार ये हैं।

वस्तु-बोधक और गुण-बोधक पद: हम बुद्धि द्वारा वस्तु और उसके गुणों का अलग-अलग ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, यद्यपि गुण वस्तु से पृथक् अपनी सत्ता नहीं रखते। जैसे: चीनी में मिठास, सफेदी, खुरदरापन आदि गुण हैं।

हम इनका अनुभव करते हैं और कहते हैं : चीनी में मिठास है अथवा चीनी मीठी होती है। परन्तु मिठास को चीनी से अलग नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार गुण का पृथक् बोध सम्भव होने पर इसका पृथक्करण सम्भव नहीं। हम अपने विचार में कभी गुण अथवा कभी वस्तु को लक्ष्य बनाते हैं : चीनी गन्ने से बनती है : चीनी का मिठास किशमिश के मिठास से अलग होता है। इन दोनों वाक्यों में से एक में विचार का केन्द्र 'चीनी' और दूसरे में 'चीनी का मिठास है'। पहले में वस्तु और दूसरे में गुण के ऊपर विचार किया गया है। वस्तु को वस्तु-बोधक और गुण को गुण बोधक पद कहा जाता है। इसी प्रकार मनुष्य, अग्नि, कविता आदि वस्तु बोधक पद हैं और मनुष्यता, गर्मी और सरसता आदि गुण बोधक।

सामान्य और विशेष पद : किसी पद से अनेक समान वस्तुओं का बोध होता है। इन अनेक वस्तुओं को एक ही पद के अन्तर्गत लानेवाला उनमें एक सामान्य गुण विद्यमान होता है। जैसे : 'मनुष्य' पद एक वर्ग का बोधक है जिसमें अनेक वस्तुएँ हैं, परन्तु ये सब 'मनुष्यता' सामान्य गुण से एक ही वर्ग के अन्तर्गत हैं। इन पदों को जिनसे सामान्य गुण द्वारा उत्पन्न एक वर्ग का बोध होता है, हम सामान्य पद कहते हैं। इसके विपरीत, वर्ग के कुछ व्यक्तियों अथवा विशिष्ट व्यक्तियों के बोधक पदों को 'विशेष' कहते हैं।

सापेक्ष और निरपेक्ष पद : दो पद 'मनुष्य' व 'पिता' लीजिये। इनमें पहला पद स्वयं अपना अर्थ रखता है। यह किसी दूसरे पद से संबंध की अपेक्षा नहीं रखता। परन्तु 'पिता' यह पद एक संबंध का नाम है। यदि हम किसी मनुष्य को 'पिता' कहते हैं तो इसलिए कि वह दूसरे व्यक्ति का, जिसे हम 'पुत्र' कहते हैं, पिता है। इसी प्रकार अनेक पद केवल संबंध का बोध कराते हैं और उनका अर्थ सम्बन्धी की अपेक्षा रखता है। ये सापेक्ष पद हैं। निरपेक्ष पद सम्बन्ध बोधक नहीं होते, परन्तु किसी सामान्य अथवा विशेष गुण का बोध उत्पन्न करते हैं।

भाव बोधक और अभाव बोधक पद : किसी गुण की सत्ता अथवा भाव का बोध करानेवाले पद को भाव बोधक और उस गुण के अभाव और अविद्यमानता का बोध करानेवाले पद को अभाव बोधक पद कहते हैं। जैसे

हिन्दू, मानव, भारतीय, दृश्य आदि भाव बोधक और अ-हिन्दू, अ-मानव, अ-भारतीय, अ-दृश्य आदि अभाव बोधक पद हैं।

विचार को विशद और स्पष्ट बनाने के लिये वाक्य और पदों का विशद और स्पष्ट बनाना आवश्यक है। इसलिये इनके भेदों का ज्ञान आवश्यक है। वाक्य में पद का प्रयोग दो रूप में किया जाता है। एक तो, प्रत्येक प्रयुक्त पद कुछ गुणों का परिचय देता है जो उस पद के लिये आवश्यक हैं, दूसरे, वह पद कुछ वस्तुओं की ओर संकेत करता है जो उस पद द्वारा जानी जाती है। कोई भी वैज्ञानिक पद निश्चित और स्पष्ट अर्थ का बोधक होता है। वह सार्थक है और उसकी सार्थकता के ये मुख्य अंग हैं: गुणों का बोध और वस्तु-संकेत अथवा निर्देश। 'मनुष्य' पद को ही लीजिये। राजनीति, इतिहास, नीति शास्त्र आदि स्थानों में जहाँ इस पद का प्रयोग होता है वहाँ इसका कुछ न कुछ अर्थ—वैज्ञानिक अर्थ—अवश्य होता है। इस पद के कथन से हम ऐसे गुणों से परिचय पाते हैं जो मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करते हैं। ये उसकी जाति के गुण हैं जो साधारण और महत्त्वपूर्ण हैं। ये गुण हैं: मनुष्य में 'जीवत्व' और 'विवेकशीलता'। इन दोनों का बोध इस पद से होता है। ये इस पद के गुण हैं। परन्तु कुछ वस्तुओं की ओर इस पद का संकेत है जिनके लिये यह पद उपयुक्त किया जाता है। सारी मनुष्य जाति इस पद से निर्दिष्ट है। यह इस पद का निर्देश है। इसी प्रकार विज्ञान में प्रयुक्त अनन्त पदों से गुणों का बोध और वस्तु-संकेत होता है। जब कभी नये पद की कल्पना की जाती है तो उसको भी गुण और निर्देश के योग्य बनाया जाता है। प्रत्येक विज्ञान का एक कार्य यह भी है कि वह उसके द्वारा प्रयुक्त पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण करे अर्थात् उन पदों के गुण और निर्देश को विशद और निश्चित बनावे।

मिल नामक एक अंग्रेज दार्शनिक के अनुसार सभी पदों में गुण और निर्देश को बताने की सामर्थ्य नहीं होती। जैसे, गुण वाचक पद केवल गुण का ही बोध कराते हैं; उनमें निर्देश की शक्ति नहीं और व्यक्ति वाचक पद केवल व्यक्ति का निर्देश करते हैं, परन्तु उस व्यक्ति के गुणों का बोध कराने के लिये असमर्थ हैं। इसके अतिरिक्त, अन्य पदों में दोनों शक्तियाँ विद्यमान होती हैं। इस सिद्धांत के विषय में काफी विवाद है जिसका महत्त्व आज केवल अध्ययन मात्र है।

गुण वाचक पदों को लीजिये। मिल के अनुसार ये पद केवल गुण का बोध कराकर समाप्त हो जाते हैं और किसी व्यक्ति का संकेत कराने में असमर्थ हैं। जैसे, मिठास अथवा सफेदी, मनुष्यता आदि गुण वाचक पद किसी वस्तु का बोध नहीं कराते जो मीठी, अथवा सफेद अथवा मनुष्य कहलाई जा सकती है। मिल का कथन यहाँ तक संगत है, क्योंकि गुण वाचक पदों का प्रयोग विशेष-कर गुणों का बोध कराने के लिये ही होता है। परन्तु यह बात हमें मान्य नहीं कि इन पदों में निर्देश शक्ति होती ही नहीं। पहले तो, गुण स्वय अपनी सत्ता नहीं रखता। वह किसी वस्तु के आश्रय पर विद्यमान है। मिठास मीठी वस्तु का गुण है; सफेदी सफेद वस्तु का, तब तो 'मिठास' पद की सार्थकता के लिये आवश्यक है कि मीठी वस्तुओं का, गौण रूप से ही सही, इस पद से निर्देश हो। निर्देश की आवश्यकता उस समय प्रतीत होने लगती है, जब हम 'गुण वाचक' पद के अर्थ को बिल्कुल स्पष्ट करना चाहते हैं, जैसे चीनी का मिठास, मुनक्के का मिठास, दूध का मिठास आदि। इस दशा में 'मिठास' पद से मीठी वस्तुओं का निर्देश होता है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक गुण वाचक पद, गुण का बोध कराने पर भी, अपने अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये वस्तु का आश्रय लेता है। जैसे, 'सौन्दर्य' पद गुण वाचक है। परन्तु प्रत्येक दशा में जहाँ इसका प्रयोग होता है, वहाँ इसका अर्थ स्त्री-सौन्दर्य, पुष्प-सौन्दर्य, कला-सौन्दर्य, काव्य-सौन्दर्य आदि अवश्य रहता है। 'सौन्दर्य' पद का अर्थ उस वस्तु के संकेत से और भी स्पष्ट होगा जिससे उसका सम्बन्ध है। केवल 'सौन्दर्य' जिसका किसी वस्तु से निर्देश नहीं हमारे लिये समझना असम्भव है। यह सम्भव हैं कि वह वस्तु सभी के लिये समान न हो, परन्तु बिना वस्तु के सम्बन्ध के किसी गुण-वाचक पद का स्वयं अर्थ होना कठिन प्रतीत होता है। जब गुण के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये वस्तु का निर्देश आवश्यक है तो हमें मानना चाहिये कि गुण वाचक पद भी गौण रूप से निर्देशक होते हैं।

मिल के अनुसार, व्यक्ति वाचक नाम 'निरर्थक चिन्ह' मात्र होते हैं, उनसे वस्तु के निर्देश के अतिरिक्त गुणों का बोध नहीं होता। यहाँ हम केवल इतना मानने को तैयार हैं कि व्यक्ति वाचक नाम, जैसे, मोहन, हरी आदि, किसी वैज्ञानिक अर्थ का बोध नहीं कराते। वैज्ञानिक पद, जैसे, साम्यवाद, राष्ट्र, अधि-

कार आदि ऐसे पद हैं जिनका अर्थ सर्व-मान्य, साधारण और आवश्यक होता है। यदि नामों का अर्थ भी इसी प्रकार हो जाये तो इनका प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। हम जिस व्यक्ति को 'हरि' नाम से पुकारते हैं, वह विशेष व्यक्ति होना चाहिये। यह ठीक है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि 'हरि' पद का कोई अर्थ ही नहीं है। सामान्य अर्थ न रहने पर भी इसका विशेष अर्थ अवश्य है जिसके बिना इसका प्रयोग असम्भव है।

१—यदि 'हरि' पद चिन्ह है तो वह अर्थ-शून्य नहीं हो सकता। चिन्ह शब्द का अर्थ ही है जो सार्थक हो। 'निरर्थक चिन्ह' यह 'वदतो व्याघात' है, ठीक उसी प्रकार जैसे यह कहना कि यह आयत गोल है।

२—बिना अर्थ के शब्द का प्रयोग असम्भव है। उस शब्द का प्रयोग करनेवाला और जिसके लिए उसका प्रयोग होता है दोनों उसके अर्थ को समझते हैं। यदि कोई 'नाम' पद के अर्थ को नहीं समझता तो उसके गुणों के द्वारा उसका अर्थ समझाया जा सकता है। अपराधी जो भगोड़े हो जाते हैं, अपने नाम को इसलिए छिपाते हैं, क्योंकि उनके नाम का अर्थ होता है।

३—बहुत से व्यक्ति वाचक नाम महत्त्वपूर्ण अर्थवाले होते हैं। जैसे, नेहरू, चर्चिल आदि। इन नामों का अर्थ सभी लोग समझते हैं। यह अर्थ वह है जो इन व्यक्तियों ने आपने जीवन में कमाया है। यह वैज्ञानिक अर्थ अर्थात् आवश्यक और साधारण अर्थ तो नहीं कहलाया जा सकता; परन्तु हम इसे 'अर्जित' अर्थ कहें तो अनुचित नहीं।

गुण और निर्देश के विषय में एक और कल्पना इस प्रकार है। यदि कुछ पदों को क्रमशः रक्खा जाये जिससे एक पद का गुण दूसरे की अपेक्षा अधिक हो, तो ज्यों-ज्यों पद के गुण में वृद्धि होती जाती है, उसके निर्देश में कमी होती जाती है। जैसे : मनुष्य, शिक्षित मनुष्य, भारतीय शिक्षित मनुष्य, राष्ट्रीयतावादी भारतीय शिक्षित मनुष्य इत्यादि में पहले पद की अपेक्षा दूसरे का गुण, दूसरे की अपेक्षा तीसरे का गुण, और इसी प्रकार, क्रमशः अधिक होता गया है, और साथ ही, दूसरे का निर्देश पहले की अपेक्षा, तीसरे का निर्देश दूसरे की अपेक्षा, और इसी प्रकार, क्रमशः कम होता गया है। मनुष्य की अपेक्षा 'शिक्षित मनुष्य' का अर्थ अधिक है, परन्तु साथ ही निर्देश कम है।

इस सिद्धान्त के अनुसार, पदों के गुण और निर्देश में विपरीत सापेक्ष सम्बन्ध रहता है : गुण के बढ़ने पर निर्देश की कमी, और निर्देश के बढ़ने पर गुण की कमी होती है।

ऊपर से सत्य प्रतीत होते हुए भी, यह सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण है।

१—गुण और निर्देश की घटत और बढ़त की नाप गणित के नियमों के अनुसार असम्भव है। यदि हम 'मनुष्य' और 'शिक्षित मनुष्य' पदों की तुलना करें तो यह निश्चय करना कठिन है कि पहले की अपेक्षा दूसरे पद का अर्थ कितना बढ़ा और निर्देश कितना घटा। साथ ही, गुण और निर्देश की तुलना १० गज और १० मन की तुलना की भाँति है। दोनों पृथक् वस्तु हैं : एक बुद्धि से समझे जानेवाला अर्थ है, दूसरी गणना के योग्य वस्तु।

२—विज्ञान में गुण का अर्थ 'आवश्यक' गुण होता है, आकस्मिक नहीं। यदि 'मनुष्य' पद में हम 'भारतीय', 'शिक्षित', 'अंधा' इत्यादि कोई विशेषण जोड़ दें, तो ऐसा करने से 'मनुष्य' पद का आवश्यक अर्थ नहीं बढ़ता। केवल विशेषण का कार्य अवश्य ही अवरोधक होता है : इससे हम पद का प्रयोग सीमित कर देते हैं। परन्तु किसी पद में किसी विशेषण को जोड़ देना उसके आवश्यक गुण में वृद्धि करना नहीं है।

३—यदि 'मनुष्य' पद के गुण में वास्तविक वृद्धि हो जाये और हम इस पद का अर्थ पहले की अपेक्षा अधिक समझने लगें, तो यह आवश्यक नहीं कि ऐसा होने से 'मनुष्य' पद का निर्देश घट जाये। जो पहले मनुष्य थे वे मनुष्य ही रह सकते हैं। यदि आज हम 'स्वतन्त्रता', 'अधिकार', 'राज यक्ष्मा', 'मलेरिया', 'सम्पत्ति' आदि वैज्ञानिक पदों का अर्थ अधिक समझते हैं और इन पदों के गुण में आज अधिक वृद्धि हुई है, तो इसके द्वारा इन पदों के निर्देश में कोई कमी नहीं हुई, प्रत्युत वृद्धि हुई है। 'राजयक्ष्मा' को ही लीजिये। आज इसके आवश्यक गुणों में वृद्धि हुई है और हमारा ज्ञान पहले की अपेक्षा अधिक है; साथ ही, हमें इस रोग की अनेक आकृतियाँ भी मालूम हुई हैं। अतः गुण की वृद्धि से निर्देश का घटना आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

४—बच्चे को नीम का वृक्ष दिखाकर कहिये, "यह पेड़ है।" इससे बच्चा 'पेड़' पद के गुण और निर्देश को समझेगा। इसके बाद दूसरे पेड़ों को जिनमें

विविध आकृति के वृक्ष सम्मिलित हों, दिखाइये। इससे बच्चे का 'पेड़' पद का ज्ञान स्पष्ट और अधिक होगा; साथ ही, उन वस्तुओं की जिनको 'पेड़' शब्द से निर्दिष्ट किया जा सकता है वृद्धि होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुण की वृद्धि के साथ निर्देश की भी वृद्धि हो सकती है।

४—यदि आज 'पेड़ों', 'खनिजों' आदि की नई वृद्धि हो जाये, मनुष्य की संख्या और भेदों में भी बढ़ोतरी हो जाये तो भी यह आवश्यक प्रतीत नहीं होता कि इस निर्देश की वृद्धि से इन पदों के अर्थ में कोई कमी होगी।

पदों के गुण और निर्देश में वृद्धि और कमी दोनों वैज्ञानिक के विकास साथ होती रहती हैं। परन्तु इनका परस्पर बढ़ने-घटने में कोई नियम और गणित के नियम प्रतीत नहीं होते।

वाक्य और उसके भेद

वाक्य में उद्देश और विधेय पदों का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। इस सम्बन्ध के कई प्रकार हैं। हम इस सम्बन्ध का विधान अथवा निषेध कर सकते हैं। जैसे, "आर्यों का मूल स्थान उत्तरी ध्रुव है", "आर्यों का मूल स्थान उत्तरी-ध्रुव नहीं है।" "भारतवर्ष की आर्थिक नीति पूँजीवादी है" "भारतवर्ष की आर्थिक नीति पूँजीवादी नहीं है।" "तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं", "जाति-पाँतिवाद हमारे लिये हितकर नहीं है।" इत्यादि। इन वाक्यों में जहाँ उद्देश्य विधेय सम्बन्ध का विधान किया गया है; उन्हें विधानात्मक वाक्य कहा जाता है; जहाँ इसका निषेध किया गया है, उन्हें निषेधात्मक वाक्य कहा जाता है।

विधान अथवा निषेध सामान्य अथवा विशेष रूप से किया जा सकता है। सामान्य विधान से तात्पर्य है कि हम सारे 'उद्देश्य' के विषय में विधान करते हैं, किसी विशेष भाग के लिये नहीं। जैसे "सब मनुष्य समान हैं।" सब भारतवासी देश प्रेमी हैं।" "सब धातु ताप से पिघल जाती हैं।", "सब नेता अच्छे वक्ता होते हैं।" सामान्य विधानात्मक वाक्य के द्वारा हम सर्व-विषयक विधान करते हैं। विज्ञान के अधिकतर नियम इस प्रकार के होते हैं।

विशेष विधान में हम उद्देश्य पद के निर्देश को सीमित कर देना चाहते हैं।

जैसे, "कुछ भारतवासी वेदों के मानने वाले हैं", "कुछ वृक्ष गर्मी के प्रारम्भ में अपने पत्ते गिरा देते हैं", "कुछ किसान मालदार हैं", "कुछ राजनीतिज्ञ सफल वक्ता होते हैं।"

इसी प्रकार निषेध भी सामान्य और विशेष के अनुसार दो प्रकार का होता है। सामान्य निषेध, जैसे : कोई मनुष्य अमर नहीं होता। कोई धर्म नीति का विरोधी नहीं होता। विशेष निषेधात्मक वाक्य, जैसे : कुछ मनुष्य सच्चे नीं होते। कुछ झीलें मीठे पानी की नहीं होतीं। कुछ पढ़े-लिखे लोग सज्जन नहींह होते इत्यादि।

विज्ञान में इन चार प्रकार के वाक्यों का इतना प्रयोग होता है कि इनके लिये, प्रयोग की सुविधा के लिये, विचार-विज्ञान कुछ चिन्हों का प्रयोग करता आया है। सामान्य विधानात्मक वाक्य में हम उद्देश्य और विधेयपद का सामान्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यदि हम उद्देश्य को 'क' और विधेय को 'ख' कहें, तो इसका साधारण स्वरूप "सब 'क' 'ख' होते हैं" होगा। इसका चिन्ह हम 'ए' मानेंगे।

विशेष-विधानात्मक वाक्य का स्वरूप, ऊपर के अनुसार, "कुछ 'क' 'ख' होते हैं" मानना चाहिये। इसका चिन्ह 'आई' है।

सामान्य निषेधात्मक वाक्य का स्वरूप "कोई क ख नहीं होते।" इसका चिन्ह 'ई' है।

विशेष निषेधात्मक वाक्य का स्वरूप "कुछ क, ख नहीं होते।" इसका चिन्ह 'ओ' है।

वाक्य के ये चार साधारण स्वरूप और चिन्ह हमारे अध्ययन के लिये आधार हैं। प्रत्येक विज्ञान इन्हीं चारों का प्रयोग अपने अध्ययन के लिये करता है। विधान और निषेध तथा सामान्य और विशेष, ये ही वाक्य में विचार को प्रस्तुत करने के साधन हो सकते हैं। हमारे सभी निष्कर्षों का स्वरूप या तो किसी वाक्य का विधान करना होता है अथवा निषेध करना। और, यह विधान अथवा निषेध 'सब' या 'कुछ' के लिये ही हो सकता है। प्रत्येक वैज्ञानिक वाक्य का 'गुण' विधान या निषेध के अतिरिक्त सम्भव नहीं और संख्या की दृष्टि से वह गुण 'सब' अथवा 'कुछ' को निर्देश करता है। इसलिये वाक्य के ये चार प्रकार मानो विचार-विज्ञान के लिये चतुःसूत्री हैं।

भाषा के प्रयोग में कभी-कभी हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि अमुक वाक्य विधानात्मक अथवा निषेधात्मक है, सामान्य अथवा विशेष है। परन्तु प्रत्येक वाक्य का वैज्ञानिक स्वरूप इन चारों के अतिरिक्त नहीं हो सकता। इसलिये हम साधारण वाक्य को वैज्ञानिक रूप देने के लिये उसका रूपांतरण करते हैं और उसके गुण और संख्या का निश्चय करके उसके साधारण स्वरूप और चिन्ह का पता लगाते हैं। उद्देश्य का पता लगाने के लिये हमें पूँछना चाहिये कि हम किसके विषय में सोच रहे हैं? विधेय के लिये, हम इसके विषय में क्या सोच रहे हैं? उद्देश्य और विधेय का निश्चय होने पर विधान और निषेध का स्थिर किया जाता है और इसके अनंतर उसके सामान्य और विशेष स्वरूप का। इस क्रिया को 'वैज्ञानिक वाक्य में रूपांतर करण' कहा जा सकता है।

कुछ वाक्य ऐसे हैं जिनके वैज्ञानिक स्वरूप का निश्चय करने में कठिनाई होती है। जैसे, वे वाक्य जिनमें 'केवल' का प्रयोग होता है। "केवल ज्ञानी ही सुखी हैं।" "केवल प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती है।" "केवल दीन ही स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।" केवल शब्द का वास्तविक तात्पर्य क्या होता है? इस शब्द का प्रयोग हम उस समय करते हैं जहाँ हमें 'रोक' लगाना आवश्यक होता है। 'सभी प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी छात्रवृत्ति पाते हैं" और 'केवल प्रथम श्रेणी के, विद्यार्थी छात्रवृत्ति पाते हैं," इन दोनों वाक्यों में अंतर है। वह यह कि पहले वाक्य में हम, बिना रोक, सभी प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों के विषय में विधान करते हैं। परन्तु दूसरे वाक्य में 'केवल' शब्द के द्वारा हम रोक लगाते हैं और यह कहना चाहते हैं कि किन विद्यार्थियों को छात्र-वृत्ति नहीं मिलती। केवल शब्द के प्रयोग से निषेध का बोध होता है अर्थात् इसके द्वारा हम कुछ व्यक्तियों को विधेय का निषेध करते हैं ऊपर के वाक्यों में "किसी ऐसे विद्यार्थी को जो प्रथम श्रेणी में नहीं है छात्रवृत्ति नहीं मिलती" हम सामान्य रूप से प्रथम श्रेणी के अतिरिक्त विद्यार्थियों का निषेध करते हैं। इसी प्रकार 'केवल ज्ञानी सुखी होते हैं' यह वाक्य सामान्य निषेधात्मक है जिसमें "कोई अ-ज्ञानी सुखी नहीं होते" अज्ञानी के सुखी होने का सामान्य निषेध किया गया है।

प्रत्येक निषेध का संबंध विधान से होता है। 'केवल' का प्रयोग करनेवाले

वाक्य में केवल निषेध सम्भव नहीं। इसलिए ऐसे वाक्यों में विधान भी किया जाता है। "केवल प्रथम श्रेणी के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती है" इस वाक्य में हम छात्र वृत्ति पानेवाले विद्यार्थियों के विषय में विधान करते हैं कि वे सब प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी होते हैं। इस प्रकार यह वाक्य विधानात्मक होने पर "सब छात्र-वृत्ति पानेवाले विद्यार्थी प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी होते हैं।" हो जायगा। इस दशा में इसका पहला विधेय इस समय उद्देश्य हो जायगा, और, पहले उद्देश्य का विरोधी यह विधेय होगा। 'केवल' से प्रारंभ होनेवाले वाक्यों का वैज्ञानिक अर्थ इस प्रकार मुख्यतः निषेधात्मक रहता है जिसमें हम ऊपर से प्रतीत होनेवाले उद्देश्य के विरोधी पद को उद्देश्य मानते हैं। परन्तु, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है, उसका स्वरूप सामान्य विधानात्मक भी हो जाता है।

दूसरा वाक्य जिसका साधारण रूप भ्रामक होता है वह है जिसमें 'सब नहीं होते' का प्रयोग होता है। जैसे, "सब हिन्दू जाति-भेद नहीं मानते" "सब निर्धन दया के पात्र नहीं होते", "सब चित्र सुन्दर नहीं होते।" इत्यादि। इन वाक्यों में वक्ता का अभिप्राय निषेध करना है। परंतु यहाँ सामान्य निषेध करना अभीष्ट नहीं। 'सब हिन्दू जाति-भेद नहीं मानते' का अर्थ यह नहीं है कि कोई हिन्दू जाति-भेद नहीं मानता, परन्तु इसका अर्थ केवल इतना ही है कि 'कुछ हिन्दू जाति भेद नहीं मानते।" इसलिए 'सब नहीं होते' इन वाक्यों को 'विशेष निषेधात्मक' वाक्य समझना चाहिए।

भाषा में अनेक शब्द ऐसे होते हैं जिनसे हम वाक्य के सामान्य अथवा विशेष होने का अनुमान कर सकते हैं। जैसे सब, 'सभी, सब कोई, सब जगह, सब समय, सर्वत्र, सर्वदा, आदि ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग विधानात्मक सामान्य वाक्यों में होता है। यदि इन शब्दों के साथ 'नहीं' भी लगा हो, तो इन्हें विशेष निषेधात्मक वाक्य समझना चाहिए। 'कोई नहीं', 'कभी नहीं', कदापि नहीं, आदि सामान्य निषेध के सूचक होते हैं 'कुछ', 'कभी-कभी', 'जहाँ-तहाँ', 'बहुधा', 'बहुत से' आदि शब्द विशेष वाक्यों का बोध कराते हैं।

वैज्ञानिक अध्ययन में ऊपर के वाक्यों के अतिरिक्त अन्य वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। ऊपर के वाक्यों में उद्देश्य-विधेय संबंध की स्थापना की जाती है। हम कहते हैं: अमुक वस्तु यह है अथवा वह है। परन्तु कहीं-कहीं हम

किसी फल का सम्बन्ध उसके हेतु के साथ स्थापित करते हैं। हेतु और फल का संबंध उद्देश्य-विधेय संबंध से भिन्न होता है, क्योंकि पहले प्रकार के वाक्यों में यदि हेतु सम्पन्न होता है तो फल भी प्राप्त होता है, अथवा नहीं। इन वाक्यों का स्वरूप 'यदि' शब्द से निश्चित किया जाता है। जैसे, यदि वर्षा होती है, तो सड़कों पर कीचड़ दिखाई देती है। यदि महायुद्ध होता है, तो पूँजीवाद को लाभ होता है। यदि चुनाव में कांग्रेस की विजय होती है, तो देश में एकता की वृद्धि होती है।" इत्यादि। इन वाक्यों को हेतु फलाश्रित वाक्य कहा जाता है, क्योंकि इनमें हेतु और फल का सम्बन्ध निश्चय किया जाता है।

दूसरे प्रकार के वाक्य वे हैं जिनमें दो विकल्पों का परस्पर संबंध स्थिर किया जाता है। हेतु फलाश्रित वाक्य में हेतु के ऊपर फल का आश्रित होना जाना जाता है। परन्तु इन वैकल्पिक वाक्यों में दो विकल्पों का सम्बन्ध प्रस्तुत किया जाता है। दोनों विकल्प एक दूसरे पर आश्रित नहीं होते, प्रत्युत एक के होने और दूसरे के होने में कुछ विरोध रहता है। जैसे, या तो महायुद्ध होना चाहिये अथवा युद्ध की तैयारी के लिये हथियारों का बन्द होना चाहिये। या तो संसार में शान्ति स्थापित होगी, नहीं तो संसार की सभ्यता नष्ट हो जायगी। या तो संसार से गरीबी दूर होनी चाहिये, नहीं तो साम्यवाद का प्रचार हो जायगा। इत्यादि। इन वाक्यों में दो विकल्पों का परस्पर विरोधसंबंध निश्चित किया जाता है।

ऊपर के दोनों वाक्यों को सापेक्ष कहते हैं, क्योंकि एक में हेतु और फल, दूसरे में विकल्पों का परस्पर आश्रित सम्बन्ध दिखाया गया है। इन वाक्यों में, दोनों भाग एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। परन्तु इनसे पूर्व जिन चार प्रकार के वाक्यों का वर्णन किया है, वे सब निरपेक्ष वाक्य कहलाते हैं। उद्देश्य और विधेय दोनों पद स्वतंत्र होते हैं। केवल इन वाक्यों में इनका निरपेक्ष संबंध स्थिर किया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह निरपेक्ष और सापेक्ष भेद महत्त्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हम अधिकतर निरपेक्ष और सापेक्ष वाक्यों का परस्पर रूपांतरण कर सकते हैं।

भाषा में और भी अनेक प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, कभी आज्ञा, कभी प्रार्थना, कभी इच्छा, सन्देह, भय आदि प्रकट करने के लिये। परन्तु विज्ञान का उद्देश्य केवल विचार करना है, इसलिये इन वाक्यों का प्रयोग विज्ञान में नहीं होता। परन्तु इनके विषय में दो बातें जानना आवश्यक है।

किसी सन्दिग्ध वाक्य अथवा वाक्यों से निश्चित निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं है। आज्ञा, प्रार्थना आदि के विषय में विज्ञान अपनी सम्मति प्रदान नहीं कर सकता। २—यदि इन वाक्यों का प्रयोग आवश्यक हो तो इनका रूपान्तरण करके विज्ञान को मान्य सापेक्ष अथवा निरपेक्ष वाक्य में लाना चाहिये। जैसे, "जाओ" यह आज्ञा है तो इसका वैज्ञानिक रूप "तुम जाओ, यह मेरी सर्वथा पालनीय आज्ञा है।" होगा।

वाच्य-धर्म

यदि हम कुछ विधानात्मक वाक्य लें, तो हमें मालूम होगा कि सभी वाक्यों में उद्देश्य-विधेय संबंध समान नहीं है। विधेय उद्देश्य के विषय में कुछ न कुछ बताता है, परन्तु सभी वाक्यों में सदा एक ही बात नहीं बताता। अरस्तु ने इन वाक्यों का वर्गीकरण किया और बताया कि ये वाक्य उद्देश्य-विधेय-संबंध के भिन्न होने के कारण चार प्रकार के हो सकते हैं। इस उद्देश्य-विधेय-संबंध को हम वाच्य-धर्म कहेंगे। इस प्रकार अरस्तु के अनुसार चार प्रकार के वाच्य-धर्म होते हैं।

किसी सामान्य वस्तु बोधक पद के विषय में विचार कीजिये, जैसे मनुष्य। यदि इसके विषय में हम अत्यन्त आवश्यक गुणों का विधान करें, जो गुण इस पद के अतिरिक्त और कहीं न पाये जायें, जिन गुणों से इस पद की वास्तविकता का पता लगे, तो हम इस वाच्य-धर्म अथवा उद्देश्य-विधेय संबध को 'परिभाषा' कहते हैं। परन्तु केवल यह विधान करना कि जिससे वह वस्तु का सामान्य गुण क्या है, जिससे उसकी जाति का बोध हो, तो इस वाच्य-धर्म को 'जाति' कहेंगे। जैसे, मनुष्य की परिभाषा 'चेतन जीव' है। केवल 'जीवधारी' बताना-यह इस पद की सामान्य जाति का बोध कराना है। इन गुणों के अतिरिक्त पद के अन्य आवश्यक गुणों का विधान किया जा सकता है। ये गुण आवश्यक, सर्वसाधारण होते हुए भी मुख्य नहीं माने जाते, परन्तु इनका सम्बन्ध मुख्य गुणों से होता है। इस प्रकार गुणों का विधान करना 'सहज गुण' अथवा 'स्वाभाविक गुण' कहलाता है। जैसे, मनुष्य की जाति जीवधारी है; परन्तु जीवधारी होने के नाते उसमें और भी कई स्वाभाविक गुण विद्यमान

हैं : वह मरणधर्मा है; वह इच्छावाला जीव है, इत्यादि। इसी प्रकार, 'चेतन जीव' होने के कारण, उसमें असाधारण वाक्शक्ति है, संस्कृत और सभ्य है, काव्य, चित्र आदि कला को जन्म दे सकता है। ये सहज गुण मुख्य गुणों से सम्बद्ध होने के कारण अनुमेय भी होते हैं, अर्थात् यदि हम किसी पद की परिभाषा से परिचित हैं, तो उसके अन्य सहज गुणों का अनुमान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो गुण किसी उद्देश्य के विषय में विधान किये जाते हैं, वे आकस्मिक और असम्बद्ध होते हैं। इनका उस पद की सत्ता से आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता।

ये चार वाच्य-धर्म—परिभाषा, जाति, सहज गुण और आकस्मिक गुण—चार प्रकार से उद्देश्य के सम्बन्ध में किये जानेवाले विधान हैं। किसी पद को लीजिये : उसके विषय में इन्हीं चार प्रकार से विधान किया जाता है। एक दूसरे दृष्टिकोण से, पोरफिरी नामक एक बाद के दार्शनिक ने, वाच्य-धर्म का वर्गीकरण किया। वह वाक्य में प्रयुक्त दोनों पदों को दो वर्ग मानता है। उद्देश्य एक वर्ग जिससे कुछ वस्तुओं का निर्देश होता है और विधेय दूसरा वर्ग है जो अन्य वस्तुओं का निर्देश करता है। इन वर्गों के परस्पर सम्बन्ध का विधान वाक्य में किया जाता है। इसे हम वाच्य-धर्म कहेंगे। यह सम्बन्ध इसके अनुसार पाँच प्रकार का होता है।

१—जाति अर्थात् वह सम्बन्ध जिसमें उद्देश्य-वर्ग विधेय-वर्ग के अन्तर्गत हो। जैसे, 'मनुष्य जीवधारी है' वाक्य में 'जीवधारी' वर्ग 'मनुष्य' वर्ग से अधिक विस्तृत है और 'मनुष्य' वर्ग विधेय वर्ग का भाग है। २—उपजाति वह संबंध है जिसमें किसी व्यक्ति के विशेष जाति का बोध हो। मनुष्य की सामान्य जाति तो 'जीवधारी' है। परंतु व्यक्ति जैसे, राम, श्याम आदि की विशेष जाति 'मनुष्य' है। 'राम मनुष्य है' इस वाक्य में वाच्य-धर्म 'उपजाति' कहलायेगा।

एक सामान्य जाति के अन्तर्गत अनेक उपजाति होती हैं। परन्तु प्रत्येक उपजाति दूसरी उपजाति से भिन्न भी होती है। एक दूसरे को पृथक् करने के लिए एक विशेष गुण अथवा चिह्न की आवश्यकता होती है। जैसे, ज्वर की अनेक उपजातियाँ है, परन्तु प्रत्येक उपजाति का विशेष गुण है। मलेरिया और इन्फ्लुएन्जा दोनों ज्वर हैं, परन्तु मलेरिया फिर भी इन्फ्लुएन्जा से भिन्न है।

यह भेदक विशिष्ट गुण जिसकी सहायता से डाक्टर लोग एक ही जाति की अनेक उपजातियों को अलग-अलग करते हैं, 'व्यावर्त्तक' गुण कहलाता है। प्रत्येक जाति अथवा उपजाति से जिन गुणों का सम्बन्ध होता है, उसे सहज गुण माना जाता है।

पोरफिरी के अनुसार, आकस्मिक गुण वह है जो किसी जाति अथवा उपजाति के सभी व्यक्तियों में समान रूप से विद्यमान न हो, अथवा, हो भी तो हम इसका कारण न जानते हों। आकस्मिक गुण दो प्रकार के माने जाते हैं; एक वे जो वस्तु से अलग किये जा सकते हैं—वियोज्य गुण, जैसे यह मनुष्य सफेद टोपी पहनता है। दूसरे, वे जो उस वस्तु से अलग नहीं किये जा सकते, परन्तु जिनका उस वस्तु की जाति अथवा उपजाति से कोई सम्बन्ध नहीं अथवा हमें ज्ञात नहीं कि कोई सम्बन्ध है—इन्हें अवियोज्य आकस्मिक गुण कहा गया है। जैसे: यह मनुष्य २० जनवरी सन् १६०५ में उत्पन्न हुआ था, अथवा, सोना पीला होता है। इन वाक्यों में यद्यपि गुण को उन वस्तुओं से अलग करना तो असम्भव है, परन्तु ये कोई आवश्यक जाति, उपजाति अथवा विशेष गुण नहीं माने जाते। सोना पीला होता है अवश्य, परन्तु हम यह नहीं जान पाते कि क्यों पीला होता है। यदि हम यह जान सकें, तो सोने का पीलापन उसका सहज गुण हो जायगा।

पोरफिरी ने, ऊपर से तो, केवल परिभाषा को छोड़कर अपने वाच्य-धर्मों के वर्गीकरण में, उपजाति और व्यावर्त्तक को सम्मिलित किया है, परन्तु वस्तुतः दोनों के दृष्टि कोणों में अन्तर है। पोरफिरी के अनुसार वाच्य-धर्म दो वर्गों का परस्पर सम्बन्ध है। 'वस्तु-निर्देश'—यह पदों का मुख्य धर्म है। इसलिये पदों का सम्बन्ध—उनका भेद और समानता—उन पदों के निर्देश के ऊपर ही निर्भर है। यदि उद्देश्य एक वाचक पद हो तो उसके विषय में इन्हीं पाँच प्रकार से विधान किया जा सकता है। एक वाचक अथवा व्यक्ति वाचक पद की परिभाषा असम्भव है। इसलिये पोरफिरी ने उसे स्थान नहीं दिया। यदि किसी उपजाति की परिभाषा आवश्यक हो जो उसकी जाति और व्यावर्त्तक गुणों की सहायता से की जा सकती है। अरस्तु का दृष्टिकोण है कि वाच्य-धर्म पदों के गुणों में सम्बन्ध का नाम है। ये गुण आवश्यक और आकस्मिक हो

सकते हैं। आवश्यक गुणों में मुख्यतम और सहज गुण और सामान्य गुणों के भेद से तीन प्रकार के वाच्य-धर्म हो सकते हैं और आकस्मिक गुण को सम्मिलित करके कुल चार वाच्य-धर्म सम्भव हैं।

विज्ञान में वाच्य-धर्म का महत्त्व केवल विविध प्रकार के विधानों का समझना है। सभी वाक्यों में समान विधान नहीं होता। इनकी भिन्नता का ध्यान रखने से विचारों को स्पष्ट रक्खा जा सकता है।

वस्तुतः किसी वस्तु के विषय में उसमें पाये जानेवाले गुणों का विधान किया जाता है। विज्ञान का प्रयत्न इन गुणों का निश्चय करना, आविष्कार करना और उनको आवश्यक और अनावश्यक ठहराने के लिये होता है। राजनीति, अर्थ-विज्ञान, मनो-विज्ञान, भौतिक-शास्त्र आदि में विज्ञान-वेत्ता अनेक पदों और वस्तुओं के स्वरूप का निश्चय करने के लिये इनके गुणों की खोज करता है और आवश्यक तथा आकस्मिक गुणों में भेद करता है। इस दृष्टिकोण से परिभाषा, सहज गुण, सामान्य गुण आदि का भेद विशेष महत्त्व नहीं रखता। न हम, साधारणतया, इनमें भेद कर ही सकते हैं। हाँ, गणित आदि विषयों में जहाँ हमारा विचार परिभाषा से प्रारम्भ होता है, अवश्य यह भेद सम्भव और आवश्यक है। जाति, उपजाति का महत्त्व केवल इसलिये है कि इससे हम अनेक वस्तुओं और पदों का परस्पर सम्बन्ध समझ पाते हैं। इसके अतिरिक्त विज्ञान केवल गुणों के आविष्कार को अधिक महत्त्व देता है, उनके भेदों को इतना नहीं।

परिभाषा और विभाग

विचार करते समय हम सार्थक पदों का प्रयोग करते हैं। पदों का अर्थ दो प्रश्नों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। १. अमुक पद से किन आवश्यक गुणों का बोध होता है? २. यह पद किन विविध वस्तुओं का निर्देश अथवा संकेत करता है? 'मलेरिया' पद लीजिये। इससे दो गुणों का बोध होता है: (क) यह एक ज्वर है। यह मलेरिया का सामान्य गुण है जिससे इसकी जाति का बोध होता है। (ख) इस ज्वर का कारण एक विशेष मच्छर का विष है जिससे मनुष्य के रुधिर में एक विशेष विकार पैदा हो जाता है। यह इसका व्यावर्त्तक गुण है। इन दोनों (क, ख) गुणों के ज्ञान से 'मलेरिया' पद के स्वरूप का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। परन्तु हम यह भी जानना चाहते हैं कि इसके कितने रूप हो सकते हैं? कितने प्रकार से यह गुण विद्यमान पाया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर हम मलेरिया के जाने हुए प्रकार बता कर देते हैं। यों 'मलेरिया' पद हमारे लिये स्पष्ट और पूर्ण अर्थ वाला पद बन जाता है। इनमें पहले प्रश्न का उत्तर उस पद की 'परिभाषा' द्वारा दिया जाता है; दूसरे प्रश्न का उत्तर 'विभाग' द्वारा।

अर्थ शास्त्र लीजिये। इसमें सम्पत्ति, कर, व्यापार, मांग, उपज, भोग इत्यादि अनेक पद आते हैं! इसी प्रकार किसी भी विज्ञान को लीजिये। इनमें विचार करते समय अनेकानेक पदों का प्रयोग होता है। इसके अर्थों का स्पष्टीकरण परिभाषा और विभाग के द्वारा किया जाता है। स्पष्ट विचार के लिये स्पष्ट पदों का प्रयोग आवश्यक है इसलिये प्रत्येक विज्ञान आगे बढ़ने से पहले पदों की परिभाषा और विभाग करता है। कहीं कहीं तो परिभाषा इतनी आवश्यक हो जाती है कि अनेक विचारशील व्यक्ति और समितियाँ पदों के ऊपर काफी समय तक विचार और विमर्ष करते हैं। जैसे, हमारे देश के संविधान बनाते समय 'भारतीय' किसे कहें, 'जनता-हित' से क्या तात्पर्य है, 'मौलिक अधिकार' क्या और कौन कौन हैं? इन प्रश्नों पर बहुत विचार की आवश्यकता हुई। इसी प्रकार न्याय में अनेक पद जैसे 'हत्या', 'चोरी', 'आत्म रक्षा'

इत्यादि पदों का स्पष्ट अर्थ किया जाता है। संक्षेप में, जहाँ भी विचार की आवश्यकता होती है, वहाँ पदों के स्पष्टीकरण के लिये परिभाषा और विभाग का सहारा लेना होता है!

विचार विज्ञान में इसका महत्त्व इसलिये है कि हम परिभाषा और विभाग के स्वरूप का निश्चय करें; इनकी पद्धति का आविष्कार करें और सत्य और असत्य परिभाषा आदि के परीक्षण का रूप निश्चित करें। हम पहले परिभाषा लेंगे।

परिभाषा पद के स्वरूप को स्पष्ट, पूर्ण, और निश्चित करती है। पद का स्वरू पउसके सामान्य और विशेष गुणों से मिलकर बनता है। अतएव परिभाषा वह वाक्य है जिससे किसी पद के मुख्यतम, आवश्यक गुणों का बोध स्पष्ट, पूर्ण और निश्चित रूप से किया जाये। किसी पद के मुख्यतम गुण उसका जाति गत सामान्य गुण है और उसकी उपजाति का व्यावर्त्तक गुण है। जैसे: मनुष्य का जीवधारी होना उसका सामान्य जातिगत गुण है। साम्यवाद एक सामाजिक संगठन का सिद्धान्त है। हत्या एक अपराध है इत्यादि। परन्तु सामान्य गुण के अतिरिक्त प्रत्येक पद की उपजाति का एक विशेष गुण होना है। जैसे, मनुष्य विचारशील है। साम्यवाद में सारी सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण होता है और हत्या में एक मनुष्य किसी स्वार्थ से दूसरे व्यक्ति के जीवन का हरण करता है। सामान्य और विशेष अथवा जातिगत और उपजाति गत गुणों के बोध से पद का अर्थ पूर्ण और स्पष्ट हो जाता है। ऊपर के उदाहरणों में लीजिये। 'मनुष्य विचारशील जीवधारी है, साम्यवाद एक सामाजिक संगठन का सिद्धान्त है जिसके अनुसार सारी सम्पत्ति राष्ट्र की होती है'। 'हत्या एक दण्डनीय अपराध है जिसमें एक व्यक्ति स्वार्थवश दूसरे के जीवन का अपहरण करता है'। इन वाक्यों को हम 'मनुष्य' 'साम्यवाद' 'हत्या' पदों की परिभाषा कहते हैं।

साधारण रूप से वैज्ञानिक परिभाषा का यह 'सामान्य-विशेष अथवा 'जाति-उपजाति' स्वरूप होता है। इन दोनों गुणों के विधान से परिभाषा पूर्ण समझी जाती है। ये दोनों गुण पृथक् नहीं होते और उनको जोड़कर परिभाषा नहीं की जाती। परंतु उस पद के स्वभाव को स्पष्ट समझने के लिए जब हम उसका विश्लेषण करते हैं, तो उसमें दो गुण स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। ये गुण अलग न होने पर बुद्धि द्वारा अलग-अलग समझे जा सकते हैं। 'व्यक्तिगत

स्वतंत्रता' इस पद को लीजिये। इसके ऊपर विचार करके हम पहले यह निश्चय करते हैं कि इसका सामान्य गुण क्या है? हम जानते हैं कि यह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है परंतु इतने कथन से इसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि यह जन्म-सिद्ध अधिकार है अवश्य, परन्तु इसके अतिरिक्त और भी कई ऐसे अधिकार होते हैं। इस पद के अर्थ को और भी व्यक्त करने के लिए इसके स्वरूप में हम और एक गुण का आविष्कार करते हैं। वह यह कि "इस अधिकार के द्वारा मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास अपनी मनोनीत दिशा में अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार करता है।" इस विशेष गुण और सामान्य गुण के आविष्कार से 'व्यक्तिगत स्वतंत्रता' इस पद का अर्थ पूर्ण और स्पष्ट हो जाता है। "व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मनुष्य का वह जन्म-सिद्ध अधिकार है जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का विकास अपनी मनोनीत दिशा में अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के अनुसार करता है।"

जहाँ कहीं परिभाषा अपने उद्देश्य को नहीं पहुँच पाती, वह दोषयुक्त हो जाती है। विचार-विज्ञान निम्नलिखित दोषों को परिभाषा के दोष मानता है:—

१—अस्पष्टता दोष :—कठिन, अप्रचलित, पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से परिभाषा अस्पष्ट और दुरूह हो जाती है। यह असफल परिभाषा विज्ञान को मान्य नहीं। यथासम्भव परिभाषा को सरल शब्दों में प्रस्तुत करना चाहिये। अस्पष्ट परिभाषा जैसे—'कार्य प्रागभाव प्रतियोगी सत्ता का नाम है।' क्रोध एक चैत्तिक विकार को कहते हैं। इत्यादि।

२—आलंकारिक परिभाषा :—काव्य और साहित्य में रूपक, उपमा आदि अलङ्कारों का प्रयोग मन को प्रभावित करने के लिए किया जाता है। जैसे : संसार एक समुद्र है जिसमें जीवन एक नौका है; मृत्यु अनन्त निद्रा है; सच्चरित्र जीवन का सौरभ है, इत्यादि। परंतु विज्ञान में जहाँ हम पदों को स्पष्ट समझने के लिए प्रयत्न करते हैं, इन अलङ्कारों का प्रयोग अर्थ को और भी उलझा देता है। इसलिए वैज्ञानिक दृष्टि से, परिभाषा में अलंकार का प्रयोग दोष माना जाता है।

३—आत्माश्रय दोष :—जिस पद की परिभाषा की जाती है, उसके अतिरिक्त और उससे निरपेक्ष पदों का प्रयोग परिभाषा में किया जाना चाहिए।

यदि हम उसी पद का प्रयोग घुमाकर करते हैं, तो पद से अपना अर्थ स्वयं तो स्पष्ट नहीं हो सकता। इसलिए ऐसी परिभाषा निरुद्देश्य और असफल मानी जायगी। जैसे, 'मनुष्य वह है जिसमें मानवता के गुण हों।' 'पिता वह है जिसके पुत्र हो।' 'सदाचार सच्चे आचरण का नाम है।' इन परिभाषाओं में हम पद का अर्थ स्पष्ट नहीं समझ पाते, क्योंकि 'मनुष्य' और 'मानवता के गुण' दोनों पद एक ही हैं। 'सदाचार' और 'सच्चा आचरण' भी समान ही पद हैं।

४—अभावात्मक परिभाषा :—किसी पद की परिभाषा करने में उसमें विद्यमान गुणों को ही बताना चाहिए, न कि उनको जो उसमें विद्यमान नहीं है। यदि हम कहें कि मानव वह है जो पशु न हो; सभ्यता असभ्यता की विपरीत है, शान्ति केवल अशांति का निषेध है; जीवन मृत्यु का अभाव है; सुख केवल दुःख का अनुभव न होना है; इन परिभाषाओं में केवल निषेधात्मक पदों का प्रयोग हुआ है, जिससे हम यह नहीं जान पाते कि 'मानव', 'सभ्यता' आदि क्या हैं; परन्तु यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि ये क्या नहीं हैं।

५—अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष :—परिभाषा जिस पद के लिए प्रयुक्त होती है, उसके अतिरिक्त किसी अन्य पद के लिए लागू न होनी चाहिए, साथ ही उस पद को संकुचित भी न करना चाहिए। यदि 'मनुष्य' की परिभाषा केवल 'जीवधारी' की जाये, तो यह मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे जीवों के लिए लागू हो जायगी। यह परिभाषा अति व्याप्त होगी। यदि हम कहें कि 'मनुष्य' वही है जो पश्चिमी ढंग से जीवन बिताये, तो यह परिभाषा अत्यन्त संकुचित हो जायगी, क्योंकि यह सभी मनुष्यों के लिए लागू नहीं होती। एक ही परिभाषा अतिव्याप्त और अव्याप्त हो सकती है। यदि हम कहें कि भारतीय वह है जो भारत में उत्पन्न हुआ हो अथवा भारतवर्ष को प्रेम करता हो तो सम्भव है ऐसे अ-भारतीय हों जो यहाँ उत्पन्न हुए हों, और ऐसे भारतीय हों जो भारतवर्ष के बाहर उत्पन्न हुए हों।

६—व्यर्थ और अपूर्ण परिभाषा :—वस्तुतः परिभाषा के सारे दोषों का मूल यह है कि हम पद के 'सामान्य-विशेष' गुणों का प्रयोग न कर बाहर के अन्य अनावश्यक, असम्बद्ध गुणों का प्रयोग कर बैठते हैं। इसलिए सभी दोषग्रस्त परिभाषायें व्यर्थ अथवा अपूर्ण होती हैं।

परिभाषा करना एक नियम के अनुसार होता है। वह नियम है कि पद के मुख्य और आवश्यक गुणों का स्पष्ट विवरण, जिससे उसका सामान्य और विशेष स्वरूप मालूम हो जाये। जहाँ कहीं हम इनमें से किसी एक का पता न लगा पायें, वहीं परिभाषा असम्भव हो जायगी। इसलिए परिभाषा आवश्यक होते हुए भी अपने क्षेत्र में सीमित है।

(१) हम एक विशिष्ट व्यक्ति की परिभाषा नहीं कर पाते। 'मोहन', 'हरि', अथवा 'मथुरा', 'दिल्ली' आदि के सामान्य गुण तो हम बता सकेंगे कि ये मनुष्य अथवा शहर हैं। परंतु कोई एक विशेष गुण इनके विषय में पता लगाना असंभव है। यदि हम कहें कि मोहन सुन्दर मनुष्य है, तो भी हम 'सुन्दर' पद को मोहन का व्यावर्त्तक नहीं मान सकते, क्योंकि दूसरे मनुष्य 'सुन्दर' हो सकते हैं। इसी प्रकार 'दिल्ली वह शहर जो भारतवर्ष की राजधानी है।' यहाँ 'भारतवर्ष' की राजधानी मानना दिल्ली का मुख्यतम, आवश्यक और वैज्ञानिक गुण नहीं।

(२) अपने साधारण अनुभवों की परिभाषा असम्भव है। 'मीठा' एक स्वाद है। परन्तु इसकी विशेषता केवल अनुभव से की जा सकती है; उसका वर्णन शब्दों में असम्भव है। 'नीला' एक रंग है। 'पीला' एक रंग है; गर्म एक स्पर्श है, इत्यादि में इनकी विशेषता का बोध केवल अनुभव से होता है; परन्तु किन्हीं शब्दों से इनकी विशेषता को समझना और समझाना असम्भव है।

आजकल विज्ञान इन प्राथमिक और साधारण अनुभवों का विश्लेषण कर रहा है और गणित के सहारे इनके विशेष गुणों को नापा जा रहा है। जैसे, विज्ञान रंगों को प्रकाश के भिन्न-भिन्न भेद मानता है। प्रकाश एक किरणों की छोटी कणों का प्रवाह है। प्रत्येक कण की अपनी अलग लम्बाई होती है। इस प्रकार प्रत्येक रंग की कणों की अलग-अलग लम्बाइयों के द्वारा हम इनके स्वरूप का वैज्ञानिक अध्ययन आजकल करते हैं। इस प्रकार स्वरों और शब्दों के गुणों का अध्ययन उनकी लहरों की लम्बाई से किया जाता है। यद्यपि यह विज्ञान की महान् सफलता है, परन्तु इस पद्धति से वस्तुओं का गणित के अनुसार स्वरूप निश्चित होता है, उसका साधारण अनुभव गम्य स्वरूप नहीं।

व्यक्ति के व्यावर्त्तक गुणों का पता लगाने के लिए भी विज्ञान प्रयत्नशील

है । प्रत्येक व्यक्ति के हाथों की रेखा, अँगूठे का चिह्न आदि बहुत कुछ भिन्न होते हैं । परन्तु इन गुणों का व्यक्तित्व से कोई आवश्यक सम्बन्ध पता न लगने से अभी हमें मान्य नहीं ।

(३) ऐसे पदों की परिभाषा भी असम्भव है जो व्यापक हैं, जिनमें सामान्य गुण विद्यमान हैं; परन्तु वे इतने व्यापक पद हैं कि सभी जातियाँ उन्हीं की विशेष उपजातियाँ हैं । जैसे जीवन, सत्ता, समय, दिशा आदि इतने व्यापक पद हैं कि इनसे अधिक व्यापक पद मिलना असम्भव है । ये स्वयं किसी जाति की उपजाति नहीं हैं । ऐसी दशा में इनके सामान्य-विशेष गुणों का भेद कठिन है । इसलिए इसकी परिभाषा असम्भव है ।

परिभाषा को ऊपर दी गई सीमाएँ हैं । यद्यपि विज्ञान सदा प्रत्येक पद को परिभाषा के योग्य बनाने का प्रयत्न करता है, इसी में विज्ञान की सफलता, श्रेय और उत्थान है, तो भी इन सीमाओं के कारण बहुत से पदों की परिभाषा नहीं हो सकी है । ऐसी अवस्था में, विज्ञान परिभाषा न करके वर्णन का आश्रय लेता है । वर्णन के द्वारा उस पद के मुख्यतम गुण अथवा स्वभाव का तो ज्ञान नहीं हो पाता, परन्तु उसके बाह्य स्वरूप का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है । व्यक्ति का वर्णन किया जाता है । अनेक वाक्यों के प्रयोग से उसके आकार, प्रकार का चित्रण किया जाता है । साधारण अनुभव जैसे रंग स्वाद, क्रोध, भय आदि को जानने के लिए वैज्ञानिक या तो इनको गणित के द्वारा नापता है; दूसरे पदार्थों पर इनका क्या प्रभाव होता है, इसका प्रयोग करता है, अथवा शरीर के बाहरी और भीतरी भागों पर इनके प्रभाव की परीक्षा करता है । आधुनिक मनोविज्ञान मन के साधारण अनुभवों को दूसरे अनुभवों और प्रभावों के द्वारा समझने का प्रयत्न करता है । जैसे, क्रोध से शरीर, मुँह, हृदय, रुधिर, नाड़ी आदि पर, और मन के दूसरे अनुभवों पर क्या प्रभाव होता है, यह जानने से क्रोध के स्वरूप का कुछ ज्ञान हमें हो जाता है ।

विभाग : विज्ञान परिभाषा के द्वारा पद के मुख्यतम गुणों का पता लगाकर उसके स्वरूप का निश्चय करता है और विभाग से उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों और उनके सम्बन्धों का पता लगाता है । हम केवल यह जान कर ही सन्तुष्ट नहीं होते कि 'जीवधारी' 'रोग' 'दण्डनीय अपराध' 'काव्य' 'कला' 'विज्ञान'

आदि पदों का क्या अर्थ है। हम यह भी जानना चाहते हैं कि इनके विविध आकार कौन-कौन हैं। इसका अर्थ है कि हम जाति के उपजाति भेद विभाग द्वारा जानना चाहते हैं।

किसी जाति के उपजाति भेद समझना वैज्ञानिक विभाग है। एक वस्तु को हम भिन्न-भिन्न भागों में भी विश्लेषण करते हैं, इसे हम प्राकृतिक विभाग कहते हैं, जैसे शरीर को उसके अंग प्रत्यंग में बाँटना। किसी वस्तु को उसके गुणों में विश्लेषण करना, जैसे दूध को इसके द्रवत्व, मिठास, श्वेतता, आदि में, उस वस्तु का आभिधर्मिक विभाग कहलाता है। किसी पद की अन्तर्गत उपजातियों को गिन देना, जैसे पर्वत हैं आल्प्स, हिमालय, रौकी आदि, यह गणना कहलाता है। वैज्ञानिक विभाग के अनुसार जाति को उसकी उपजातियों में विभक्त किया जाता है।

उपजातियों में अपनी जाति का सामान्य गुण विद्यमान रहता है। जैसे, मलेरिया, मंथज्वर, इन्फ्लुएन्जा आदि ज्वर की उपजातियाँ हैं; इनमें ज्वर का सामान्य गुण विद्यमान है। परन्तु प्रत्येक उपजाति में एक अपना गुण जो एक उपजाति को दूसरी उपजाति को भिन्न करता है, साथ ही विद्यमान रहता है। यह इसका व्यावर्त्तक गुण है। जब एक जाति को दूसरी से पृथक् करते हैं तो इस विभाजन का आधार उसका व्यावर्त्तक गुण होता है। बिना विभाजन के आधार के वैज्ञानिक विभाग नहीं किया जाता। ज्वर का विभाजन करने में उसके भिन्न उत्पादक कारणों को आधार माना जाता है। वृक्षों को विभाजन करने में उनके जलवायु, फल, उत्पत्ति आदि के नियमों को आधार माना जाता है। साधारण विभाजन में भी जैसे विद्यार्थियों को वर्गों में, पुस्तकों को पुस्तकालय आदि में बाँटने में, उनका कुछ गुण ध्यान में रक्खा जाता है। विज्ञानवेत्ता तो वस्तुओं को वर्गों में बाँटता है। प्रत्येक वर्ग में एक सामान्य और विशेष गुण विद्यमान रहता है। प्रत्येक वर्ग को उनके सामान्य गुणों के आधार पर उनको फिर एकत्र करता है और अन्त में एक उच्चतम जाति का जिसके अन्तर्गत सभी जाति और वर्ग होते हैं आविष्कार करता है। वस्तुओं का वर्गीकरण और उनमें जाति की खोज और जाति के अन्तर्गत उपजाति का आविष्कार वस्तुतः एक ही प्रक्रिया के दो रूप हैं। विभाजन अथवा वर्गीकरण के लिए भेदक गुण का आधार आवश्यक है।

एक जाति को उपजाति में बाँटना विभाजन का पहला सोपान है। जैसे, जीवधारियों को पशुओं और वनस्पतियों में बाँटना। दोनों ही जीवधारी हैं; परन्तु पशुओं में चेतना है, वनस्पतियों में नहीं। 'चेतना' इस विभाजन का आधार है। परन्तु हम प्रत्येक उपजाति को आगे भी उपजाति में विभाजन कर सकते हैं। यह विभाजन का दूसरा सोपान है। पशुओं की अनेक जातियाँ हैं जैसे पक्षी, मछली, रेंगनेवाले पशु आदि। इसी प्रकार वनस्पतियों के अनेक भेद हैं। इन प्रत्येक भेदों को हम आगे चलकर उपजाति में बाँट सकते हैं। इस प्रकार विभाजन की क्रिया अनेक सोपान तक जा सकती है। प्रत्येक सोपान में एक जाति को किसी गुण के आधार पर अनेक उपजातियों में विभक्त किया जाता है। एक सोपान पर एक ही गुण को आधार मानना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करते, तो हमारे विभाग में कई दोष आ जाते हैं। मनुष्यों को यदि हम साम्यवादी, पूँजीवादी (राजनैतिक मत के अनुसार), हिंदू, ईसाई (धर्म के अनुसार) एशियाई, अफ्रीकन (देश के अनुसार) विभाजित करें, तो ये वर्ग परस्पर सम्मिलित होंगे, अर्थात् एक ही व्यक्ति कई वर्गों का सदस्य माना जा सकेगा। ऐसा विभाग विज्ञान के विरुद्ध है।

एक विभाग में एक से अधिक भेदक गुण अथवा विभाजक-धर्म का प्रयोग करने से 'संकर' दोष माना जाता है। इससे एक और दोष भी उत्पन्न होता है कि प्रत्येक वर्ग दूसरे से पृथक् और स्पष्ट नहीं रहता। ऊपर के वर्गों में एक ही व्यक्ति साम्यवादी, हिन्दू और एशियाई हो सकता है। वर्गों का यह एक दूसरे को आच्छादन कर परस्पर व्याप्ति दोष कहलाया जाता है। एक सोपान पर एक ही धर्म को आधार मानने से विभाग पूर्ण हो सकता है। अपूर्ण अथवा अतिपूर्ण विभाग में या तो हम जाति की उपजातियों में सभी को स्पष्ट नहीं करते अथवा ऐसी उपजातियों को सम्मिलित कर लेते हैं जो वस्तुतः उस जाति के अन्तर्गत नहीं है।

विज्ञान बहुधा एक और प्रकार के विभाजन से भी काम लेता है जिसमें ऊपर के सभी गुण विद्यमान, पर दोष नहीं रहते। एक जाति के दो भाग करना—एक जिसमें कोई विशेष गुण विद्यमान हो और दूसरा जिसमें वही गुण विद्यमान न हो—जैसे भारतीय जाति का विभाजन हिन्दू और अहिन्दू वर्गों में;

सृष्टि का चेतन और अचेतन वर्गों में; भूमि का कृषि योग्य और कृषि के अयोग्य वर्गों में; पुस्तकों का पाठ्य और अपाठ्य वर्गों में। इसके अनन्तर दूसरे सोपान पर, इन दो वर्गों में से किसी एक अथवा दोनों को दो इसी प्रकार के भाववाचक और अभाववाचक वर्गों में विभाजित करना। इस प्रकार के विभाग में संकर दोष और परस्पर व्याप्ति दोष अथवा अपूर्ण और अतिपूर्ण कोई दोष भी नहीं आते। हाँ, इसमें यह अवश्य होता है कि अभाववाचक वर्ग (अ हिन्दू, अचेतन आदि) अनिश्चित रहते हैं और कभी-कभी विभाग अनावश्यक लम्बा हो जाता है। जैसे: सृष्टि को चेतन और अचेतन भागों में बाँटना—प्रथम सोपान। चेतन को पशु और अ-पशु वर्गों में—द्वितीय सोपान। पशुओं को विवेकशील और अविवेकशील वर्गों में—तीसरा सोपान। विवेकशील को एशियाई और अन-एशियाई—चौथा सोपान। एशियाई को भारतीय और अ-भारतीय वर्गों में—पंचम सोपान। इस प्रकार सृष्टि से भारतीय वर्ग तक आने में पाँच बार विभाग की आवश्यकता होती है, जिसमें कई वर्गों का विवरण रह जाता है। साधारणतया, हम सृष्टि को पहले ही विभाग में जड़, चेतन वर्गों में बाँटते हैं और फिर जड़ और चेतन को अनेक अन्तर्गत उपजातियों में विभक्त करके पूर्ण, विस्तृत और शीघ्र विभाग करते हैं। इस प्रकार कभी-कभी साधारण विभाग इस द्विधा विभाग से अच्छा रहता है। परंतु इस द्विधा विभाजन के कई वैज्ञानिक उपयोग हैं। इसलिये इसको विज्ञान बहुधा स्वीकार करता है।

विभाग और परिभाषा दोनों का उद्देश्य वैज्ञानिक पदों का स्वरूप और विस्तार को स्पष्ट करना है। परिभाषा के लिए जाति और उपजाति का संबंध ज्ञात होना चाहिये क्योंकि सामान्य और विशेष के बिना परिभाषा न होगी। इसका अर्थ है कि परिभाषा विभाग के ऊपर आश्रित है। परन्तु विभाग करने में जाति का सामान्य और उपजातियों के व्यावर्त्तक गुण मालूम होने चाहिये। इसका अर्थ है कि विभाजन के लिए पदों की परिभाषा का ज्ञान आवश्यक है। विभाग और परिभाषा परस्पर सापेक्ष होते हैं। न केवल इतना; विभाग और परिभाषा का विकास भी साथ-साथ होता है। ज्यों-ज्यों हमें किसी पद के अर्थ का अधिकाधिक ज्ञान होता है, त्यों-त्यों उसके विविध रूप समझ में आने लगते हैं। और, इसी प्रकार जिस सीमा तक किसी पद के अनेक आकार स्पष्ट होते हैं, उसी सीमा तक उस पद के अर्थ का ज्ञान गम्भीर हो जाता है।

प्रमाण और इसके विविध आकार

कोई कही हुई बात स्वयं अपना प्रमाण नहीं होती। यदि मैं कहूँ "पृथ्वी गोल है।" तो मेरे कथन मात्र से यह सत्य होगा, यह असंगत है। इस कथन को सत्य सिद्ध करने के लिए दूसरे वाक्यों की आवश्यकता होगी। जैसे, "सभी ग्रह गोल होते हैं। पृथ्वी एक ग्रह है; इसलिए पृथ्वी गोल है।" इस प्रकार एक कथन का सत्य दूसरे कथनों पर आश्रित रहता है। अनेक कथन और वाक्य एक दूसरे से निश्चित सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्येक कथन सत्य के एक भाग को स्पष्ट करता है और अनेक मिलकर सत्य के स्वरूप को उपस्थित करते हैं। यों तो अनेक कथनों से मिलकर सत्य का स्वरूप प्रकट होता है, परन्तु हम अपनी सुविधा के लिए इनकी संख्या सीमित रखते हैं। जब कभी एक कथन की सत्यता को सिद्ध करने के लिये हम एक, दो और दो से कुछ अधिक वाक्यों का प्रयोग करते हैं, तो वाक्यों की इस सम्बद्ध योजना को हम 'प्रमाण', 'युक्ति', 'अनुमान', 'तर्क' आदि नामों से पुकारते हैं।

यद्यपि प्रमाण आदि के स्वरूप का उल्लेख पहले कई बार हो चुका है, यहाँ इसका ठीक स्थान है। प्रमाण कई वाक्यों से मिलकर बनता है जिसमें एक वाक्य निष्कर्ष और दूसरे आधार-वाक्य कहलाते हैं। आधार-वाक्य सत्य होते हैं और इनमें छिपा हुआ एक नवीन सत्य भी विद्यमान रहता है जिसको बुद्धि विचार क्रिया द्वारा (मथकर दूध से घी की भाँति) निकालती है। यहाँ समस्या यह है कि किस अथवा किन कथनों से क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है। किसी कथन से कोई निष्कर्ष निकालना (जैसे : क्योंकि आजकल वस्तुओं का मूल्य अधिक है, इसलिये पृथ्वी गोल है) पागलपन है। तब तो प्रश्न है कि निष्कर्ष निकालने के क्या नियम होने चाहियें; विचार करने के संगत सिद्धांत क्या हैं?

इस प्रश्न का उत्तर भी पहले दिया जा चुका है। यहाँ इसे स्पष्ट करने के लिये इतना जानना आवश्यक होगा कि विचार करने के लिये हमें विचार के

मूल सिद्धांतों का पालन करना चाहिये। यहाँ हमें 'निगमन' विचार क्रिया को समझना है। इसके अनुसार हम किसी निष्कर्ष के सत्य को सिद्ध करने के लिये सामान्य सत्य को आधार मानते हैं। यदि निष्कर्ष सत्य है तो वह सामान्य सत्य के अनुकूल, संगत होगा। यदि असत्य है तो वह इसके प्रतिकूल और इससे असंगत रहेगा। निगमन सामान्य सत्य की गवेषणा नहीं करता। इसकी गवेषणा के लिये आगमन विचार क्रिया की आवश्यकता होती है। गवेषणा-पद्धति को नियमित और व्यवस्थित बनाने के लिये आवश्यक प्रक्रिया का अध्ययन हम कर चुके हैं। यहाँ हमें सामान्य सत्य, जिसका आविष्कार किया जा चुका है, स्वीकार कर लेना होता है और इससे संगति रखनेवाले कथन अथवा कथनों की सत्यता इसी संगति के आधार पर करनी होती है।

सामान्य सत्य के दो रूप हमारे सम्मुख आते हैं: १—सामान्य विधानात्मक वाक्य, जैसे, सभी ग्रह गोल होते हैं जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में व्यापक विधान किया जाता है। यहाँ 'सभी ग्रह' इसके विषय में 'गोल होते हैं।' विधान किया गया है। २—सामान्य निषेधात्मक वाक्य, जैसे, कोई भौतिक पदार्थ भार-रहित नहीं होते। इस वाक्य में उद्देश्य अर्थात् 'भौतिक पदार्थ' के विषय में व्यापक निषेध 'भार-रहित नहीं होते' किया गया है। यदि निगमन का अर्थ है कि सामान्य सत्य के अनुकूल निष्कर्ष निकालना, तो इन्हीं दो प्रकार के वाक्यों को आधार-वाक्य माना जा सकता है। जो भी निष्कर्ष निकलेगा वह इन्हीं सामान्य सत्यों के अनुकूल होकर ही सत्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

इन वाक्यों पर गम्भीर दृष्टि की आवश्यकता है, जिससे निगमन प्रमाण का स्वरूप और भी स्पष्ट हो सके।

विधानात्मक सामान्य सत्य को लीजिये। 'सभी ग्रह गोल हैं' इस वाक्य में उद्देश्य पद 'ग्रह' व्यापक पद है, क्योंकि यहाँ विधान 'गोल है' किसी ग्रह विशेष या कुछ ग्रहों के विषय में नहीं है। परन्तु इस वाक्य में 'गोल' पद व्यापक नहीं है, क्योंकि यद्यपि 'सभी ग्रह गोल हैं' यह सत्य हमें स्वीकार है, परन्तु 'सभी गोल वस्तु ग्रह हैं' यह हमें मान्य नहीं। अतएव विधानात्मक सामान्य वाक्य में केवल एक ही पद—उद्देश्य—व्यापक होता है, दूसरा पद, विधेय,

व्यापक नहीं। इसलिये इस वाक्य की सामान्यता केवल सीमित है उसके उद्देश्य पद तक। इसलिये इस वाक्य से निष्कर्ष निकालते समय, इस बात पर ध्यान रखना होगा कि सामान्य-विधानात्मक वाक्य में केवल उद्देश्य पद सामान्य है, विधेय पद नहीं। इसलिये इस वाक्य के अनुकूल निष्कर्ष में हम विधेय पद को व्यापक नहीं बना सकते।

सामान्य निषेधात्मक वाक्य को लीजिये। "कोई भौतिक पदार्थ भार-रहित नहीं होते।" यहाँ हमने निषेध सम्पूर्ण उद्देश्य पद के विषय में किया है : 'कोई भौतिक पदार्थ।' जो भी भौतिक पदार्थ होते हैं, उनमें 'भार-रहित' यह विधेय विद्यमान नहीं रहता। इस वाक्य में उद्देश्य पद व्यापक है। परन्तु यह निषेध विधेय के लिये भी व्यापक है, क्योंकि जो वस्तु 'भार-रहित' होगी वह भौतिक नहीं होगी। यदि कुछ भार-रहित वस्तु भौतिक हैं, तो हमारा यह कथन कि 'कोई भौतिक पदार्थ भार-रहित नहीं होता' असत्य सिद्ध हो जायगा। इसलिये इस वाक्य में विधेय भी व्यापक पद है। इस प्रकार सामान्य निषेधात्मक वाक्य में दोनों पद व्यापक होते हैं।

इन दोनों वाक्यों के अतिरिक्त, विशेष वाक्यों को भी लीजिये, क्योंकि विचार करने में हम इनका भी प्रयोग करते हैं। विशेष विधानात्मक वाक्य में कोई पद व्यापक नहीं होता। जैसे "कुछ मनुष्य सुन्दर होते हैं" इस वाक्य में न हम सभी मनुष्यों और न सभी सुन्दर वस्तुओं पर विचार करते हैं। इस वाक्य का अभिप्राय केवल 'कुछ' मनुष्य और 'कुछ' सुन्दर वस्तुओं का उल्लेख करना है। यदि हम कहें कि 'सभी मनुष्य सुन्दर हैं' और 'सभी सुन्दर वस्तु मनुष्य होते हैं' तो यह कथन हमारे कथन "कुछ मनुष्य सुन्दर हैं" के विरुद्ध होगा। इस प्रकार इस वाक्य में कोई भी व्यापक नहीं होता।

विशेष निषेधात्मक वाक्य पर विचार कीजिये। "कुछ मनुष्य कवि नहीं होते।" इसमें उद्देश्य पद तो स्पष्ट ही व्यापक नहीं हैं, क्योंकि यहाँ 'कुछ' का उल्लेख है, सभी का नहीं। परन्तु विधेय पद 'कवि' यहाँ व्यापक है, क्योंकि हम जिन मनुष्यों के विषय में कवि होने का निषेध करते हैं, वे मनुष्य अवश्य ही कोई कवि नहीं है। यदि यहाँ 'कवि' पद व्यापक नहीं है तो इस वाक्य का अर्थ होगा कि 'कुछ मनुष्य कवि हैं।' परन्तु ऐसा करने से हमारा उद्देश्य पहले

से भिन्न हो जायगा, क्योंकि जो मनुष्य कवि हैं वे उन मनुष्यों से अलग हैं जो कवि नहीं है। दूसरे, हमारा अभिप्राय ही निषेध न रहकर विधान करना रह जायगा। इस प्रकार विशेष निषेधात्मक वाक्य में उद्देश्य पद अव्यापक परन्तु विधेय पद व्यापक होता है।

ऊपर दिये हुए व्याप्ति के नियम हमारे लिये विशेष महत्त्व रखते हैं, क्योंकि संगति का अर्थ है : निष्कर्ष का अपने आधार वाक्यों के बाहर न जाना; आधार वाक्य द्वारा जो सत्य की सीमा निश्चित की गई है, उसका उल्लंघन न करना अर्थात् जितनी व्यापकता आधार वाक्य की है, उससे अधिक व्यापक न होना। इसका सार है कि यदि आधार-वाक्यों में कोई पद व्यापक नहीं है तो इस पद को निष्कर्ष में व्यापक बनाना असंगत है। साधारण शब्दों में, पदों की सीमा 'सब' 'कुछ' इन संख्या अथवा परिमाणवाचक शब्दों से की जाती है। 'सब' यह पद की व्यापकता का चिह्न है, कुछ उसकी अव्यापकता का। यदि कोई पद किसी आधार वाक्य में व्यापक है तो उससे ऐसा निष्कर्ष निकाला जा सकता है जिसमें इसकी व्यापकता बनी रहे। परन्तु यदि आधार वाक्य में कोई पद अव्यापक है तो निष्कर्ष जिसमें उसकी व्यापकता मान ली जाये हमारे नियम के अनुसार असंगत होगा। 'कुछ' तो 'सब' के अनुकूल हो सकता है; परन्तु 'सब' 'कुछ' के अनुकूल मानना संगत नहीं। इसलिये 'सब' इससे 'कुछ' का निष्कर्ष सम्भव है, परन्तु इसका विपरीत असंगत होगा।

व्याप्ति का यह सरल नियम संगति का प्राण है और संगति सत्य विचार का सार है। इसका महत्त्व इतना अधिक है कि इसे विचार-विज्ञान का सूत्र मानना अत्युक्ति न होगी। हम जब प्रमाणों के विविध आकारों और उनके सत्यासत्य-परीक्षण पर विचार करेंगे, तो इसी नियम का उपयोग करेंगे। थोड़े शब्दों में यह नियम यों स्मरण रखना चाहिये। "अव्यापक पद को निष्कर्ष में व्यापक बनाना असंगत है" अथवा, "अव्यापक आधार से व्यापक निष्कर्ष निकालना असंगत है।"

× × ×

नीचे हम प्रमाणों के विविध आकारों पर विचार करेंगे। सबसे प्रथम सरल और फिर जटिल आकारों पर।

वाक्य-विरोध

'हाँ' और 'ना' में विरोध है; इसलिए विधान और निषेध करनेवाले वाक्यों में विरोध रहता है। सामान्य और विशेष वाक्यों में भी अन्तर रहता है, वही जो 'सब' और 'कुछ' में है। इसलिये गुण अथवा परिमाण की दृष्टि से वाक्यों में विरोध अथवा अन्तर रहता है। किसी विषय में चार स्थितियाँ सम्भव हैं। १—सामान्य विधान, जैसे : सभी किसान गरीब हैं, २—सामान्य-निषेध जैसे : कोई किसान गरीब नहीं है। ३—विशेष विधान—जैसे : कुछ किसान गरीब हैं, और ४—विशेष निषेध—जैसे : कुछ किसान गरीब नहीं हैं। इन चारों वाक्यों में उद्देश्य और विधेय समान हैं, क्योंकि हम एक ही विषय में विचार कर रहे हैं। परन्तु इन वाक्यों में संख्या, परिमाण अथवा गुण में अन्तर अथवा विरोध है। यह विरोध समान विषयक वाक्यों में होता है। विरोध की परिभाषा ही यह है कि दो ऐसे वाक्य जिनका विषय समान होने पर भी गुण अथवा परिमाण अथवा दोनों में अन्तर हो, परस्पर विरोधी हैं। "सभी किसान गरीब हैं।" "पृथ्वी चौरस नहीं है" इन वाक्यों में विरोध की सम्भावना नहीं।

वाक्यों में विरोध कम या अधिक होता है। सामान्य विधान और विशेष निषेध करनेवाले वाक्यों में अत्यन्त विरोध है। इन दोनों वाक्यों में गुण—विधान-निषेध—तथा परिमाण—सामान्य-विशेष—का अधिक से अधिक अंतर है। इसका नाम 'व्याघात' विरोध है। यह अत्यन्त विरोध सामान्य-निषेध और विशेष-विधान करनेवाले वाक्यों में भी है।

यदि दो वाक्य व्याघातक हैं तो विचार के मूल सिद्धान्त के अनुसार दोनों को हम एक साथ सत्य अथवा असत्य स्वीकार नहीं कर सकते। "सभी किसान गरीब हैं" और "कुछ किसान गरीब नहीं हैं।" ये दो बिल्कुल भिन्न बातें हैं। एक का तात्पर्य है सभी किसानों को गरीब सिद्ध करना, दूसरे का तात्पर्य है कि कुछ किसान गरीब नहीं हैं। यदि कुछ किसान निश्चय ही गरीब नहीं हैं तो 'सभी किसान गरीब हैं' यह बात निश्चय ही असत्य होगी। इसलिये दो व्याघातक वाक्यों में से यदि एक सत्य तो दूसरा असत्य, यदि एक असत्य तो दूसरा अवश्य ही सत्य होगा। हम इस व्याघात के नियम के अनुसार विचार

के द्वारा एक को सत्य स्वीकार करके दूसरे को असत्य होने का अनुमान कर सकते हैं। इस प्रकार का अनुमान तर्कसंगत है।

दूसरा विरोध सामान्य और विशेष वाक्यों में होता है। इसका नाम 'समावेश' है। व्याप्ति के नियम के अनुसार, यदि सामान्य वाक्य सत्य है, तो इससे हम विशेष की सत्यता का अनुमान कर सकते हैं। यदि 'सभी किसान गरीब हैं' यह वाक्य सत्य है तो 'कुछ किसान गरीब हैं' यह वाक्य निश्चय ही सत्य होगा। हमारे लिए पहले वाक्य को सत्य और दूसरे को असत्य मानना असंगत और असम्भव है। इसलिए सामान्य वाक्य की सत्यता से विशेष वाक्य की सत्यता का अनुमान युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य है। परन्तु इसका विपरीत ठीक नहीं है। विशेष वाक्य की सत्यता से सामान्य की सत्यता का अनुमान असंगत है, ठीक वैसे ही जैसे 'कुछ' के विषय में जानकर 'सब' के विषय में निष्कर्ष निकालना।

समावेश सम्बन्ध में, हम यदि यह जानते हों कि विशेष वाक्य असत्य है अर्थात् 'कुछ किसान गरीब हैं' यह बात सत्य नहीं है, तो सामान्य वाक्य अर्थात् सभी 'किसान गरीब हैं' यह वाक्य भी असत्य होगा। यदि 'कुछ' असत्य है तो 'सब' भी असत्य होगा। यदि एक टोकरी में 'कुछ आम खट्टे हैं' यह बात असत्य है तो हम कह सकेंगे कि 'सभी आम खट्टे हैं' यह बात भी असत्य होगी। इससे हम विशेष वाक्य की असत्यता से सामान्य की असत्यता का सही अनुमान कर सकते हैं। परन्तु यहाँ भी इससे विपरीत नियम सम्भव नहीं। यदि 'सभी मनुष्य दुष्ट होते हैं' 'सभी आम खट्टे हैं' ये वाक्य असत्य हैं तो हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि 'कुछ मनुष्य दुष्ट हैं' "कुछ आम खट्टे हैं" ये वाक्य भी असत्य होंगे।

समावेश के नियमों में, सामान्य विधान के आधार पर विशेष विधान तर्कसंगत, परन्तु इसका उल्टा संगत नहीं है। विशेष के निषेध से सामान्य का निषेध न्यायसंगत, परन्तु इसका उल्टा, अनुपयुक्त होगा।

दो सामान्य वाक्यों में विधान और निषेध होने से जो विरोध होगा, उसको 'वैपरीत्य' कहेंगे। 'सभी किसान गरीब हैं" और 'कोई किसान गरीब नहीं है" ये दो विपरीत वाक्य हैं। इनके नियमों को इस प्रकार समझना चाहिए

यदि सामान्य-विधान सत्य है, तो विशेष निषेध व्याघात के नियमानुसार असत्य होगा। परन्तु विशेष निषेध के असत्य होने से सामान्य निषेध भी असत्य रहेगा। इसलिए दो सामान्यों में से एक के सत्य होने पर दूसरे को असत्य ठहराना बुद्धिगम्य है। साथ ही, यदि सामान्यों में एक भी असत्य है तो दूसरे को सत्य मान लेना असंगत है। कारण, यदि सामान्य विधान असत्य है तो विशेष निषेध सत्य होगा, परन्तु विशेष निषेध के सत्य होने से सामान्य निषेध को सत्य मानना असंगत है।

दो विशेष वाक्यों के विरोध को 'अनुवैपरीत्य' कहना चाहिए। दो अनुविपरीत वाक्यों (कुछ किसान गरीब हैं, कुछ किसान गरीब नहीं हैं) के नियम इस प्रकार होंगे। यदि विशेष-विधान वाक्य सत्य है तो सामान्य निषेध (व्याघात के नियमानुसार) असत्य होगा। परन्तु इसके असत्य होने से विशेष-निषेध को असत्य अथवा सत्य नहीं माना जा सकता (समावेश के नियमानुसार)। इसलिए दो विशेष वाक्यों में से एक के सत्य होने पर दूसरा संदिग्ध रहेगा सत्य अथवा असत्य दोनों हो सकता है। यदि विशेष-विधान असत्य है तो इसका व्याघातक सामान्य निषेध सत्य होगा जिसके सत्य मानने से विशेष निषेध भी सत्य मानना होगा। इसलिए एक के असत्य होने पर दूसरा अवश्य सत्य होगा।

इन विरोध सम्बन्धों को प्रकट करने के लिए प्रसिद्ध विरोधी वर्ग इस प्रकार है : इस चित्र का महत्त्व केवल इतना ही है कि यह चित्र है, और इससे विरोध - नियम स्पष्ट समझे जा सकते हैं।

ए० ई०

आई० ओ०
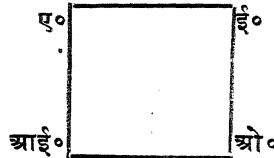
कोई व्यक्ति इस विरोध-सम्बन्ध को विचार अथवा युक्ति नहीं मानते। उनका कथन है कि दो व्याघातक, विपरीत, समाविष्ट अथवा अनुविपरीत वाक्यों में कोई निष्कर्ष अथवा आधार का स्पष्ट सम्बन्ध नहीं है। इस सम्बन्ध का महत्त्व केवल इतना ही है कि इससे हम दो समान-विषयक वाक्यों की एक-वाक्यता का निश्चय करते हैं। दो व्याघातक वाक्यों में, सत्य अथवा असत्य के विषय में, एक-वाक्यता अथवा सामञ्जस्य असम्भव है। एक के सत्य में दूसरे का

असत्य निहित है। दो विपरीत वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते, परन्तु दोनों ही असत्य हो सकते हैं। इसलिए सत्य होने में इनकी एक वाक्यता असंभव, असत्य होने में सम्भव है। एक के सत्य में दूसरे का असत्य गतार्थ हो जाता है; परन्तु एक के असत्य से दूसरे का असत्य अथवा सत्य गतार्थ नहीं होता। दो समाविष्ट वाक्यों में भी इसी प्रकार एक वाक्यता अथवा गतार्थता का संबंध निकाला जा सकता है।

विचार-विज्ञान में इस संबंध का महत्त्व एक तो इसलिये है कि हम एक वाक्य के आधार पर दूसरे विरोधी वाक्य के विषय में कुछ तर्क करते ही हैं। यह ठीक है कि हमारी विचारधारा सरल रहती है; परंतु विचार इस क्रिया में विद्यमान रहता है। दूसरे, विवाद अथवा विमर्श करते समय हम भिन्न स्थितियों को स्पष्ट रख सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्थिति को विवाद के विषय में स्पष्ट समझ कर दूसरे लोगों की स्थिति से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और उनके साथ एक वाक्यता अथवा गतार्थता का अनुमान कर सकता है।

अनन्तरानुमान

'अनुमान' शब्द का यहाँ अर्थ है 'विचार करना'। विचार के द्वारा हम किसी जाने हुये सत्य के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालते हैं अथवा किसी कथन को सत्य सिद्ध करते हैं। इस क्रिया का मूल है कि निष्कर्ष आधार की अपेक्षा अधिक व्यापक नहीं होता। संगति के इस सिद्धान्त के अनुसार, जब हम केवल एक वाक्य से कोई निष्कर्ष निकालते हैं, तो इसे अनंतरानुमान कहते हैं। दूसरे प्रकार के अनुमानों में आधार वाक्य एक से अधिक होते हैं।

अनन्तरानुमान की पहली आकृति का नाम 'परिवर्तन' है। इसके अनुसार हम ऐसे निष्कर्ष वाक्य पर पहुँचते हैं जिसमें हम विधेय के विषय में उद्देश्य की सहायता से विचार करते हैं। ऐसा करने से आधार वाक्य में दिया हुआ उद्देश्य-विधेय संबंध बदल जाता है। उदाहरण : हम मानते हैं कि 'सभी नेता अच्छे वक्ता होते हैं' 'सभी मनुष्य जीवधारी हैं' इत्यादि। इन वाक्यों में हम 'नेता' और 'मनुष्य' इन पदों के विषय में विचार प्रकट करते हैं। यदि इनके स्थान पर 'अच्छे वक्ता' अथवा 'जीवधारी' इन पदों को अपने विचार का उद्देश्य

बनायें और इनके विषय में विचार प्रकट करें तो हमारे निष्कर्ष का स्वरूप क्या होगा? विचार के मूल नियम के अनुसार 'सभी अच्छे वक्ता' अथवा 'सभी जीवधारी' के विषय में दिये हुए वाक्य के आधार पर विचार प्रकट करना असंगत है, क्योंकि ये पद आधार वाक्यों में व्यापक अथवा सर्वांशी नहीं हैं। इसलिये हमारे निष्कर्ष 'कुछ अच्छे वक्ता नेता होते हैं' 'कुछ जीवधारी मनुष्य होते हैं' हो सकते हैं।

ऊपर के अनुसार, वाक्य-परिवर्तन की क्रिया में पदों की व्यापकता अथवा अव्यापकता पर ध्यान रखना चाहिये। ऐसा न करने से हमारा निष्कर्ष असत्य और असंगत हो सकता है। हम इस बात को मानते हैं कि सभी अपराधी अपराध के बाद (हत्या चोरी आदि के पश्चात्) वहाँ से भागने का प्रयत्न करते हैं, अथवा सभी हत्यारे हत्या के लिये किसी न किसी उद्देश्य से प्रेरित होते हैं; परन्तु इन वाक्यों को आधार मान कर निम्नलिखित निष्कर्ष निकालना असंगत होगा: सभी मनुष्य जो अपराध के स्थान से भागते हैं अपराधी होते हैं, अथवा, सभी मनुष्य जिनका कोई उद्देश्य होता है, वे अपने शत्रु के हत्यारे माने जा सकते हैं। हम जानते हैं कि न्यायालय में इस प्रकार के निष्कर्ष नहीं माने जाते। कारण वही है कि वाक्य परिवर्तन करते समय जो पद प्रारम्भ में अव्यापक है, उसे निष्कर्ष में हम व्यापक नहीं बना सकते। इस नियम के अनुसार, अधिकतर सामान्य विधानात्मक का परिवर्तन केवल विशेष विधानात्मक वाक्य में होना संगत है। इस प्रकार के वाक्यों में केवल उद्देश्य पद व्यापक होता है, विधेय नहीं। अतः विधेय पद निष्कर्ष में अव्यापक रहेगा। जहाँ 'सामान्य' आधार वाक्य से 'विशेष' निष्कर्ष ही निकालना ही संगत हो, उस परिवर्तन को संकुचित अथवा सीमित परिवर्तन कहा जाता है।

सामान्य निषेध करनेवाले वाक्यों के परिवर्तन में इस 'संकोच' की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इसमें दोनों पद व्यापक होते हैं। विशेष विधान करनेवाले वाक्यों में दोनों पद अव्यापक होते हैं। इसलिए इन दोनों प्रकार के वाक्यों के परिवर्तन करते समय कोई विशेष नियम की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'कोई झूठा आदमी विश्वास के योग्य नहीं होता' इसलिए 'कोई विश्वास के योग्य मनुष्य झूठा नहीं होता।' यह वाक्य 'झूठे आदमी' और 'विश्वास के योग्य मनुष्य' दो पदों का सामान्य निषेध करता है। इसलिए जो बात इस झूठे

आदमी' के विषय में कह सकते हैं, वही हम 'विश्वास के योग्य मनुष्य' के विषय में परिवर्त्तन के द्वारा कह सकेंगे। इसी प्रकार 'कुछ मनुष्य दयालु होते हैं' अतएव कुछ दयालु जीव मनुष्य होते हैं।' अथवा, 'कुछ कवि दार्शनिक होते हैं' इसलिए 'कुछ दार्शनिक कवि होते हैं।' इन परिवर्त्तनों में आधार और निष्कर्ष वाक्यों में दोनों ही पद समान रूप से अव्यापक रहते हैं। इन परिवर्तनों को 'साधारण' परिवर्तन कहा जाता है।

विशेष-निषेध करनेवाले वाक्य में उद्देश्य पद अव्यापक और विधेय पद व्यापक होता है। परिवर्तन करते समय उद्देश्य पद को विधेय बनाने के लिए उसे व्यापक बनाना होगा। परन्तु ऐसा करना संगति के नियम के विरुद्ध है। इसलिए विशेष निषेधात्मक वाक्य का परिवर्तन असंगत है। यदि हम कहें : "कुछ देशभक्त क्रान्तिकारी नहीं होते," तो इसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते : कुछ क्रान्तिकारी देशभक्त नहीं होते। आधार वाक्य का अर्थ केवल कुछ देशभक्तों के विषय में उनके क्रान्तिकारी होने का निषेध करना है : कुछ देशभक्त बिलकुल क्रान्तिकारी नहीं होते। इस आधार वाक्य से यह अर्थ निकालना कि कुछ क्रान्तिकारी बिल्कुल देशभक्त नहीं होते न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता। आधार वाक्य में 'देशभक्त' अव्यापक है। हम इसे निष्कर्ष में व्यापक नहीं बना सकते।

अनन्तरानुमान का दूसरा रूप 'प्रतिवर्त्तन' है। इसमें हम ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जिसका विधेय आधार वाक्य के विधेय का व्याघातक पद होता है। 'सभी चोर अविश्वसनीय होते हैं' इसलिये कोई चोर विश्वसनीय नहीं होते। 'कोई मनुष्य पूर्ण नहीं है, इसलिये सभी मनुष्य अपूर्ण हैं।' इस प्रकार की युक्तियों में निष्कर्ष का विधेय आधार वाक्य के विधेय का व्याघातक पद है; इसी कारण दोनों वाक्यों के गुणों में भी भेद हो जाता है। यदि आधार में हम किसी गुण का विधान करते हैं तो निष्कर्ष में उस गुण के अभाव का निषेध करते हैं। यही प्रतिवर्त्तन अनुमान का नियम भी है। परिमाण में परिवर्त्तन करना अनावश्यक है।

परिवर्तित प्रतिवर्त्तन इसी अनुमान का तीसरा भेद है। यह ऊपर की दोनों विधियों के सम्मिश्रण का फल है। यदि हम किसी आधार वाक्य को

पहले प्रतिवर्त्तन द्वारा और फिर इस वाक्य को परिवर्त्तन द्वारा बदलें तो हमारे निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के विधेय का व्याघातक पद होता है। यदि हम कहें "सभी भारतीय चुनाव में मतदान के अधिकारी हैं" तो इस प्रक्रिया द्वारा हमारे निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के विधेय (मतदान के अधिकारी) पद का व्याघातक पद अर्थात् 'मतदान के अनधिकारी' होना चाहिये। इस निष्कर्ष के लिये पहले आधार वाक्य को प्रतिवर्त्तन द्वारा बदलना चाहिये : '∵ सभी भारतीय चुनाव में मतदान के अधिकारी हैं, ∴ कोई भारतीय चुनाव में मतदान के अनधिकारी नहीं हैं।" इसके अनन्तर परिवर्त्तन करना चाहिये : चुनाव में मतदान के कोई अनधिकारी भारतीय नहीं हैं।'

विपर्यय अनन्तरानुमान की चतुर्थ विधि है। इसमें निष्कर्ष का उद्देश्य मूल वाक्य के उद्देश्य पद का व्याघातक होता है। "सभी हिन्दू गाय को मानते हैं" इस आधार से चलकर हम विपर्यय विधि द्वारा 'अ-हिन्दू' के विषय में निष्कर्ष निकालते हैं। ऐसा करने के लिये क्रमशः प्रतिवर्त्तन और परिवर्त्तन अथवा परिवर्त्तन और प्रतिवर्त्तन विधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसके नियम भी पहली दोनों विधियों के नियम हैं। ऊपर के वाक्य में परिवर्त्तन से प्रारम्भ करने से हमारा पहला निष्कर्ष होगा "कुछ गाय को माननेवाले हिन्दू हैं।" इससे प्रतिवर्त्तन द्वारा प्राप्त होगा "कुछ गाय को मानने वाले अहिन्दू नहीं हैं।' अब परिवर्त्तन के नियमानुसार इस वाक्य का परिवर्त्तन असम्भव है। अतः इस विधि से आधार वाक्य का विपर्यय भी संगत नहीं हो सकता। अतएव हमें पहले प्रतिवर्त्तन करना चाहिये। "∵ सभी हिन्दू गाय को मानते हैं, ∴ कोई हिन्दू गाय को न मानने वाले नहीं हैं।" फिर परिवर्तन द्वारा : कोई गाय को न मानने वाले हिन्दू नहीं हैं।' फिर प्रतिवर्तन द्वारा : सभी गाय को न मानने वाले अ-हिंदू हैं।' तदनन्तर परिवर्त्तन द्वारा निष्कर्ष : कुछ अहिन्दू गाय को न मानने वाले हैं।

इन विधियों के अतिरिक्त अनन्तरानुमान की कई अन्य विधियाँ भी हैं जिनमें किसी दिये हुए सम्बन्ध से किसी दूसरे सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। इनके लिये किसी नियम की सम्भावना नहीं। वस्तुओं में अनगिन प्रकार

के सम्बन्ध होते हैं। अनुमान की सत्य ता अथवा असत्यता इन सम्बन्धों की विशेषता पर ही निर्भर रहती है। यदि अ ब का पिता है तो हम अनुमान कर सकते हैं : ब अ का पुत्र है। इसी प्रकार : यदि क ख से उत्तर में है तो ख क से दक्षिण में है। यदि क ख से बड़ा है तो ख क से छोटा है। इत्यादि।

इसी प्रकार यदि हम कहें 'हाथी पशु है' तो अनुमान द्वारा दोनों पदों में समान विशेषण जोड़ देने से एक नया निष्कर्ष निकल आता है : 'छोटा हाथी छोटा पशु है।' इस प्रकार के अनुमानों को 'विशेषण संयोजनात्मक' कह सकते हैं। आधार वाक्य के दोनों पदों को श्लिष्ट बना कर भी अनुमान किया जाता है। जैसे 'भारतीय मनुष्य हैं इसलिये भारतीयों का बहुमत मनुष्यों का बहुमत है।' इन सब अनुमान-विधियों में कोई नियम नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक वाक्य में अपना सम्बन्ध भिन्न होता है। उस सम्बन्ध की विशेषता के यथार्थ ज्ञान पर इनके निष्कर्ष की सत्यता आश्रित रहती है।

अनन्तरानुमान की सम्पूर्ण क्रिया इतनी सरल प्रतीत होती है कि इसे कुछ दार्शनिक विचार की प्रणाली ही नहीं मानते। उनके अनुसार विचार क्रिया द्वारा हम आधार वाक्यों में निहित निष्कर्ष का उद्घाटन करते हैं जो वस्तुतः नवीन होता है। इन अनुमानों में निष्कर्ष नवीन प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत आधार वाक्य का पुनः कथन अथवा पुनरुक्ति मात्र प्रतीत होता है। केवल किसी वाक्य में पदों के स्थान परिवर्त्तन अथवा स्वरूप परिवर्त्तन को ये अनुमान नहीं मानते।

वस्तुतः अनन्तरानुमान में विचार क्रिया सरल रहती है; परन्तु सरल होने से उसे विचार-क्रिया न मानना संगत नहीं प्रतीत होता। यह क्रिया, चाहे कितनी ही सरल क्यों न हो, विचार के मूल सिद्धान्तों पर आश्रित है, जैसा हमने इस परिच्छेद के प्रारम्भ में लिखा है। इनमें पदों की व्यापकता पर ध्यान देना होता है। इसके अतिरिक्त, इन अनुमानों में निष्कर्ष भी नया रहता है और इस नवीनता का कारण पदों का स्थान और स्वरूप का परिवर्त्तन है। नियम में बँधे होने के कारण, हम मनचाहा निष्कर्ष नहीं निकाल सकते। उदाहरण : एक न्यायाधीश इस बात को मानता है कि सभी हत्यारे किसी न किसी उद्देश्य से हत्या करते हैं। परन्तु परिवर्त्तन द्वारा हम यह नहीं मान

सकते कि सभी उद्देश्य रखने वाले व्यक्ति हत्यारे होते हैं। कारण, हम अव्यापक पद से व्यापक निष्कर्ष नहीं निकाल सकते।

अन्त में, हम अनन्तरानुमान को इसलिये अनुमान की क्रिया मानते हैं, क्योंकि विज्ञान और दैनिक जीवन में इन विधियों का वस्तुतः प्रयोग करते हैं। यदि ऐसा है तो विचार के मूल नियमों का पालन भी अनिवार्य है।

प्रमाण और इसके विविध आकार

परम्परानुमान

एक से अधिक वाक्यों की सहायता से किसी निष्कर्ष को सिद्ध करने की विचार-क्रिया का नाम परम्परानुमान है।

इस विधि में प्रसिद्ध और साधारण विचार-क्रिया का नाम सिलोजिज़्म अथवा न्याय-वाक्य है।

न्याय-वाक्य अथवा सिलोजिज़्म में आधार वाक्य दो होते हैं। इन दोनों से मिलकर, अलग अलग नहीं, निष्कर्ष निकलता है। ये वाक्य कोई दो नहीं हो सकते, जैसे, राम अच्छा आदमी है और प्रशांत महासागर गहरा है। इन दोनों वाक्यों में कोई साधारण तत्त्व विद्यमान नहीं है इसलिये किसी निष्कर्ष की कल्पना नहीं की जा सकती। दोनों स्वतंत्र हैं और मिलकर किसी नवीन विचार की ओर मस्तिष्क को नहीं ले जाते। परन्तु यदि हम कहें : अच्छे आदमी आदरणीय होते हैं और राम अच्छा आदमी है, तो इन दोनों वाक्यों में साधारण तत्त्व विद्यमान होने से हम निष्कर्ष निकालते हैं : इसलिये राम आदरणीय है। इसी प्रकार हम विचार करते हैं : गहरे महासागरों में नावें नहीं चलतीं। प्रशान्त महासागर गहरा है, इसलिये प्रशान्त महासागर में नावें नहीं चलतीं।

सिलोजिज़्म के दोनों आधार वाक्यों में साधारण तत्त्व होना अनिवार्य है। यही अनुमान अथवा निष्कर्ष का आश्रय है। विचार के मूल सिद्धान्त की यहाँ अवहेलना नहीं की जा सकती अर्थात् अव्यापक पदों से व्यापक निष्कर्ष, अथवा सामान्य वाक्यों से अधिक सामान्य अथवा विशेष वाक्यों से सामान्य निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इन बातों को ध्यान में रखकर, सिलोजिज़्म की परिभाषा निम्न प्रकार की जा सकती है : सिलोजिज़्म परम्परानुमान की वह विधि है जिसमें दो आधार वाक्यों की सहायता से मिलाकर, साधारण तत्त्व के आधार पर, एक ऐसा निष्कर्ष निकाला जाता है जो आधार वाक्यों से अधिक व्यापक न हो।

ऊपर की परिभाषा को अन्य प्रकार से भी रखा जा सकता है। यदि दो पदों का सम्बन्ध किसी तीसरे साधारण पद से है तो उन दोनों में परस्पर सम्बन्ध होता है। सिलोजिज़्म द्वारा इसी नवीन सम्बन्ध की गवेषणा की जाती है। जैसे : सभी मनुष्य अपूर्ण हैं, सभी नेता मनुष्य हैं। यहाँ इन दोनों वाक्यों में 'अपूर्ण' और 'नेता' इन पदों का सम्बन्ध 'मनुष्य' पद से है। यह पद दोनों में साधारण है और निष्कर्ष का आधार है। यदि सभी मनुष्य अपूर्ण हैं और सभी नेता मनुष्य हैं तो सभी नेता अपूर्ण हैं—यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है अर्थात् दो पदों में परस्पर सम्बन्ध की खोज की जा सकती है यदि ये दोनों पद किसी तीसरे समान पद से सम्बन्ध रखते हैं। सिलोजिज़्म में तीनों पदों का निश्चित और नियमित सम्बन्ध होता है। किसी भी अनिश्चित और बिना नियम के नवीन सम्बन्धों की कल्पना विचारपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

सिलोजिज़्म में जिन पदों के सम्बन्ध का आविष्कार किया जाता है, उनमें से एक पद उद्देश्य और दूसरा विधेय पद होगा जिनसे मिलकर निष्कर्ष बनता है। जैसे : तुलसी महान् कवि हैं। यहाँ तुलसी पद निष्कर्ष का उद्देश्य और महान् कवि विधेय है। यदि इन दोनों पदों का सम्बन्ध किसी तीसरे साधारण पद से मिल जाये तो सिलोजिज़्म द्वारा यह निष्कर्ष सिद्ध माना जायगा। जैसे : सभी काव्य द्वारा समाज की सेवा करनेवाले कवि महान् कवि होते हैं। तुलसी काव्य द्वारा समाज की सेवा करनेवाले कवि हैं। इसलिए तुलसी महान् कवि हैं। इस विचार क्रिया में निष्कर्ष के उद्देश्य पद को 'पक्ष' और विधेय पद को 'साध्य' पद कहा जाता है और तीसरे पद को हेतु पद माना जाता है। यहाँ 'तुलसी' पक्ष पद, 'महान् कवि' साध्य पद हैं। पक्ष में साध्य पद को सिद्ध किया जाता है। जिस पद की सहायता से सिद्ध किया जाता है उसे हेतु पद कहते हैं। यहाँ 'काव्य द्वारा समाज की सेवा करनेवाले कवि' हेतु पद है।

ऊपर के अनुसार, सिलोजिज़्म की परिभाषा यह हो सकती है : जिस विचार क्रिया द्वारा हेतु पद की सहायता से पक्ष और साध्य में सम्बन्ध की स्थापना की जाती है, उसे सिलोजिज़्म कहते हैं। जिस वाक्य में साध्य और हेतु पद का सम्बन्ध दिया जाता है उसे साध्य वाक्य, और जिसमें पक्ष और

हेतु का सम्बन्ध बताया जाता है, उसे पक्ष वाक्य कहा जाता है। जहाँ साध्य वाक्य और पक्ष वाक्य की सहायता से निष्कर्ष निकाला जाता है उसे सिलोजिज़्म कहते हैं।

मानना होगा कि सिलोजिज़्म विचार का सरल और अधिक व्यवहार में आनेवाला प्रकार है। शुद्ध और संगत सिलोजिज़्म में कुछ गुण होने अनिवार्य हैं जो इसके लक्षण-गुण कहलाते हैं।

१—संगत सिलोजिज़्म में तीन वाक्यों का प्रयोग होता है।

यह गुण इसकी परिभाषा से ही मिल जाता है। प्रथम दो वाक्य, साध्य वाक्य और पक्ष वाक्य, कहलाते हैं, और अन्तिम, निष्कर्ष। साध्य वाक्य में साध्य पद के साथ हेतु पद के सम्बन्ध की स्थापना की जाती है; पक्ष वाक्य में पक्ष पद के साथ हेतु पद को सम्बद्ध किया जाता है। अंत में, पक्ष और साध्य पद को जोड़ा जाता है।

२—सिलोजिज़्म में केवल तीन पद होते हैं।

तीन से अधिक पदोंवाला अनुमान असंगत होगा। यदि पक्ष और साध्य पद दोनों अलग-अलग पदों से सम्बन्ध रक्खें, तो हम पक्ष और साध्य को सम्बद्ध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था में वस्तुतः कोई हेतु पद विद्यमान ही नहीं है इसलिये निष्कर्ष सम्भव नहीं है। चार पदोंवाला सिलोजिज़्म इसीलिए दोषग्रस्त माना जाता है।

साधारणतया यह दोष उस अवस्था में उत्पन्न होता है, जब एक ही पद भिन्न-भिन्न वाक्यों में भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ हो जिससे एक मालूम पड़ने पर भी वस्तुतः दो भिन्न पदों का प्रयोग हुआ हो। हेतु, साध्य अथवा पक्ष, तीनों पदों के ही द्व्यर्थक होने से यह 'चतुष्पद दोष' उत्पन्न हो सकता है जिससे भ्रामक निष्कर्ष निकलता है। जैसे : सेनापति की आज्ञा सेना मानती है। सेनापति अपनी पत्नी की आज्ञा मानता है, इसलिये सेना सेनापति की पत्नी की आज्ञा मानती है। यहाँ ऊपर से तो तीन पद प्रतीत होते हैं। वस्तुतः पद चार हैं। संक्षेप में, सिलोजिज़्म में चतुष्पद दोष न होना चाहिये।

३—सिलोजिज़्म में हेतु पद, दोनों आधार वाक्यों में से कम से कम एक में, अवश्य व्यापक होना चाहिए।

सिलोजिज़्म में हेतु पद का कार्य पक्ष में साध्य को सिद्ध करना है। संगत हेतु का सम्बन्ध दोनों पदों से निश्चित और स्पष्ट होना चाहिये। यदि हम कहें कि खड़िया सफेद होती है और चीनी सफेद होती है, तो हम निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि चीनी खड़िया है, कारण कि यहाँ हेतु पद 'सफेद' होना सही हेतु नहीं है। माना कि सभी चीनी सफेद होती है और सभी खड़िया सफेद होती है; इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी सफेद होती हैं। 'सफेद' यह बहुत सी भिन्न वस्तुओं का गुण है। इसके कारण एक वस्तु दूसरी सिद्ध नहीं की जा सकती। तर्क की दृष्टि से 'सफेद' दोनों वाक्यों में अव्यापक पद है। इसका सर्वांश में किसी पद से सम्बन्ध नहीं है। 'सभी चीनी सफेद होती है।' इस वाक्य में, हम 'चीनी' पद को सर्वांश में प्रयोग करते हैं अर्थात् चीनी के विषय में व्यापक गुण का उल्लेख करते हैं, परन्तु 'सफेद' यह पद व्यापक या सर्वांशी नहीं है, अर्थात् इस कथन में सभी सफेद वस्तुओं के विषय में उल्लेख नहीं है। केवल सफेद वस्तुओं के कुछ अंश के विषय में उल्लेख है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में भी। इसलिये 'यदि कुछ सफेद वस्तु चीनी और कुछ सफेद वस्तु खड़िया होती हैं', तो इस कारण हम खड़िया को चीनी नहीं कह सकते। इसलिए संगत सिलोजिज़्म का यह अकाट्य नियम है कि हेतु पद का सम्बन्ध पक्ष अथवा साध्य पद से सर्वांश में होना चाहिए।

यदि हेतु पद से साध्य का सर्वांश में सम्बन्ध है, तो इसका तात्पर्य है कि पक्ष का हेतु के किसी भी भाग से सम्बन्ध होने पर भी हम पक्ष और साध्य में सम्बन्ध की गवेषणा कर सकते हैं। जैसे, सभी साम्यवादी हिंसा में विश्वास रखते हैं; कुछ भारतीय साम्यवादी हैं इसलिए कुछ भारतीय हिंसा में विश्वास रखते हैं। इस सिलोजिज़्म में, पहले वाक्य में 'सभी साम्यवादी' इस हेतु पद का सम्बन्ध साध्य से सर्वांश में है अर्थात् इसमें सभी साम्यवादियों के विषय में उल्लेख है। अब यदि किसी के भी विषय में कहा जाये कि वह साम्यवादी है, तो हम कह सकेंगे कि वह हिंसा में विश्वास रखता है। इसी प्रकार, यदि पक्ष के साथ हेतु पद का सर्वांश में सम्बन्ध है तो भी हम साध्य को पक्ष के साथ जोड़ सकते हैं। गलती वहीं होती है, जहाँ हेतु पद के एक भाग से पक्ष का सम्बन्ध और दूसरे भाग से साध्य का एकांश में सम्बन्ध रहने से पक्ष

और साध्य पदों में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं रहता। इसे 'अव्यापक हेतु दोष' कहा जायगा।

४—कोई पद जो आधार वाक्यों में अव्यापक है, वह निष्कर्ष में व्यापक नहीं हो सकता।

यह नियम स्पष्ट है और निगमन विचार-धारा का सार है। यदि पक्ष अथवा साध्य आधार वाक्यों में अव्यापक हैं और निष्कर्ष में इन्हें व्यापक बना दिया है, तो इन्हें अव्यापक पक्ष दोष और अव्यापक साध्य दोष कहते हैं।

५—दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई संगत निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

निषेध का अर्थ वाक्य में पदों के सम्बन्ध का अभाव बताना होता है। यदि साध्य और हेतु पदों में, और, पक्ष और हेतु पदों में सम्बन्ध का अभाव है तो साध्य और पक्ष में किसी निश्चित सम्बन्ध की कल्पना असंगत होगी। यदि कहा जाये कि हरी साम्यवादी नहीं है और साम्यवादी ईश्वर में विश्वास नहीं रखते, तो हरी के विषय में वह ईश्वर में विश्वास रखता है या नहीं, कहना असंगत होगा। आधार वाक्यों में केवल इतना कहा गया है कि हरी साम्यवादी नहीं है और साम्यवादियों के विषय में कहा गया है कि वे ईश्वर में विश्वास नहीं रखते। परन्तु हरी के साम्यवादी न होने से उसके ईश्वर में विश्वास और अविश्वास का निश्चय नहीं हो सकता। यदि वह साम्यवादी है तो इसके विषय में भी वही कहा जा सकता है जो सब साम्यवादियों के विषय में कहा गया है। साम्यवादी न होने से यह सम्भव नहीं।

६—यदि दो आधार वाक्यों में से एक भी निषेधात्मक हो तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा।

यह नियम ऊपर के कथन से स्पष्ट हो जाता है।

इन ६ नियमों के अतिरिक्त दो नियम और हैं जो इन्हीं से फलों के रूप में निकाले जाते हैं। इनके उल्लंघन से ऊपर के कोई न कोई नियमों का भंग हो जाता है।

७—दो विशेष आधार वाक्यों से निष्कर्ष नहीं निकलता।

८—यदि दो में से एक भी आधार वाक्य विशेष है तो निष्कर्ष भी विशेष रहेगा।

सिलोजिज़्म के ऊपर दिये हुए नियम आधारभूत नियम हैं। इसमें तीन वाक्य होने चाहिए। गुण और परिमाण की दृष्टि से चार प्रकार के वाक्य होते हैं। कोई तीन वाक्यों से मिलकर सिलोजिज़्म नहीं बन सकता, क्योंकि ऊपर के नियमों का पालन करना आवश्यक है। इसलिए सिलोजिज़्म में तीन वाक्यों का जो संयोग संगत होता है, वह नियमों के अनुकूल होने के कारण सिद्ध संयोग कहलाएगा। अनेक सम्भव संयोगों में से हमारा सम्बन्ध केवल सिद्ध संयोगों से होता है।

यदि एक सिलोजिज़्म में साध्य वाक्य 'ए' हो तो पक्ष वाक्य, नियमों के अनुसार, ए, ई, आई, ओ, चारों हो सकते हैं। इससे चार प्रकार के आधार संगत हैं: ए ए, ए ई, ए आई, ए ओ। इन आधार वाक्यों से सभी प्रकार के निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। पहले, ए ए से ए और आई निष्कर्ष संगत है। ए ए से ई या ओ निष्कर्ष असंगत होगा क्योंकि दो विधानात्मक वाक्यों से केवल विधानात्मक निष्कर्ष ही सम्भव होता है। इसी प्रकार ए ई से ई और ओ, ए आई से केवल आई, ए ओ से केवल ओ निष्कर्ष निकाला जाता है। संक्षेप में जिन सिलोजिज़्म में 'ए' साध्य वाक्य हो, उनके सिद्ध संयोग केवल निम्नलिखित हो सकते हैं: ए ए ए, ए ए आई, ए ई ई, ए ई ओ, ए आई आई, ए ओ ओ।

ई को साध्य वाक्य मान कर केवल ई ए, ई आई आधार वाक्य हो सकते हैं, ई ई अथवा ई ओ नहीं, क्योंकि दो निषेधात्मक वाक्यों से कोई निष्कर्ष सम्भव नहीं। ई ए आधार से ई और ओ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। ई आई आधार से ऊपर के नियमों के अनुसार केवल ओ निष्कर्ष निकलता है। इसलिए 'ई' को साध्य वाक्य मानकर निम्नलिखित सिद्ध संयोग होते हैं: ई ए ई, ई ए ओ, ई आई ओ।

आई को साध्य वाक्य मानकर आई ए, आई ई केवल दो आधार संगत होते हैं। इनमें से आई ई भी हमें मान्य नहीं क्योंकि इस संयोग से नियमों का पालन नहीं होता। इसलिए केवल आई ए संगत आधार होता है जिससे केवल आई निष्कर्ष निकल सकता है। अतः यहाँ आई ए आई सिद्ध संयोग है।

ओ के साथ केवल ए को आधार वाक्य माना जा सकता है और इनसे केवल ओ निष्कर्ष निकलता है। यहाँ ओ ए ओ सिद्ध संयोग है।

इन सिद्ध संयोगों में ए ए आई, ए ई ओ, ई ए ओ निर्बल संयोग कहलायेंगे, क्योंकि यहाँ सामान्य निष्कर्ष संगत होते हुए भी केवल विशेष निष्कर्ष निकाला गया है। विशेष सामान्य के अन्तर्गत रहता है। शेष संयोग दृढ़ हैं अर्थात् जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनसे अधिक व्यापक निष्कर्ष निकालना संगत न होगा।

सिद्ध संयोग से सिलोजिज़्म में प्रयुक्त तीनों वाक्यों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। परन्तु पदों का स्थान और सम्बन्ध भी अपना महत्त्व रखते है, क्योंकि वाक्यों में प्रयुक्त पदों के विशेष स्थान और सम्बन्ध के कारण सभी सिद्ध संयोग सब जगह संगत नहीं होते। जैसे, ए ए ए सिद्ध संयोग है अवश्य, परन्तु इससे संगत निष्कर्ष केवल उसी दशा में निकलता है जब साध्य वाक्य में हेतु पद उद्देश्य और पक्ष वाक्य में विधेय हो, अन्यथा नहीं। आधार वाक्यों में हेतु पद का जो सम्बन्ध और स्थान साध्य और पक्ष पदों से स्थिर किया जाता है, उसे सिलोजिज्म का आकार कहते हैं। आकार केवल चार सम्भव हैं: प्रथम : जिसमें हेतु पद साध्य वाक्य में उद्देश्य और पक्ष वाक्य में विधेय रहता है : जैसे, सभी महापुरुष धैर्यशाली होते हैं; गांधीजी महापुरुष थे, इसलिए गांधीजी धैर्यशाली थे। इस सिलोजिज़्म में हेतु पद 'महापुरुष' पहले वाक्य में उद्देश्य और दूसरे में विधेय है। इस आकार का चित्र इस प्रकार होता है:

हे—वि प्रथम वाक्य
उ—हे द्वितीय वाक्य
उ—वि निष्कर्ष वाक्य

दूसरे आकार में दोनों वाक्यों में हेतु पद विधेय रहता है। अर्थात् इसका चित्र यों होगा : वि—हे
उ—हे
उ—वि

तीसरे आकार में हेतु पद दोनों में उद्देश्य होता है, जैसे: हे—वि०
हे—उ
उ—वि०

चौथे आकार में पहले का विपरीत होता है अर्थात् वि—हे इसका चित्र है।

हे—उ

उ—वि

वे सब युक्तियाँ जिनमें सिलोजिज़्म का प्रयोग किया जाता है, इन आकारों में से एक न एक को काम में लाती है। किसी सिलोजिज़्म का पूर्णस्वरूप उसके संयोग और आकार से स्थिर किया जाता है। आकार केवल पदों का विन्यास मात्र ही नहीं है, परन्तु हमारे विचार की एक विशेष शैली है। प्रत्येक आकार के लिए निश्चित नियम हैं जिनका नीचे उल्लेख किया गया है।

पहला आकार : हे—वि

उ—हे

उ—वि

पहला नियम : पक्ष वाक्य सदैव विधानात्मक होगा।

दूसरा नियम : साध्य वाक्य सदैव सामान्य होगा।

सिद्धि : यदि साध्य वाक्य निषेधात्मक है तो पक्ष वाक्य विधानात्मक रहेगा, क्योंकि सिलोजिज़्म में दोनों आधार वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते।

यदि साध्य वाक्य विधानात्मक है तो इसमें 'वि' अर्थात् विधेय पद अव्यापक होगा जो निष्कर्ष में व्यापक नहीं हो सकता। परन्तु यदि यह पद 'वि' निष्कर्ष में व्यापक नहीं हो सकता, तो निष्कर्ष भी विधानात्मक ही होगा, उस दशा में दोनों आधार वाक्य विधानात्मक होंगे अर्थात् इस दशा में भी पक्ष वाक्य विधानात्मक ही रहेगा। अतएव प्रत्येक दशा में पक्ष वाक्य विधानात्मक होगा।

यदि पक्ष वाक्य विधानात्मक रहता है तो इसमें 'हे' अर्थात् हेतु पद कभी व्यापक नहीं हो सकता। परन्तु आधार वाक्यों में से एक में, कम से कम, हेतु पद व्यापक होना चाहिये। साध्य वाक्य में हेतु पद उद्देश्य है। वहाँ व्यापक होने के लिये यह वाक्य सदैव सामान्य होगा, विशेष नहीं।

दूसरा आकार : वि—हे

उ—हे

उ—वि

पहला नियम : निष्कर्ष सदैव निषेधात्मक होगा ।

दूसरा नियम : साध्य वाक्य सदैव सामान्य होगा ।

सिद्धि : दोनों आधार वाक्यों में हेतु पद विधेय है जो एक न एक में व्यापक पद होना चाहिये। इसलिये एक न एक आधार वाक्य निषेधात्मक होगा, फलत : निष्कर्ष सदैव निषेधात्मक होगा ।

यदि इस आकार में निष्कर्ष सदैव निषेधात्मक है तो इसमें 'वि' पद व्यापक होगा, और इसी कारण से यह पद साध्य वाक्य में व्यापक होना आवश्यक है जहाँ यह पद उद्देश्य है । इसलिये 'वि' को व्यापक होने के लिये यह वाक्य प्रत्येक दशा में सामान्य होना चाहिये ।

तीसरा आकार : हे—वि

हे—उ

उ—वि

पहला नियम : पक्ष वाक्य सदैव विधानात्मक रहेगा ।

दूसरा नियम : निष्कर्ष सदा विशेष वाक्य होगा ।

सिद्धि : इस आकार का पहला नियम पहले आकार के समान है । इसका प्रमाण भी उसी प्रकार होगा । इस समान नियम का कारण दोनों आकारों में 'वि' पद का साध्य वाक्य में विधेय होना है । परन्तु इस नियम की सिद्धि दूसरे प्रकार भी हो सकती है जो इस प्रकार है : यदि निष्कर्ष विधानात्मक है तो दोनों वाक्य, अतएव पक्ष वाक्य भी, विधानात्मक रहेंगे । यदि निष्कर्ष निषेधात्मक है तो 'वि' पद व्यापक होगा और यह पद साध्य वाक्य में भी व्यापक होना चाहिये । परन्तु यदि उस वाक्य में यह पद व्यापक है तो विधेय होने के कारण यह वाक्य निषेधात्मक होना चाहिये अतएव पक्ष वाक्य विधानात्मक होगा, क्योंकि दोनों वाक्य निषेधात्मक नहीं हो सकते। इसलिये प्रत्येक दशा में पक्ष वाक्य विधानात्मक होगा ।

यदि पक्ष वाक्य सदैव विधानात्मक है तो इसमें 'उ' पद कभी व्यापक नहीं हो सकता; फलतः यह निष्कर्ष में भी व्यापक नहीं होगा । इसलिये निष्कर्ष सदैव विशेष वाक्य ही रहेगा ।

चौथा आकार : वि—हे
हे—उ
उ—वि

इस आकार की विशेषता यह है कि इसमें निरपेक्ष नियम नहीं बनाये जा सकते। इसके तीन नियम सापेक्ष हैं जो इस प्रकार हैं :—

१—यदि निष्कर्ष निषेधात्मक है तो साध्य वाक्य सामान्य होगा। कारण कि निषेधात्मक होने से 'वि' पद व्यापक होगा, जिसके लिये साध्य वाक्य सामान्य होना चाहिये।

२—यदि पक्ष वाक्य विधानात्मक है तो 'उ' पद अव्यापक रहेगा। अतएव यह पद निष्कर्ष में अव्यापक रहेगा, इसलिये निष्कर्ष केवल विशेष हो सकता है।

३—यदि साध्य वाक्य विधानात्मक है तो 'हे' पद अव्यापक रहेगा। इसलिये यह पद पक्ष वाक्य में व्यापक होना चाहिये, जिस कारण पक्ष वाक्य सामान्य होना आवश्यक है।

निष्कर्ष की सत्यता आधार वाक्यों की सत्यता पर निर्भर है। इसका अर्थ है कि निष्कर्ष आधार वाक्यों की अपेक्षा व्यापक नहीं हो सकता। आधार वाक्य अपनी सीमा रखते हैं। पदों की व्यापकता और अव्यापकता से वाक्य में परिमाण की सीमा, विधान और निषेध से गुण की सीमा का निश्चय होता है। निष्कर्ष इन सीमाओं का उल्लंघन नहीं करता। सिलोजिज़्म के सारे नियम इन सीमाओं का ही निर्देश करते हैं। इनको हम दो मूल नियमों में रख सकते हैं : १—यदि आधार में कोई पद अव्यापक है तो वह निष्कर्ष में व्यापक नहीं बन सकता। २—निषेध से विधान का अनुमान अथवा विधान से निषेध का अनुमान करना प्रत्येक दशा में संगत नहीं कहा जा सकता। इन दोनों नियमों को, जिनके द्वारा निगमन विचार की मर्यादा स्थिर की गई हैं, हम और भी संक्षेप करके एक ही सार्वभौम सिद्धांत के रूप में रख सकते हैं। यथा, यदि हम किसी वर्ग के विषय में सामान्य विधान अथवा निषेध करें, तो उसी प्रकार का विधान अथवा निषेध उस वर्ग के अंतर्गत किसी वस्तु के विषय में कर सकते हैं।

ऊपर का सिद्धान्त अरस्तू का डिक्टम कहलाता है और सिलोजिज़्म का

मूलाधार माना जाता है। इस सिद्धान्त से संगति और विचारों की सत्यता का स्वरूप स्पष्ट किया जाता है। इससे सिलोजिज़्म की उत्पत्ति होती है, क्योंकि सिलोजिज़्म केवल दो विचारों के साथ निष्कर्ष की संगति स्थापित करके उसके सत्य को सिद्ध करता है। सिलोजिज़्म विचारों की परस्पर संगति प्रदर्शन का सरल और साधारण उपाय है। आधार वाक्यों में हम किसी सामान्य नियम का विधान अथवा निषेध करते हैं अर्थात् किसी वर्ग के विषय में वाक्य द्वारा किसी गुण का सामान्य विधान अथवा निषेध करते हैं। यह वाक्य सदा सामान्य ही होगा। दूसरे वाक्य में, किसी वस्तु अथवा उपजाति को उसे वर्ग के अन्तर्गत होना सिद्ध करते हैं। फलतः यह वाक्य सदा विधानात्मक होगा। इस प्रकार जिस गुण का विधान अथवा निषेध सर्वांश में किया गया है और किसी वस्तु अथवा उपजाति को उस जाति के अंतर्गत सिद्ध किया गया है तो इन आधार वाक्यों से हम निर्णय कर सकते हैं कि उसी गुण का विधान अथवा निषेध उस वस्तु या उपजाति के विषय में किया जा सकता है।

कहना होगा सिलोजिज़्म के गुण, परिमाण और स्वरूप सम्बन्धी सारे नियमों का आधार यही अरस्तू का सिद्धांत है।

प्रथम वाक्य का सदैव सामान्य होना और दूसरे का विधानात्मक वाक्य होना, जैसा ऊपर बताया गया है, ये दो पहले आकार के नियम हैं। दूसरे आकारों में ये नियम सर्वथा लागू नहीं होते, यद्यपि सिलोजिज़्म के सारे नियमों का साधारणतया पालन हो जाता है। इस सिद्धांत के आविष्कारक अरस्तू ने पहले आकार को विशेष आदर दिया है, क्योंकि इसमें उसका सिद्धांत, जो सत्य और संगति का सिद्धांत है, स्पष्ट लागू होता दिखाई देता है जैसा दूसरे आकारों में नहीं। इसके अतिरिक्त इस आकार में और कई गुण भी हैं जिनके कारण यह पूर्ण आकार तथा दूसरे आकार अपूर्ण माने गये हैं। इस आकार में ही 'ए' निष्कर्ष सिद्ध किया जा सकता है, अन्य आकारों में नहीं। 'ए' सामान्य विधानात्मक वाक्य है। सारे विज्ञान और दर्शन जिस ज्ञान की खोज करते हैं, उसका स्वरूप सामान्य विधानात्मक ही होता है। ऐसे निष्कर्षों की सिद्धि के लिये यही आकार उपादेय है। इस आकार में चारों प्रकार के वाक्य निष्कर्ष के रूप में सिद्ध किये जा सकते हैं, जो दूसरे आकारों में सम्भव नहीं। इस

आकार में उद्देश्य और विधेय में स्वाभाविक संबंध रहता है। निष्कर्ष का उद्देश्य पक्ष वाक्य में उद्देश्य और इसका विधेय साध्य वाक्य में विधेय रहता है। इससे विचार में कोई विपर्यय नहीं होता। अंत में, यह आकार बहुधा प्रयुक्त होता है और हमारी साधारण विचारधारा के अनुकूल होता है। दूसरे आकारों में विचार विपर्यय होता है, अर्थात् जो पद आधार वाक्य में उद्देश्य हो, वह निष्कर्ष में विधेय, और, इसका विपरीत, हो जाता है। चौथे आकार में तो यह विपर्यय पूर्ण होने के कारण अरस्तू ने इसको कोई स्थान ही नहीं दिया।

अरस्तू के बादवाले कई दार्शनिकों ने, विशेषतः लेम्बर्ट नामक जर्मन दार्शनिक ने, दूसरे, तीसरे और चौथे आकारों की विशेषता बताकर, पूर्ण और अपूर्ण के भेद को अस्वीकार किया है। दूसरे आकार की विशेषता यह है कि इसका निष्कर्ष केवल निषेधात्मक होता है। विरोधी मत का खंडन और निराकरण करने के लिए विचार का यह स्वाभाविक स्वरूप है। पहले वाक्य में हेतु पद के द्वारा साध्य का सामान्य विधान अथवा निषेध किया जाता है, जैसे, सभी चुम्बक आकर्षक होते हैं, या, कोई चुम्बक सफेद नहीं होते। दूसरे पद में, पक्ष का हेतु के द्वारा निषेध, यदि पहले विधान किया गया था, अथवा पक्ष का विधान यदि पहले निषेध किया गया था, किया जाता है। जैसे : यह धातु का टुकड़ा आकर्षक नहीं है, या, यह धातु का टुकड़ा सफेद है। प्रत्येक दशा में निगमन निषेधात्मक ही होगा। जैसे : यह धातु का टुकड़ा चुम्बक नहीं है। अमुक वस्तु अमुक नहीं है : जहाँ इस प्रकार का निर्णय करना हो, वहाँ यह विचार-शैली उपादेय रहती है।

तीसरे आकार में, निष्कर्ष सदा-विशेष रहता है। इसलिए जहाँ किसी सामान्य नियम का अपवाद दिखाया जाता है, वहाँ इस आकार का प्रयोग स्वाभाविक रहता है। चौथी आकृति का उपयोग पारस्परिकता सिद्ध करने के लिए किया जाता है। इस प्रकार भिन्न आकारों का मूल्य विचार की दृष्टि से अलग है, इसलिए केवल पहले को पूर्ण और दूसरों को अपूर्ण मानना इन लोगों के अनुसार अनुचित था।

अरस्तू के अनुसार उसका डिक्टम ही सिलोजिज़्म का आधार था और वह केवल पहले आकार में उपयुक्त होता था। अतएव दूसरे आकारों को परिवर्तन

करके पहले आकार में लाना एक आवश्यक प्रक्रिया समझा गया। इस क्रिया का नाम रूपान्तरकरण है। इसके द्वारा दूसरे, तीसरे और चौथे आकार विचार के पहले आकार में ढाले जाते हैं जिससे डिक्टम द्वारा उनकी सत्यता प्रमाणित हो जाये। बाद के दार्शनिकों ने इस प्रक्रिया को अनावश्यक समझा, क्योंकि इनके अनुसार प्रत्येक आकार का स्वयं अपना महत्त्व है और डिक्टम के द्वारा प्रमाणित होना अनिवार्य नहीं है। आधुनिक समय में रूपान्तरकरण का उपयोग और कई दृष्टियों से माना जाता है। इसके द्वारा भिन्न आकृतियों की एकता स्पष्ट होती है। वस्तुतः विचार की चार प्रणालियाँ हैं जिनका उद्गम एक ही है। इसके अतिरिक्त इससे बुद्धि का थोड़ा व्यायाम भी हो जाता है।

रूपान्तरकरण की अनुलोम क्रिया और प्रतिलोम क्रिया हो सकती है। पहली के द्वारा अन्य आकारों में हेतु पद का स्थान परिवर्त्तन, प्रतिवर्त्तन आदि द्वारा बदलकर अथवा वाक्यों का क्रम परिवर्त्तन करके पहले आकार के अनुकूल बनाया जाता है। जैसे, एक दूसरे आकार का सिलोजिज़्म लीजिए। कोई ग्रह स्वयं-प्रकाश नहीं होते, ध्रुव स्वयं-प्रकाश है, इसलिए ध्रुव ग्रह नहीं है। दूसरी आकृति में होने से इसमें हेतु पद दोनों वाक्यों में विधेय है। पहले आकार में लाने के लिए पहले वाक्य को परिवर्त्तन कर देने से काम चल जाता है। परिवर्त्तन से इसका स्वरूप इस प्रकार हो जायगा : कोई स्वयं प्रकाश ग्रह नहीं होते; ध्रुव स्वयं प्रकाश है, इसलिए ध्रुव ग्रह नहीं है। कहीं प्रतिवर्त्तन या वाक्यों के क्रम बदलने से रूपान्तर हो जाता है।

यदि हम प्रतिवर्त्तन का उपयोग न करें तो एक दूसरी विधि से अन्य आकारों को प्रमाणित किया जाता है, जिसे हम प्रतिलोम विधि कहेंगे। इस विधि का उपयोग अन्यत्र भी किया जा सकता है और प्रमाण का यह साधारण और प्रसिद्ध रूप भी है। यह प्रतिलोम प्रक्रिया इस प्रकार है : किसी सिलोजिज़्म को लीजिये। यदि इसका निष्कर्ष हमें मान्य नहीं तो इसका व्याघातक वाक्य हमें सत्य मानना होगा। निष्कर्ष से पहले आधार वाक्यों को हम सत्य मानते ही हैं। उदा : सभी राष्ट्रीयतावादी असाम्प्रदायिक होते हैं। कुछ हिन्दू असाम्प्रदायिक नहीं हैं इसलिए कुछ हिन्दू राष्ट्रीयतावादी नहीं हैं। यहाँ यदि हम आधार वाक्यों को सत्य स्वीकार करते हुए भी निष्कर्ष को असत्य मानें,

तो हमें इस निष्कर्ष का अत्यन्त विरोधी अर्थात् 'सभी हिन्दू राष्ट्रीयतावादी हैं।' यह सत्य मानना होगा। यदि हम इस वाक्य को पहले स्वीकार किये गये वाक्य के साथ रक्खें तो "सभी राष्ट्रीयतावादी असाम्प्रदायिक होते हैं, सभी हिन्दू राष्ट्रीयतावादी है" इन आधार वाक्यों से निष्कर्ष निकलेगा : सभी हिन्दू असाम्प्रदायिक हैं। परन्तु यह निष्कर्ष जिससे हम बच नहीं सकते हमारे मूल आधार वाक्य अर्थात् कुछ हिन्दू असाम्प्रदायिक नहीं हैं का व्याघातक है। हम इसे पहले सत्य स्वीकार कर चुके हैं: इसलिये दूसरा निष्कर्ष असत्य मानना होगा। इसको असत्य मानने से 'सभी हिन्दू राष्ट्रीयतावादी हैं' यह असत्य मानना होगा। तब तो हमारा पहला निष्कर्ष 'कुछ हिन्दू राष्ट्रीयतावादी नहीं हैं' ही सत्य है।

प्रतिलोम विधि द्वारा हम जिस निष्कर्ष को सत्य सिद्ध करना चाहते हैं, इसके व्याघातक वाक्य को असत्य सिद्ध करते हैं। असत्य सिद्ध करने के लिये हम इसे सत्य स्वीकार करते हैं और इसके द्वारा ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जो हमारे आधार वाक्यों में से एक का अत्यन्त विरोध करता है। इस विरोध से विचारों की परस्पर असंगति प्रकट होती है, और, असंगति से असत्य होने की सूचना मिलती है। हम असंगति को स्वीकार नहीं कर सकते, इसलिये निष्कर्ष को सत्य स्वीकार करते हैं। यह विधि असंगति-प्रदर्शन भी कहलाई जाती है।

हेतु फलाश्रित सिलोजिज़्म

ऊपर के सिलोजिज़्म में तीनों वाक्य निरपेक्ष थे। और ऐसी बहुत सी युक्तियाँ हैं जिनमें कई प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। हेतु फलाश्रित सिलोजिज़्म युक्ति का वह प्रकार है जिसमें प्रथम आधार वाक्य हेतु फलाश्रित हो और दूसरे दो वाक्य निरपेक्ष हों : जैसे, यदि सूर्य निकलता है तो प्रकाश होता है; सूर्य निकला है, इसलिये प्रकाश हो गया है। इस प्रकार के सिलोजिज़्म में, पहले वाक्य का उद्देश्य हेतु और फल में सम्बन्ध को स्थापित करना है। यह सम्बन्ध कई प्रकार का हो सकता है:—१—एक हेतु से एक ही फल की उत्पत्ति जैसे कि वैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध में होता है। इसके अनुसार हेतु और फल अन्योन्य और परस्पराश्रित रहते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध

में, पक्ष वाक्य में हेतु के विधान से फल का विधान, फल के विधान से हेतु का विधान; हेतु के निषेध से फल का निषेध, और फल के निषेध से हेतु का निषेध किया जा सकता है। विज्ञान में इस प्रकार की विचार क्रिया साधारण है। २—हेतु और फल में सम्बन्ध इस प्रकार भी होता है कि एक हेतु से फल तो एक ही होता हो, परन्तु फल की उत्पत्ति उस हेतु के अतिरिक्त और प्रकार से भी सम्भव हो अर्थात् उस फल के लिये अन्य हेतुओं की भी सम्भावना हो। इस दशा में, हेतु के विधान से फल का विधान न्यायसंगत है; परन्तु फल के विधान से हेतु का विधान असंगत है। जैसे, यदि वर्षा होती है तो सड़कों पर कीचड़ हो जाती है। यहाँ यदि हम हेतु का विधान करें कि वर्षा हुई है तो फल के विधान करने में कि सड़कों पर कीचड़ हुई है, कोई सन्देह न होगा। यदि हेतु का निषेध करें कि वर्षा नहीं हुई है, तो सड़कों पर कीचड़ नहीं है, कहना निस्सन्देह न होगा क्योंकि यहाँ फल अर्थात् सड़कों पर कीचड़ होना वर्षा के अतिरिक्त हेतुओं से भी सम्भव है। अतएव ऐसी दशा में हेतु के विधान से फल का विधान युक्तियुक्त है, इसका विपरीत नहीं।

फल के निषेध से हेतु पर क्या प्रभाव होगा? ऊपर के सम्बन्ध में हेतु के सम्भव होने से फल अवश्यम्भावी होता है। यदि फल उत्पन्न नहीं हुआ और हम इसका निषेध करते हैं तो हम सभी हेतुओं का निषेध कर सकते हैं। परन्तु इसका विपरीत नहीं कर सकते, क्योंकि एक हेतु के निषेध से सभी हेतुओं का निषेध तो नहीं होता। इसलिये एक हेतु के निषेध से फल का निषेध असंगत है: दूसरे हेतुओं से फल की सम्भावना रहती है। इस प्रकार फल के निषेध से हेतु का निषेध युक्तियुक्त है, हेतुके निषेध से फल का निषेध नहीं।

३—जहाँ एक हेतु से अनेक भिन्न फल उत्पन्न हो सकते हैं, वहाँ कोई तर्क सम्भव नहीं। ४—जहाँ अनेकों हेतुओं से अनेक भिन्न फल उत्पन्न हो सकते हों, वहाँ विज्ञान का प्रवेश सम्भव नहीं। इसलिये हेतु से फल और फल से हेतु का अनुमान करना असंगत है।

वैकल्पिक सिलोजिज़्म

इसमें पहला वाक्य वैकल्पिक होता है। दो विकल्पों में सम्बन्ध कई प्रकार का होता है। १—दो विकल्प ऐसे हों कि इनमें एक के होने पर दूसरे का

अभाव निश्चय हो और इनके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प सम्भव न हो। जैसे, या तो दीनों की हीन दशा दूर होती है या आर्थिक क्रान्ति अवश्यम्भावी है। इन दोनों अवस्थाओं में परस्पर सहयोग सम्भव नहीं, और, न कोई तीसरी दशा की ही सम्भावना है। ऐसी अवस्था में हम एक विकल्प के विधान से दूसरे का निषेध तथा एक के निषेध से दूसरे का विधान कर सकते हैं। २—दो विकल्प ऐसे हों कि वे दोनों एक साथ सम्भव हों, परन्तु इनके अतिरिक्त कोई तीसरा विकल्प सम्भव न हो। जैसे, किसी कक्षा में केवल दो विद्यार्थी सबसे चतुर हैं और उनमें से ही, इनके अतिरिक्त नहीं, एक न एक प्रथम स्थान पा सकता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि वे दोनों ही समान अंक पा जायें। ऐसी दशा में, एक के निषेध से दूसरे का विधान किया जा सकता है अर्थात् एक विद्यार्थी के प्रथम न आने से दूसरे के विषय में हम विधान कर सकेंगे। परन्तु एक का विधान करके भी दूसरे का विधान सम्भव होने से कोई अनुमान करना युक्तियुक्त न होगा। ३—दो विकल्प ऐसे हों कि वे दोनों साथ भी सम्भव हो सकते हों और इनके अतिरिक्त भी अन्य विकल्पों की सम्भावना हो। इस अवस्था में कोई अनुमान अथवा विचार करना असंगत होगा। ४—यदि तीन अथवा अधिक विकल्प प्रस्तुत हों और उनमें पहले की सी अवस्था हो तो एक के विधान से शेष का निषेध किया जा सकता है अथवा शेष के विधान से एक का निषेध संगत है। एक के निषेध से शेष का वैकल्पिक विधान तथा शेष के निषेध से एक का विधान भी युक्तियुक्त होगा। ५—यदि तीन या अधिक विकल्प ऐसे हों जैसा दूसरी अवस्था में ऊपर बताया गया है तो शेष के निषेध से एक का विधान सम्भव है, परन्तु एक के निषेध से शेष का विधान युक्त नहीं।

अनुमान

भारतीय विचार-धारा में 'विचार' मस्तिष्क की एक व्यापक क्रिया है। इससे विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है जिसे 'प्रमिति' कहा गया है। प्रमिति तर्क-सिद्ध, निस्सन्देह, विशुद्ध, उपादेय ज्ञान का नाम है जो मानव बुद्धि के लिये पवित्र वस्तु है। प्रमिति जिन साधनों से उत्पन्न होती है उन्हें प्रमाण कहते हैं। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रमिति के साधन हैं; उनके स्वरूप के विषय में भी मत-भेद है। चार्वाक मत के अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है; बौद्धधर्म के अनुसार केवल प्रत्यक्ष और अनुमान ही प्रमाण है। इस प्रकार जैन, न्याय-शास्त्र, वेदान्त, मीमांसा आदि के अनुसार तीन, चार या इससे भी अधिक प्रमाण हैं। हम इस स्थान पर शास्त्रार्थ के जंगल में न जाकर केवल वैज्ञानिक दृष्टि से प्रमाण के ऊपर विचार करेंगे।

सभी दर्शन प्रत्यक्ष को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं। इसके द्वारा निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। इसमें हमारी इन्द्रियाँ वस्तु से साक्षात् सम्पर्क करती हैं। जहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है वहाँ किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं। यदि किसी दूसरे प्रमाणों से कोई ज्ञान उत्पन्न भी हो; परन्तु उससे प्रत्यक्ष ज्ञान का विरोध हो तो हम प्रत्यक्ष को ही स्वीकार करते हैं। साधारण जीवन और विज्ञान में प्रत्यक्ष से उत्पन्न ज्ञान स्वयं अपना प्रमाण होता है। यदि इन्द्रियों में कोई दोष न हो; मन और बुद्धि ठिकाने पर हो तथा वस्तु भी अधिक दूर, अधिक पास, अधिक सूक्ष्म, अधिक स्थूल, अधिक प्रकाश, अधिक अन्धकार आदि किसी प्रतिकूल परिस्थितियों में विद्यमान न हो, तो प्रत्यक्ष द्वारा प्रमिति उत्पन्न हो सकती है।

प्रत्यक्ष प्रमाण से उत्पन्न प्रमिति हमें निस्सन्देह ग्राह्य है। परन्तु इसका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित है, क्योंकि ऐसी अनेकानेक बातें हैं जिनका प्रत्यक्ष न होने पर भी सन्देह करना कठिन है। इन पदार्थों के विषय में प्रमिति का साधन प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु इन्हें हम अस्वीकार नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष के उप-

राम होने के अनन्तर जिस प्रमाण से ज्ञान अथवा प्रमिति उत्पन्न होती है; उसका नाम अनुमान है।

यहाँ हमें केवल अनुमान के स्वरूप, भेद आदि पर विचार करना है।

अनुमान से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। अनुमिति में हम किसी ऐसे पदार्थ की सत्ता सिद्ध करते हैं जिसका प्रत्यक्ष नहीं कर पाते। इसको हम 'साध्य' कहते हैं। यदि हम अग्नि को अपने सम्मुख देखते हैं तो इसका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। परन्तु ऐसे अवसर पर जहाँ प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, वहाँ अनुमान द्वारा जो अग्नि की सत्ता सिद्ध की जाती है उस विचार-क्रिया को अनुमान और इस प्रकार के ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। अग्नि की प्रत्यक्ष सत्ता के स्थान पर अनुमेय सत्ता स्वीकार करने के लिये हमें 'हेतु' की आवश्यकता होती है जिसे हम निस्सन्देह स्वीकार कर सकें। असन्दिग्ध हेतु से ही असन्दिग्ध 'साध्य' की स्थापना की जा सकती है। इस हेतु का प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिये। यह हेतु वह गुण अथवा पदार्थ होता है जिसका साध्य के साथ निश्चित संबंध हो, जिसके ज्ञान से साध्य का निश्चित अनुमान कर सकें। इस उदाहरण में 'अग्नि की सत्ता' साध्य गुण है। इसको सिद्ध करने के लिये 'हेतु' धूम है जिसे हम देख पाते हैं। धूम और अग्नि का संबंध भी ऐसा है कि जहाँ कहीं धूम है वहाँ अग्नि अवश्य होती है। दोनों में निश्चित और अव्यभिचारी संबंध होने से, हम केवल दूर से धूम को देखकर अग्नि की सत्ता को उसी असन्दिग्ध प्रकार से स्वीकार कर सकते हैं जैसे प्रत्यक्ष अनुभव से। साध्य के साथ जिस गुण का निश्चित सम्बन्ध हो और जिसके प्रत्यक्ष से हम साध्य का ज्ञान प्राप्त कर सकें, तथा जो इस प्रकार के ज्ञान का हेतु हो उसे 'लिङ्ग' भी कहते हैं। लिङ्ग के प्रत्यक्ष से साध्य की सत्ता को सिद्ध करना—यह अनुमान क्रिया है। इस क्रिया का आधार लिङ्ग और साध्य का निश्चित और अव्यभिचरित संबंध है। इस सम्बन्ध को हम व्याप्ति कहते हैं।

साध्य की सत्ता वहीं सिद्ध की जाती है जहाँ लिङ्ग का प्रत्यक्ष होता है। इनका भिन्न स्थानों पर होना सम्भव नहीं। अनुमान में जिस स्थान पर साध्य और लिङ्ग की साथ सत्ता पाई जाती है, उसे हम पक्ष कहते हैं। इस उदाहरण में पर्वत पक्ष है जहाँ अग्नि की सत्ता धूम को देखकर सिद्ध करते हैं।

अब अनुमान की परिभाषा इस प्रकार होगी।

लिङ्ग और साध्य में व्याप्ति-सम्बन्ध-ज्ञान से जहाँ पक्ष में लिङ्ग के प्रत्यक्ष से साध्य की सत्ता सिद्ध की जाती है, वहाँ हमारी विचार-क्रिया अनुमान कहलाती है। इस उदाहरण में धूम लिङ्ग अथवा हेतु है। इसका अग्नि के साथ व्याप्ति सम्बन्ध है। इसे देखकर अप्रत्यक्ष भी अग्नि की सत्ता पर्वत अर्थात् पक्ष में स्वीकार की जाती है। अनुमान का एक उदाहरण यह भी हो सकता है : मैं मरणशील हूँ। यहाँ "मैं" पक्ष है जिसमें 'मरणशीलता' साध्य को सिद्ध करना है। यहाँ मरणशीलता का प्रत्यक्ष ज्ञान तो नहीं, परन्तु अनुमान ज्ञान सम्भव है। इसमें हेतु अथवा लिङ्ग जिसका असन्दिग्ध ज्ञान हमें हो सकता है वह है कि मैं मनुष्य हूँ। मनुष्यता और मरणशीलता में व्यापक सम्बन्ध है जो इस उदाहरण में अनुमिति करण का आधार है।

अनुमान में जिस विचार-क्रिया से काम लिया जाता है उसे लिङ्ग परामर्श भी कहते हैं। लिङ्ग का यहाँ अर्थ वह चिह्न अथवा ज्ञापक गुण है जो लीन अथवा गुप्त अर्थ का बोध कराता है। लीन अथवा गुप्त अर्थ वह पदार्थ अथवा गुण है जिसका प्रत्यक्ष ज्ञान संभव न हो, परन्तु जो किसी चिह्न के द्वारा जाना जा सकता हो। इस चिह्न अथवा लिङ्ग के ऊपर शुद्ध विचार करना (परामर्श) ही अनुमान है। परामर्श के द्वारा हम पर, पक्ष में लिङ्ग का विद्यमान होना, और लिङ्ग और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध होना, इन पर विचार करके पक्ष में साध्य गुण को सिद्ध करते हैं।

परामर्श क्रिया के दो रूप हैं। एक वह जिसके द्वारा हम स्वयं अनुमिति उत्पन्न करते हैं। यह निष्कर्ष का स्वयं अन्वेषण है। इसमें हम दूसरे को समझाने का प्रयत्न न कर, स्वयं समझने का प्रयत्न करते हैं। यह विचार की पहली क्रिया है। इसका नाम स्वार्थानुमान है। इसमें निम्नलिखित विचार का क्रम रहता है।

१—व्याप्ति ज्ञान :- विचारक अपने पूर्व अनुभव से लिङ्ग और साध्य को एक साथ उपस्थित और एक साथ अनुपस्थित देखकर व्याप्ति ज्ञान प्राप्त करता है। जहाँ धूआँ विद्यमान है वहाँ अग्नि रहती है। यह लिङ्ग (धूआँ) और साध्य (अग्नि) का साथ विद्यमान होना अन्वय सहचार कहलाता है। जहाँ अग्नि

नहीं है वहाँ धूआँ भी नहीं होता। यह दोनों का व्यतिरेक सहचार है। एक के होने पर दूसरे का होना, एक के न होने पर दूसरे का न होना—यह दोनों का साहचर्य कहलाता है। इस अन्वय और व्यतिरेक साहचर्य के अनुभव से व्याप्ति ज्ञान उत्पन्न होता है। कोई भी अनुमान क्रिया इस नियम के ज्ञान बिना सम्भव नहीं।

यहाँ पाठक को एक कठिनाई प्रतीत हो सकती है। वह यह कि यह असन्दिग्ध साहचर्य ज्ञान केवल साधारण अनुभव से उत्पन्न नहीं हो सकता। हम कुछ ही स्थानों पर धूआँ और अग्नि को साथ देख पाते हैं सब स्थानों पर संभव नहीं। हम 'सब' का अनुभव ही नहीं कर सकते इसका उत्तर भारतीय न्याय शास्त्र मनुष्य में एक अद्भुत शक्ति को मान कर देते हैं। अपने साधारण प्रत्यक्ष अनुभव से हम अग्नि और धूएँ को देखते हैं। यह 'व्यक्ति' का अनुभव है। परन्तु मनुष्य की बुद्धि में एक और शक्ति है जिसके द्वारा वह सामान्य गुण का अनुभव भी कर सकती है। इस शक्ति के द्वारा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव से भी सामान्य का ज्ञान उत्पन्न हो सकता है। इसका नाम सामान्य-लक्षण प्रत्यासत्ति है। इसी से व्याप्ति ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

२ लिङ्ग प्रत्यक्ष :—व्याप्ति ज्ञान तत्काल ही नहीं होता। इसका ज्ञान पहले से ही बुद्धि में रहता है। अनुमिति के समय लिङ्ग (धूएँ) का प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

३—व्याप्ति स्मृति :—लिङ्ग के प्रत्यक्ष के अनन्तर लिङ्ग जिस गुण का ज्ञापक है उसका स्मरण पूर्व अनुभव से होता है। धूएँ को देखकर अग्नि का स्मरण होता है।

४—लिङ्ग-परामर्श :—लिङ्ग, साध्य और पक्ष के परस्पर संबंध पर विचार किया जाता है।

५—निगमन :—पक्ष में साध्य की सत्ता को स्वीकार करना।

परामर्श क्रिया का दूसरा रूप परार्थानुमान कहलाता है। इसमें स्वयं समझने के अनन्तर दूसरे को अनुमिति को समझाने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें समझानेवाला व्यक्ति अपनी विचार-क्रिया को अधिक संयत और

क्रम को अधिक तर्क-युक्त बनाता है। वस्तुतः यह विचार की परीक्षण क्रिया है। इसका वैज्ञानिक महत्त्व काफ़ी है। इसमें निम्नाङ्कित क्रम रहता है।

१—प्रतिज्ञा :—समझाने के लिये हम सर्वप्रथम अंतिम निर्णय को प्रस्ताव के रूप में रखते हैं। जैसे, पर्वत अग्निमान् है। अथवा मैं मरणशील हूँ।

२—हेतु :—क्योंकि वहाँ धूआँ है, अथवा, क्योंकि मैं मनुष्य हूँ। इस स्थान पर जिस लिङ्ग अथवा हेतु से साध्य का बोध होता है, प्रस्तुत किया जाता है।

३—उदाहरण :—यहाँ लिङ्ग और साध्य में व्याप्ति संबंध को स्थिर किया जाता है; साथ ही जिस साहचर्य के अनुभव पर यह व्याप्ति स्थापित की जाती है उसको उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जैसे, जहाँ-जहाँ धूआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि पाई जाती है जैसे रसोई आदि। अथवा, जो-जो मनुष्य होता है वह, वह मरणशील होता है, जैसे राम, श्याम आदि।

४—उपनय :—इस स्थल पर पक्ष और व्याप्ति को एक साथ लाते हैं। पक्ष व्याप्ति-नियम के अन्तर्गत होना चाहिये, नहीं तो पक्ष में साध्य को सिद्ध करना संगत न होगा। जैसे : पर्वत पर धूआँ है जो धूआँ अग्नि का ज्ञापक है। अथवा, मैं मनुष्य हूँ, जो मनुष्यता मरणशीलता का लिङ्ग है।

५—निगमन :—यह अंतिम निष्कर्ष है जहाँ प्रस्तावित प्रतिज्ञा को प्रमिति के रूप में रक्खा जाता है। जैसे, इसलिये पर्वत अग्निमान् है। अथवा, इसलिये, मैं मरणशील हूँ।

पाश्चात्य अनुमान अथवा सिलोजिज़्म में केवल तीन वाक्य होते हैं। भारतीय अनुमान पञ्चावयव वाक्य कहलाता है। अरस्तू ने सिलोजिज़्म का संभवतः आविष्कार किया था। उससे पूर्व यूक्लिड ने ज्यामिति में इस पञ्चावयव वाक्य अनुमान का प्रयोग किया है। परन्तु अरस्तू के बाद अनुमान और सिलोजिज़्म का विकास बिल्कुल भिन्न क्रम से हुआ। इसलिये दोनों में काफ़ी अन्तर है। हम दोनों की तुलना इस प्रकार करते हैं :—

१—अनुमान पंचावयव वाक्य है। इसका अर्थ है कि सारी अनुमान क्रिया में एक ही वाक्य रहता है जिसके पाँच केवल अवयव अथवा अङ्ग हैं। सिलोजिज़्म तीन वाक्यों से मिलकर बनता है और विचार-क्रिया द्वारा उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित कर एक वाक्यता लाई जाती है। अनुमान की एक

वाक्यता अधिक स्वाभाविक और संगत प्रतीत होती है। अवयव स्वतंत्र नहीं होते। उनमें एक आन्तरिक व्यवस्था रहती है और परस्पर साकांक्ष होते हैं। सिलोजिज़्म में प्रत्येक वाक्य ऊपर से स्वाधीन और निराकांक्ष प्रतीत होता है।

२—सिलोजिज़्म का सबसे बड़ा दोष, जिसे योरोपीय विद्वान् स्वीकार करते हैं, उसमें शब्दाडम्बर पर अधिक ज़ोर है। प्रत्येक कथन जिसका प्रयोग हम विचार में करते हैं एक विशेष स्वरूप वाला होना चाहिये। ये वाक्य केवल चार प्रकार के हो सकते हैं। प्रत्येक कथन को इन्हीं में बलात् भर देना चाहिये। प्रत्येक वाक्य में उद्देश्य और विधेय स्पष्ट होने चाहिये। यदि सिलो-जिज़्म में से भाषा के इस विश्लेषण को हटा दिया जाये तो यह सारा भवन बालू के भवन की भाँति गिर जायगा। भारतीय अनुमान में भाषा का इतना महत्त्व नहीं है जितना विचार की शुद्धता का। इसमें वाक्य और पदों को इतना व्यर्थ महत्त्व नहीं दिया गया। इटली के प्रसिद्ध दार्शनिक क्रोचे ने अनु-मान की इस दृष्टि से बड़ी प्रशंसा और सिलोजिज़्म की निन्दा की है।

३—अनुमान में पाँच अवयव होते हैं, सिलोजिज़्म में केवल तीन। अनु-मान में किसी के अनुसार पहले तीन, किसी के अनुसार अंतिम तीन वाक्य हो सकते हैं। यदि पहले तीन वाक्य लें तो प्रथम निष्कर्ष, दूसरा पक्ष और तीसरा साध्य वाक्य होगा, यह सिलोजिज़्म का विपरीत क्रम है। अंतिम तीन वाक्यों का क्रम ठीक सिलोजिज़्म जैसा है।

४—अनुमान में तीन अवयव होते हैं जिन्हें पक्ष, हेतु अथवा लिङ्ग और साध्य कहते हैं। सिलोजिज़्म में तीन पद पक्ष, हेतु और साध्य कहलाये जाते हैं। वस्तुतः अनुमान में पक्ष का अर्थ वह वस्तु है जिसमें साध्य की सत्ता सिद्ध की जाती है। सिलोजिज़्म का पक्ष निष्कर्ष का उद्देश्य पद कहलाता है। साध्य वह गुण है जो पक्ष में विद्यमान सिद्ध किया जाता है। सिलोजिज़्म में साध्य निष्कर्ष का विधेय पद कहलाता है। हेतु और लिङ्ग साध्य का ज्ञापक गुण और चिह्न है। सिलोजिज़्म में हेतु उद्देश्य और विधेय को जोड़ देनेवाला मध्यम पद होता है।

५—अनुमान वस्तु और स्वरूप दोनों प्रकार से ही निष्कर्ष की सत्यता को सिद्ध करता है जब कि सिलोजिज़्म केवल स्वरूप के सत्य की ही चिन्ता करता

है। उदाहरण में अनुमान न केवल व्याप्ति को उपस्थित करता है, साथ ही आगमन विधि द्वारा उसकी स्थापना भी करता है।

६—अनुमान में आगमन और निगमन दोनों का स्वाभाविक समन्वय है। इनका अलग होना अस्वाभाविक हैं, क्योंकि प्रत्येक विचार-क्रिया में दोनों का प्रयोग होता है। सिलोजिज़्म केवल निगमनात्मक क्रिया है। अनुमान आगमन-निगमनात्मक दोनों है।

७—अनुमान में सर्वप्रथम प्रतिज्ञा को उपस्थित करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि बुद्धि अपनी अंतिम, अभीष्ट दिशा को पहचानने लगती है और एक-चित्त हो जाती है। विचार की दृष्टि से भी मन की एकता के कारण फिर असंगत, असम्बद्ध अथवा अनर्गल निष्कर्ष का भय नहीं रहता। प्रतिज्ञा निष्कर्ष की पुनरुक्ति-मात्र नहीं होती, क्योंकि दोनों के कार्य और स्वरूप भिन्न होते हैं।

८—अनुमान में वाक्यों का क्रम अधिक स्वाभाविक है। सिलोजिज़्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना पूर्ण और पुष्ट नहीं है।

९—अनुमान में उपनय में हम पक्ष, साध्य और लिङ्ग के परस्पर संबंध को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः इनका सम्बन्ध ही अनुमिति का उत्पादक है। सिलोजिज़्म में पहले वाक्य में साध्य और हेतु पद को जोड़ा जाता है; दूसरे वाक्य में हेतु पद को पक्ष के साथ सम्बद्ध किया जाता है। दोनों वाक्य एक दूसरे से निराकांक्ष प्रतीत होने के कारण स्पष्ट रूप से पक्ष और साध्य को जोड़ने के लिये एक नये और पृथक् प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। उपनय में हम पक्ष में उस लिङ्ग की सत्ता स्वीकार करते हैं जो इसलिये लिङ्ग अथवा हेतु है क्योंकि वह किसी परोक्ष अथवा लीन अर्थ (साध्य) का ज्ञापक है।

अनुमान के कई भेद इस प्रकार किये जाते हैं :—

१—पूर्ववत् अनुमान:—जहाँ हम कारण का प्रत्यक्ष अनुभव करके अथवा कारण को लिङ्ग मान कर कार्य का जो परोक्ष है अनुमान करते हैं, वहाँ हम पूर्ववत् अनुमान का प्रयोग करते हैं। जैसे, बादल को देखकर वर्षा का अनुमान करना। कारण (लिङ्ग) से कार्य (साध्य) का अनुमान पूर्ववत् कहलाता है।

एक दूसरी विचार-परम्परा के अनुसार, पूर्ववत् का अर्थ है वे अनुमान

जिनमें हम पूर्व अनुभव से प्राप्त व्याप्ति-नियम का प्रयोग करते हैं, चाहे वे कारण-कार्य अथवा किसी अन्य संबंध को सूचित करते हों। इसके अन्तर्गत पिछले सब अनुमान हैं।

२—शेषवत् :—जहाँ हम कार्य से कारण का अनुमान करते हैं, जैसे नदी की बाढ़ देखकर गत वर्षा का अनुमान करना। यहाँ कार्य लिङ्ग और कारण अनुमेय साध्य होता है।

इसका दूसरा अर्थ भी है। जहाँ हम कई विकल्पों में से एक को छोड़कर सब का निराकरण कर देते हैं और इस प्रकार शेष की स्थापना करते हैं, वहाँ इस अनुमान का प्रयोग होता है, जैसे, चैतन्य या तो शरीर का गुण है, या मन का या प्राण का या बुद्धि का या आत्मा का। यहाँ शरीर आदि का गुण नहीं हो सकता, इसलिये शेष आत्मा का गुण है।

३—सामान्यतो दृष्ट :—एक परम्परा के अनुसार पूर्ववत् और शेषवत् केवल वे अनुमान हैं जिनमें कारण-कार्य संबंध रखनेवाली व्याप्ति होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ अन्वय और व्यतिरेक साहचर्य से व्याप्ति तो स्थापित हो, परन्तु कारण-कार्य के अतिरिक्त संबंध हो, वहाँ सामान्यतो दृष्ट अनुमान का प्रयोग होता है।

दूसरी परम्परा के अनुसार जहाँ सामान्य नियम के अनुसार परोक्ष का अनुमान किया जाता है वहाँ यह अनुमान होता है। जैसे, बहुत दूरी पर कोई व्यक्ति चलता हुआ प्रतीत नहीं होता; सूर्य, पृथ्वी आदि में अथवा घड़ी की घंटे वाली सुई चलती प्रतीत नहीं होती। परन्तु चलती हैं अवश्य। इनकी चाल का अनुमान स्थान-परिवर्त्तन को देखकर किया जाता है, क्योंकि यह सामान्य अनुभव है कि बिना गति के स्थान-परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

एक और विचार के अनुसार सामान्यतो दृष्ट का अर्थ सामान्य नियम का उपयोग उन स्थलों पर करना होता है जहाँ अन्य किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष अनुभव की सम्भावना नहीं। जैसे आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि। सामान्य नियम यह है कि गुण बिना किसी द्रव्य के नहीं टिक सकता। गुण को द्रव्य का आधार चाहिये। चैतन्य एक गुण है, जो शरीरादि का गुण नहीं हो सकता। तब जिस पदार्थ का गुण चैतन्य है वही वस्तु आत्मा है।

ऊपर के अतिरिक्त अनुमान के तीन और भेद किये गये हैं। ये निम्न प्रकार हैं :—

१—केवलान्वयी :—ये वे अनुमान हैं जिनमें व्याप्ति केवलान्वयी होती है। अन्वय हेतु और साध्य का वह सम्बन्ध है जिसमें दोनों एक साथ पाये जायँ। जितने उदाहरणों में दोनों का सत्ता में सहचार पाया जाता है उन्हें सपक्ष उदाहरण कहा जाता है। जिन उदाहरणों में दोनों, हेतु और साध्य, साथ न पाये जायें अर्थात् उनका अभाव में साहचर्य हो, उन्हें विपक्ष उदाहरण कहा जाता है। केवलान्वयी व्याप्ति वह है जिसमें सब उदाहरण सपक्ष हों और कोई विपक्ष उदाहरण पाना असम्भव हो। जैसे, शब्द अभिधेय है (नाम से सूचित करने योग्य), क्योंकि वह ज्ञेय है (जानने योग्य है) और जो जो वस्तु ज्ञेय होती है वह अभिधेय होती है, जैसे, मनुष्य, पर्वत आदि। यहाँ 'जो जो ज्ञेय है वह अभिधेय है' यह केवलान्वयी व्याप्ति है। इसमें एक भी विपक्ष उदाहरण मिलना असम्भव है, क्योंकि हम किसी वस्तु को अज्ञेय नहीं कह सकते जिसे हम वस्तु नाम से पुकार सकते हैं। सभी वस्तुएँ जो ज्ञेय हैं वे सभी अभिधेय भी हैं।

२—केवल व्यतिरेकि :—इसमें व्याप्ति केवल व्यतिरेकि होती है अथवा यहाँ विपक्ष उदाहरण तो मिलते हैं, सपक्ष कोई नहीं मिलता। न्याय दर्शन के अनुसार गन्ध केवल पृथ्वी का गुण हो सकता है अन्य किसी पदार्थ का नहीं। यदि हम सिद्ध करना चाहें कि पृथ्वी एक स्वतंत्र तत्व है जो अन्य तत्वों से भिन्न है तो गन्ध और दूसरे तत्वों में जो व्याप्ति सम्बन्ध होगा वह केवल अभावात्मक ही होगा अर्थात् जो जो अन्य तत्व हैं उनमें गन्ध विद्यमान न होगी। यह व्याप्ति केवल व्यतिरेकि व्याप्ति कहलायेगी। इसका अनुमान इस प्रकार होगा :—

पृथ्वी अन्य तत्व है, क्योंकि उसमें गन्ध होती है; जो जो अन्य तत्व है, उसमें गन्ध नहीं होती।

सिलोजिज़्म की दृष्टि से केवलान्वयी अनुमान का सिद्ध संयोग ए ए ए है जो पहले आकार में प्रयुक्त है। केवल व्यतिरेकि अनुमान ई ए ए है जो सिलोजिज़्म की दृष्टि से असंगत है, क्योंकि दोनों आधार वाक्यों में से एक भी निषेधात्मक होने से निष्कर्ष में विधान नहीं किया जा सकता।

३—अन्वय व्यतिरेकि वे अनुमान हैं जिनमें व्याप्ति सम्बन्ध दोनों प्रकार का हो सकता है। जैसे: जहाँ-जहाँ धूम पाया जाता है वहाँ अग्नि मिलती है: (अन्वय व्याप्ति) और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं पाई जाती वहाँ धूम भी नहीं पाया जाता (व्यतिरेकि व्याप्ति)।

भारतीय अनुमान में लिङ्ग अथवा हेतु का महत्व अधिक है। हेतु के दोष से अनुमान भी दुष्ट हो जाता है और शुद्ध होने से अनुमान भी शुद्ध रहता है। विचार के सभी दोषों को न्याय-शास्त्र में हेत्वाभास कहा गया है, क्योंकि अशुद्ध अनुमानों में हेतु संगत न होकर केवल हेतु की भाँति प्रतीत होता है। हेतु के इस महत्व के कारण हम यहाँ शुद्ध, निर्दोष हेतु के लक्षणों का अध्ययन करेंगे। ये लक्षण पाँच हैं।

१—पक्षता अथवा पक्षधर्मता :—प्रत्येक निर्दोष अनुमान में पक्ष में पक्षता गुण का होना आवश्यक है। यह गुण उसी समय हो सकेगा जब उसमें 'हेतु' निश्चयपूर्वक विद्यमान हो। यदि पर्वत में धूम नहीं है तो उसमें साध्य अर्थात् अग्नि की सत्ता सिद्ध करना असंगत है।

२—सपक्षे सत्ता :—हेतु न केवल पक्ष में ही विद्यमान होना चाहिये (केवल पक्ष में विद्यमान होना तो दोष है) परन्तु उस प्रकार के सभी पक्षों में विद्यमान होना चाहिये। केवल पर्वत में धूम विद्यमान होने के कारण हम उसमें अग्नि का अनुमान नहीं कर सकते, परन्तु पर्वत के सपक्ष सभी स्थानों में जैसे रसोई आदि धूम होने से अग्नि की सत्ता सिद्ध होनी चाहिये।

३—विपक्षाद् व्यावृत्ति :—हेतु विपक्ष उदाहरणों में विद्यमान न होना चाहिये। यदि जहाँ अग्नि नहीं है जैसे तालाब आदि वहाँ भी धूम विद्यमान हो तो धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान असंगत होगा।

४—अबाधित सत्ता :—अनुमान का महत्व प्रत्यक्ष के अनन्तर है। यदि हम किसी हेतु से पक्ष में साध्य को सिद्ध करते हैं, परन्तु उस साध्य को प्रत्यक्ष द्वारा असिद्ध कर सकते हैं, तो प्रत्यक्ष प्रबल प्रमाण होने के कारण इस हेतु को असत्य सिद्ध कर देगा। किसी अनुमान में ऐसा हेतु न होना चाहिये जिसके साध्य को प्रत्यक्ष आदि द्वारा असिद्ध किया जा सके।

५—असत्प्रतिपक्ष :—यदि एक हेतु से साध्य की सत्ता सिद्ध हो जाये,

परन्तु दूसरे हेतु से उसी साध्य का अभाव सिद्ध हो जाये और दोनों हेतुओं में समान ही सामर्थ्य और प्रामाणिकता हो तो इस अवस्था में दोनों हेतु परस्पर विरोधी होंगे। इनमें से कोई भी निर्दोष स्वीकार नहीं किये जा सकता।

जहाँ कहीं निर्दोष हेतु के लक्षणों में कमी रह जाती है वहाँ अनुमान दुष्ट हो जाता है। अनुमान के दोषों को हेत्वाभास कहा जाता है। भारतीय न्याय शास्त्र में अनुमान वास्तविक सत्य को सिद्ध करता है, न केवल स्वरूप गत सत्य को। अनुमान के सारे दोष और त्रुटियाँ अशुद्ध हेतु से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये इन्हें हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास पाँच हैं जो निम्न प्रकार हैं।

१—सव्यभिचार :—शुद्ध हेतु के लक्षणों के अनुसार हेतु और साध्य की सपक्ष में सत्ता और विपक्ष में अभाव का साहचर्य होना चाहिये। यदि इस नियम की कहीं अवहेलना होती है तो सव्यभिचार उत्पन्न हो जाता है। सव्यभिचार तीन प्रकार से होता है।

क—साधारण :—यदि हेतु सपक्ष उदाहरणों के अतिरिक्त भी कहीं विद्यमान हो अर्थात् उन स्थलों पर भी विद्यमान हो जहाँ साध्य नहीं है तो वहाँ साधारण सव्यभिचार दोष होता है। जैसे :—शब्द नित्य है, क्योंकि यह ज्ञातव्य वस्तु है और सभी ज्ञातव्य वस्तु नित्य होती हैं। यहाँ 'ज्ञातव्य वस्तु' शब्द के नित्य होने का हेतु दिया गया है। परंतु 'ज्ञातव्य वस्तु' यह हेतु नित्य पदार्थों में जैसे आत्मा, काल, दिशा आदि में तो पाया ही जाता है, साथ ही अनित्य पदार्थों में भी पाया जाता है, जैसे पर्वत, मनुष्य आदि।

ख—असाधारण :—यदि हेतु सारे सपक्ष उदाहरणों में भी विद्यमान न हो, केवल पक्ष में ही हो तो यह हेत्वाभास कहलाता है। जैसे : शब्द नित्य है क्योंकि वह सुना जा सकता है और जो वस्तु सुनी जा सकती हैं वे नित्य हैं। यहाँ 'सुना जा सकना' शब्द के नित्य होने का हेतु है। यह अशुद्ध है, क्योंकि 'सुना जा सकना' यह सभी नित्य पदार्थों का गुण न होकर केवल शब्द का ही गुण है।

ग—अनुपसंहारी :—जहाँ हेतु इतना व्यापक हो कि सपक्ष और विपक्ष उदाहरणों का मिलना असम्भव हो, वहाँ यह दोष होता है। जैसे : सभी पदार्थ नित्य हैं, क्योंकि सभी पदार्थ ज्ञातव्य हैं। यहाँ 'ज्ञातव्य, हेतु सभी पदार्थों का गुण है; इसलिये नित्य और अनित्य उदाहरणों में भेद करना असम्भव है।

२—विरुद्ध :—निर्दोष हेतु से साध्य की सत्ता पक्ष में सिद्ध होना चाहिये। यदि हेतु ऐसा हो कि सत्ता के स्थान पर अभाव ही सिद्ध करे तो विरुद्ध हेत्वाभास होगा। जैसे : शब्द नित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यहाँ 'उत्पन्न होना' शब्द को नित्य सिद्ध करने के स्थान पर अनित्य सिद्ध करता है।

३—सत्प्रतिपक्ष :—यदि एक हेतु से किसी पक्ष में साध्य की सत्ता सिद्ध करें और दूसरे हेतु से उसी पक्ष में साध्य का अभाव सिद्ध हो जाये। साथ ही दोनों हेतुओं में एक को स्वीकार और दूसरे को त्यागना असंगत हो, वहाँ यह दोष उत्पन्न होता है। जैसे : शब्द नित्य है, क्योंकि वह सुना जा सकता है। शब्द अनित्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। यहाँ शब्द को नित्य अथवा अनित्य सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि शब्द में दोनों हेतु समान रूप से विद्यमान हैं—'सुना जा सकना' और 'उत्पन्न होना'।

४—असिद्ध :—यदि हेतु ऐसा हो कि स्वयं ही स्वतंत्र रूप से सिद्ध न हो, परन्तु उसको भी सिद्ध करने की आवश्यकता हो, तो वह साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ होगा। इसके तीन रूप होते हैं।

क—आश्रयासिद्ध :—यदि हेतु ऐसा हो कि जिस पक्ष में उसे विद्यमान माना गया है, वह पक्ष ही स्वयं असिद्ध अथवा असंगत हो तो हेतु सत्य निष्कर्ष देने में असमर्थ होगा। जैसे : आकाश-कमल सुगन्धित होता है, क्योंकि वह कमल है। यहाँ 'कमल होना' हेतु है। परन्तु पक्ष 'आकाश-कमल' स्वयं ही असम्भव वस्तु है। इसलिये इसको सुगन्धित सिद्ध करना असंगत है।

ख—स्वरूपासिद्ध :—यदि हेतु ऐसा हो कि वह स्वभाव से ही पक्ष में न पाया जा सकता हो तो स्वरूपासिद्ध होगा। जैसे : शब्द नित्य है क्योंकि वह दृश्य वस्तु है। यहाँ शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिये उसको दृश्य वस्तु माना गया है। परन्तु शब्द में 'दृश्य' गुण का पाया जाना स्वभाव से ही असम्भव है।

ग—व्याप्यत्वासिद्ध :—व्याप्ति सम्बन्धों में साहचर्य नियम होता है जैसे : जहाँ धूम पाया जाता है वहाँ अग्नि पाई जाती है। यहाँ अग्नि अधिक व्यापक है और धूम व्याप्य है अर्थात् जहाँ धूम पाया जाता है वहाँ अग्नि तो अवश्य मिलेगी, परंतु जहाँ अग्नि हो वहाँ सदा धूम पाया जाना आवश्यक

नहीं। अग्नि में धूम वहाँ पाया जाता है जहाँ गीला ईंधन पाया जाये। इस-लिये अग्नि से धूम का अनुमान केवल कुछ परिस्थितियों में ही ठीक हो सकता है। अग्नि और धूम की व्याप्ति सोपाधिक है जब कि धूम और अग्नि में निरु-पाधिक व्याप्ति सम्बन्ध है। जहाँ हम सोपाधिक व्याप्ति से अनुमान करते हैं, वहाँ यह दोष उत्पन्न हो जाता है।

५—बाधित :—यह हेत्वाभास उस समय उत्पन्न होता है जब हम किसी हेतु से ऐसा साध्य सिद्ध करने का प्रयत्न करें जिसका निषेध और निराकरण प्रत्यक्ष या अनुमान से भी अधिक प्रबल प्रमाण से किया जा सके। यदि हम अग्नि को शीतल सिद्ध करने का प्रयत्न करें तो यह किसी भी हेतु से सम्भव नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष इस अनुमान ज्ञान का विरोध करता है। प्रत्यक्ष का विरोधी कोई हेतु किसी साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता।

उभयतःपाश

उभयतःपाश एक युक्ति-विशेष का नाम है जिसका निष्कर्ष दोनों (उभयतः) ओर से हमें अग्राह्य बन्धन (पाश) में बाँधने के कारण दुःखद प्रतीत होता है। यूनान देश में इस युक्ति की तुलना दो सींग वाले क्रुद्ध सांड से की जाती थी जो भयंकर आक्रमण करने के लिये उद्यत है। यहाँ हमें इस युक्ति के स्वरूप, नियम और सत्य अथवा असत्य का अध्ययन करना है। बहुधा यह प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु बहुधा ही यह ऊपर से प्रबल प्रतीत होने पर भी निर्बल, भ्रामक और असत्य होता है।

इसका स्वरूप :—इसमें पहला आधार वाक्य संयुक्त हेतु फलाश्रित वाक्य होता है। इसमें दो हेतुओं का उल्लेख रहता है जिनके ऊपर आश्रित दो फल प्रस्तुत किये जाते हैं। हेतु और फल में कई प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं : (क) एक ही हेतु से दो भिन्न फल उत्पन्न हों, जैसे, यदि भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया तो या तो इसके ऊपर बाहरी देशों का आक्रमण होगा या इसमें आन्तरिक अशान्ति होगी। (ख)—दो भिन्न अथवा विरोधी हेतुओं से एक ही अथवा समान फल की उत्पत्ति, जैसे, यदि मनुष्य विवाह करता है तो वह कुटुम्ब-चिन्ता से दुखी रहता है; यदि वह विवाह नहीं करता तो वह अकेला होने से दुखी रहता है। (ग)—दो भिन्न हेतुओं से दो भिन्न परंतु समान परिणाम वाले फल प्रस्तुत किये जाते हैं। जैसे, यदि जन सेवा करने में मनुष्य सत्य भाषण करता है तो लोगों को रुष्ट करता है (अतः जन-सेवा कार्य त्याज्य है); यदि वह असत्य भाषण करता है तो देवताओं को रुष्ट करता है (यह भी हमें मान्य नहीं)।

दूसरे वाक्य में, हेतुफलाश्रित सिलोजिज़्म की भाँति, या तो हेतु का विधान किया जाता है, जिससे निष्कर्ष में फल का विधान हो सके, अथवा, फल का निषेध किया जाता है जिससे निष्कर्ष में हेतु का निषेध किया जा सके। यह वाक्य निरपेक्ष अथवा वैकल्पिक हो सकता है। यदि पहले वाक्य में

एक हेतु अथवा फल का उल्लेख है तो वाक्य निरपेक्ष रहेगा; यदि दो हेतु अथवा फल का उल्लेख है तो वाक्य वैकल्पिक रहता है।

इसके निष्कर्ष में फल का विधान अथवा हेतु का निषेध किया जा सकता है। निष्कर्ष वाक्य का निरपेक्ष अथवा वैकल्पिक होना भी हेतु अथवा फल के एक या दो होने पर निर्भर है। स्मरण रहे, उभयतःपाश का निर्णय सदा अग्राह्य और अप्रिय होता है।

हेतु के विधान से फल का विधान करने वाली उभयतःपाश युक्तियाँ विधायक कहलाती हैं। फल के निषेध से हेतु का निषेध करने वाली विघातक कहलाती हैं। इन दोनों में यदि निष्कर्ष निरपेक्ष वाक्य हो तो वह सरल, यदि वैकल्पिक हो तो कहलाई जाती है संश्लिष्ट। इस प्रकार इसके चार भेद होते हैं: १—सरल विधायक, २—संश्लिष्ट विधायक, ३—सरल विघातक, ४—संश्लिष्ट विघातक। इनके पृथक् उदाहरण नीचे दिये गये हैं।

१—सरल विधायक उभयतःपाश—यदि आत्मा अमर है तो मृत्यु-भय व्यर्थ है। यदि आत्मा मरणशील है तो भी मृत्यु-भय व्यर्थ है।

परंतु आत्मा या तो अमर हो सकता है या मरणशील।

इसलिये मृत्यु-भय व्यर्थ है।

२—संश्लिष्ट विधायक उभयतःपाश—यदि क्षत्रिय युद्ध में मारा जाता है तो उसे स्वर्ग-सुख प्राप्त होता है, और यदि वह जीवित रहता है तो पृथ्वी का सुख प्राप्त होता है।

क्षत्रिय युद्ध में या तो मारा जाता है या जीवित रहता है।

इसलिये या तो उसे स्वर्ग का या पृथ्वी का सुख प्राप्त होता है।

३—सरल विघातक उभयतःपाश—यदि वस्तुओं का मूल्य गिरता है तो या तो किसानों को हानि पहुँचती है या दूसरे लोगों को लाभ होता है।

परंतु या तो हम किसानों की हानि नहींचाहते या दूसरों का लाभ नहीं चाहते।

इसलिये वस्तुओं का मूल्य नहीं गिरना चाहिये।

४—संश्लिष्ट विघातक उभयतःपाश—यदि मनुष्य हँसता है तो वह ईश्वर का अपमान करता है; यदि वह रोता है तो वह मानवता से गिर जाता है।

परन्तु उसे न तो ईश्वर का अपमान करना चाहिये और न मानवता से गिरना चाहिये।

इसलिये न तो उसे रोना चाहिये न हँसना चाहिये।

उभयतःपाश की एक विशेषता यह भी है कि उसका विरोधी तर्क उसी की सामग्री में से प्रस्तुत किया जा सकता है। मूल उभयतःपाश का विरोधी तर्क भी उतना ही दृढ़ अथवा निर्बल होता है। उसे हम आसानी से अस्वीकार नहीं कर सकते। यह तर्क मूल-तर्क का प्रतिक्षेपक कहलाता है और इस प्रक्रिया का नाम प्रतिक्षेप है। प्रतिक्षेप करने के लिये दो नियम हैं : १—हेतु और फल के सम्बन्ध को बदलना चाहिये अर्थात् पहले हेतु के साथ दूसरे फल को, दूसरे हेतु के साथ पहले फल को जोड़ देना चाहिये। २—फल के गुण को बदलना चाहिए अर्थात् विधान को निषेध में और निषेध को विधान में परिवर्त्तित कर देना चाहिये।

जैसे, मूलतक—यदि मनुष्य विवाह करता है तो वह कुटुम्ब चिन्ता से दुःखी रहता है, और, यदि वह विवाह नहीं करता तो एकाकी रहने से दुःखी रहता है।

मनुष्य या तो विवाह करता है या नहीं।

इसलिये वह दोनों प्रकार से दुःखी रहता है।

प्रतिक्षेपक तर्क—यदि मनुष्य विवाह करता है तो वह एकाकी न रहने से दुखी नहीं रहता। और यदि वह विवाह नहीं करता तो कुटुम्ब चिन्ता से दुःखी नहीं रहता।

मनुष्य या तो विवाह करता है या नहीं।

इसलिये वह दोनों प्रकार से दुखी नहीं रहता।

संसार के कुछ प्रसिद्ध तर्क और प्रतितर्क हैं जिनका हम नीचे उल्लेख करते हैं। एक ग्रीक युवक सार्वजनिक सेवा में जीवन बिताना चाहता था, परन्तु उसकी माता नहीं। माता ने युवक को समझाने के लिये निम्नलिखित उभयतःपाश प्रस्तुत किया।

माता : यदि सार्वजनिक जीवन बिताने में तुम सत्य बोलोगे तो लोग अप्रसन्न होंगे; यदि असत्य बोलोगे तो देवता। इसलिये तुम्हें सार्वजनिक सेवा में भाग न लेना चाहिये।

पुत्र ने प्रतिक्षेपक तर्क इसी सामग्री में परिवर्त्तन के द्वारा उपस्थित किया।

पुत्र : यदि सार्वजनिक जीवन बिताने में मैं सत्य बोलूँगा तो देवता प्रसन्न होंगे; यदि असत्य तो लोग। इसलिये सार्वजनिक सेवा का जीवन उत्तम है।

इसी प्रकार, एक ग्रीक शिक्षक ने शिष्य को 'कानून' की शिक्षा आधी फ़ीस पेशगी लेकर दी और आधी के लिये ठहरा कि वह अभ्यास करने पर पहला अभियोग जीतने पर देगा। शिष्य ने न अभ्यास प्रारम्भ किया और न शेष रुपया दिया। गुरु ने अभियोग चलाया और निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किया।

गुरु : यदि तुम अभियोग जीतते हो तो अपने वचन के अनुसार तुम्हें शेष फ़ीस देनी चाहिये। यदि तुम अभियोग में हारते हो तो न्याय तुम्हें इसे देने को बाध्य करेगा। इसलिये जीतने और हारने पर तुम्हें रुपया देना होगा।

शिष्य भी उन्हीं गुरु का शिष्य था। उसने उत्तर दिया।

शिष्य : यदि मैं अभियोग में हारता हूँ तो अपने वचन के अनुसार मैं फीस न दूँगा। यदि मैं अभियोग में जीतता हूँ तो न्याय मुझे फीस देने को बाध्य नहीं कर सकता। इसलिये जीतने या हारने पर मैं आपको रुपया न दूँगा।

उभयतःपाश की यह विचित्रता विचारणीय है। हम नीचे इस प्रकार के तर्क की सामर्थ्य और सत्यता की परीक्षा करेंगे।

१. इस प्रकार के तर्क की सम्पूर्ण शक्ति इसके दोनों पाशों की योग्यता और सामर्थ्य पर निर्भर है। यदि दोनों पाश दृढ़ हैं और इनसे बचने का कोई उपाय नहीं तो यह तर्क वस्तुतः शक्तिशाली होगा। परन्तु खेद इस बात का है कि अधिकतर यह बात नहीं पाई जाती। बहुधा इसके दोनों या एक पाश इतने दुर्बल होते हैं कि तनिक विचार से इनका निराकरण किया जा सकता है। यदि हम इसे सींग वाला तर्क मानें तो इसके एक या दोनों सींग पकड़े जा सकते हैं। सींगों के पकड़ने या पाशों के छेदन करने को हम 'निग्रह' कहेंगे। इसका अर्थ है कि हम तर्क के दोनों हेतुफल सम्बन्धों का खंडन करते हैं। ऊपर के तर्क में : विवाह करने से मनुष्य इसलिये दुखी होता है कि उसे गृहस्थ का उत्तरदायित्व सँभालना पड़ेगा, या, इसलिये दुखी हो कि वह अकेला है, क्योंकि एकाकी मनुष्य भी सुखी हो सकता है; इसलिये हम प्रथम वाक्य को अस्वीकार

करते हैं जो इस सारे विचार का आधार है। तब तो यह तर्क निस्सार प्रतीत होने लगता है।

२. यदि हम निग्रह न कर सकें क्योंकि दोनों पाश अकाट्य हैं तो इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा मार्ग बचने के लिये बहुधा पाया जा सकता है। इसे हम निर्गमन कहेंगे। जैसे, सम्भव है कि वीर पुरुष युद्ध में मारा भी न जाये जिससे उसे स्वर्ग सुख भी न मिले, और, जीवित रहकर बन्दी बन जाये जिससे उसे पृथ्वी का सुख भी प्राप्त न हो। यदि ऐसा है तो इस तर्क से हर अवस्था में युद्ध करना ही चाहिये यह सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार यदि दोनों पाशों के बीच से निर्गमन सम्भव हो तो भी तर्क का प्रभाव कम हो जाता है।

३. लगभग प्रत्येक तर्क का प्रतिक्षेप सम्भव है। इसलिये प्रत्येक उभयतः-पाश स्वयं ही निर्बल सिद्ध हो जाता है।

४. उभयतःपाश की इस आन्तरिक दुर्बलता का कारण है इसमें विचार की द्विविधता। प्रत्येक इस प्रकार के तर्क में 'चित और पट्ट' दोनों विधि से एक ही अथवा समान निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया जाता है अर्थात् दो भिन्न और कभी विरोधी हेतुओं से एक ही फल निकालना, अथवा, एक ही हेतु से दो भिन्न फल निकालना होता है; जैसे विवाह करने से भी मनुष्य दुःखी रहता है और न करने से भी। हारने पर भी फीस देना चाहिये और जीतने पर भी। यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम एक ओर विचार करते समय दूसरी ओर को बिल्कुल भूल जायँ। यदि विवाह करने से मनुष्य दुःखी होता है तो कम से कम वह दुःख विवाह न करने से न रहना चाहिये। यदि हारने पर फ़ीस देना अनिवार्य है तो उसी कारण से जीतने पर फ़ीस देना अनिवार्य नहीं होना चाहिये। दोनों दशाओं में एक ही निष्कर्ष की सम्भावना तभी हो सकती है जब हम दो भिन्न आधारों को स्वीकार करें। जैसे, गुरु हारने पर शिष्य से फ़ीस इसलिये चाहता है कि उस दशा में शिष्य का फीस देना एक नैतिक कर्त्तव्य हो जाता है क्योंकि वह वचनबद्ध है, परन्तु जीतने पर गुरु शिष्य से फ़ीस इसलिये चाहता है कि उस दशा में न्यायालय उसे फ़ीस देने को बाध्य कर सकता है। परन्तु नैतिक कर्त्तव्य और न्यायालय की आज्ञा दो भिन्न आधार हैं। यदि दूसरी अवस्था में न्यायालय विवश कर सकता है तो पहली अवस्था में वही

न्यायालय विद्यमान है जो इस प्रकार विवश नहीं कर सकता। संक्षेप में, उभयतःपाश का रहस्य यही द्विविधता है जिसके कारण प्रतिक्षेपक तर्क की सम्भावना रहती है। प्रतिक्षेपक तर्क में हम केवल इन दो भिन्न आधारों को बदल कर इनका गुण विपर्यय कर देते हैं।

अधिकतर उभयतःपाश में स्वरूप सम्बन्धी दोष कम होते हैं। ये वस्तु सम्बन्धी दोष इसके महत्त्व को कम कर देते हैं। परन्तु ये दोष इसमें काफ़ी गहरे छिपे रहते हैं जिससे साधारणतया दीख नहीं पाते। इस कारण सब कुछ जानकर इस प्रकार के तर्क जीवन में अनगिन अवसरों पर प्रयुक्त होते हैं और हमें बहुधा भ्रम में डाल देते हैं।

संक्षिप्त और संयुक्त न्याय

साधारण जीवन में बहुधा हम सिलोजिज़्म में तीनों वाक्यों का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते। साध्य, पक्ष अथवा निष्कर्ष वाक्य को लुप्त करके संक्षिप्त न्याय का प्रयोग करते हैं। ऐसे तर्कों को लुप्तावयव न्याय कह सकते हैं। लुप्त अवयव को थोड़े विचार से स्पष्ट किया जा सकता है; इसलिये इसका स्पष्ट उल्लेख अनावश्यक समझा जाता है।

हम साध्य वाक्य को लुप्त करके प्रथम श्रेणी के लुप्तावयव अनुमान पा सकते हैं, जैसे, तुमने परिश्रम किया है, इसलिये तुम सफल होगे। यहाँ साध्य वाक्य "परिश्रम करने वाले सफल होते हैं" यह लुप्त है। भारतवर्ष स्वतंत्र है, क्योंकि इसकी विदेशी नीति दूसरों से प्रभावित नहीं है। यहाँ 'जिन देशों की विदेशी नीति दूसरों से प्रभावित नहीं होती, स्वतंत्र होते हैं' यह साध्य वाक्य निहित है।

जहाँ पक्ष वाक्य को लुप्त किया जाता है, उसे द्वितीय श्रेणी के लुप्तावयव अनुमान कह सकते हैं। जैसे : सभी परिश्रमी सफल होते हैं, इसलिये तुम भी सफल होगे। यहाँ 'तुम परिश्रमी हो' यह पक्ष वाक्य लुप्त है। सभी दार्शनिक गम्भीर होते हैं, इसलिये तुम गम्भीर हो। इत्यादि।

तृतीय श्रेणी के लुप्तावयव न्याय वे हैं जिनमें निष्कर्ष स्पष्ट न हो। जैसे, सभी परिश्रमी सफल होते हैं और तुम परिश्रमी हो। इसी प्रकार, सभी पूँजीवादी देश युद्ध चाहते हैं, अमेरिका पूँजीवादी देश है। यहाँ 'इसलिये तुम सफल होगे' 'इसलिये अमेरिका युद्ध चाहता है' ये निष्कर्ष छिपे हुए हैं।

अरस्तू के अनुसार एन्थीमीम अथवा लुप्तावयव न्याय वे हैं जिनका निष्कर्ष सन्देहास्पद हो : जैसे, कवि बहुधा आदर्शवादी होते हैं। आदर्शवादी दुखी रहते हैं, इसलिये सम्भवतः कवि आदर्श वादी होने के कारण दुखी रहते हैं।

किसी निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिये दो आधार वाक्यों की आवश्यकता होती है, चाहे उनका स्पष्ट उल्लेख हो अथवा न हो। इन दोनों आधार वाक्यों

को सिद्ध करने के लिये हम अलग दो सिलोजिज़्म का निर्माण कर सकते हैं यदि इनके साधक वाक्य मिल जायें। इसी प्रकार हम किसी सिलोजिज़्म के आधार वाक्यों को तर्क से पुष्ट करने के लिये उसके एक या दोनों आधार वाक्यों को दूसरे सिलोज़िज़्मों का निष्कर्ष बना सकते हैं और इस प्रकार यदि बहुत दूर तक पीछे चले जायें तो एक न्यायमाला का निर्माण किया जा सकता है।

प्रत्येक निष्कर्ष की सहायता से सिलोजिज़्म की विधि से और निष्कर्ष निकाला जा सकता है और इस निष्कर्ष की सहायता से इसी प्रकार और निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस प्रकार एक न्यायमाला बनाई जा सकती है। इस माला में जिस सिलोज़िज़्म के निष्कर्ष को अगले सिलोज़िज़्म का आधार बनाया है उसे उपजीव्य और अगले सिलोज़िज्म को उपजीवि कहते हैं। ऊपर जिन दो न्यायमालाओं का उल्लेख किया गया है, इनमें से पहली माला में हम निष्कर्ष से चलकर पीछे की ओर आधार वाक्यों को दूसरे सिलोज़िज़्म द्वारा पुष्ट करते हैं। इसमें हमें उपजीवि सिलोज़ज्म से उपजीव्य सिलोज़िज़्म की ओर जाना होता है। इस माला को प्रतिलोम न्यायमाला कहते हैं। जहाँ उपजीव्य से उपजीवि सिलोज़िज़्म की ओर चलते हैं उसे अनुलोम न्यायमाला कहा जाता है।

अनुलोम युक्तिमाला

युक्तिमाला में हम कई आधारों से मिलकर अन्तिम निष्कर्ष निकालते हैं। विश्लेषण करने पर एक माला में कई सिलोज़िज़्म पाये जाते हैं; परन्तु प्रथम या द्वितीय वाक्य का स्पष्ट उल्लेख न होने के कारण, ये सिलोज़िज़्म लुप्तावयव होते हैं। उदा० :

क ख होते हैं	कवि दार्शनिक होते हैं
ख ग होते हैं	दार्शनिक आदर्शवादी होते हैं
ग घ होते हैं	आदर्शवादी अतृप्त होते हैं
घ च होते हैं	अतृप्त दुःखी होते हैं
इसलिये क च होते हैं	इसलिये कवि दुःखी होते हैं।

इस माला को विश्लेषण करने के अनन्तर इस प्रकार कई सिलोजिज़्म में बाँटा जा सकता है।

१. ख ग होते हैं	१. दार्शनिक आदर्शवादी होते हैं
क ख होते हैं	कवि दार्शनिक होते हैं
इसलिये क ग होते हैं	इसलिये कवि आदर्शवादी होते हैं
२. ग घ होते हैं	२. आदर्शवादी अतृप्त होते हैं
क ग होते हैं	कवि आदर्शवादी होते हैं
इसलिए क घ होते हैं	इसलिए कवि अतृप्त होते हैं
३. घ च होते हैं	३. अतृप्त दुःखी होते हैं
क घ होते हैं	कवि अतृप्त होते हैं
इसलिये क च होते हैं	इसलिये कवि दुःखी होते हैं।

ऊपर की न्यायमाला में तीन सिलोजिज़्म हैं। पहले (उपजीव्य) सिलोजिज्म का निष्कर्ष अगले (उपजीवि) में आधार वाक्य बन जाता है और इसी प्रकार दूसरे का निष्कर्ष तीसरे में। अतः यह माला अनुलोम है। माला में अन्तिम निष्कर्ष को छोड़कर सभी लुप्त हैं और लुप्त वाक्य सिलोजिज़्म में पक्ष वाक्य है। इसलिए यह न्यायमाला द्वितीय श्रेणी के लुप्तावयव सिलोजिज़्म से मिल कर बनी है। इसका नाम अरस्तू की न्यायमाला है।

गोकलीनियस नामक एक बाद के अँगरेज दार्शनिक ने ऊपर की न्यायमाला को उलट कर एक नये प्रकार की माला तैयार की। यह इस प्रकार होगी।

घ च होते हैं	अतृप्त दुःखी होते हैं
ग घ होते हैं	आदर्शवादी अतृप्त होते हैं
ख ग होते हैं	दार्शनिक आदर्शवादी होते हैं
क ख होते हैं	कवि दार्शनिक होते हैं
इसलिये क च होते हैं	इसलिये कवि दुःखी होते हैं।

इसका विश्लेषण भी उसी प्रकार किया जा सकता है।

१. घ च होते हैं	१. अतृप्त दुःखी होते हैं
ग घ होते हैं	आदर्शवादी अतृप्त होते हैं

इसलिये ग च होते हैं

२. ग च होते हैं
ख ग होते हैं

इसलिये ख च होते हैं

३. ख च होते हैं
क ख होते हैं

इसलिये क च होते हैं

इसलिये दुखी होते हैं

२. आदर्शवादी दुखी होते हैं
दार्शनिक आदर्शवादी होते हैं

इसलिये दार्शनिक दुखी होते हैं

३. दार्शनिक दुखी होते हैं
कवि दार्शनिक होते हैं

इसलिये कवि दुखी होते हैं

दूसरी माला में भी तीन अनुलोम सिलोजिज़्म हैं। परन्तु इस बार लुप्त वाक्य साध्य वाक्य होते हैं। इसलिए यह अनुलोम न्यायमाला प्रथम श्रेणी के लुप्तावयव सिलोजिज़्म से मिलकर बनी है।

साधारणतया न्यायमाला के नियम सिलोजिज़्म के सभी नियमों का पालन करते हैं। परन्तु इसके दो विशेष नियम हैं। १. सारी न्यायमाला में केवल एक वाक्य निषेधात्मक हो सकता है। अरस्तू की माला में वह वाक्य अन्तिम और गोकलीनियस की माला में वह वाक्य प्रथम हो सकता है। कारण कि, किसी भी माला में पहले दो वाक्यों से निष्कर्ष निकाला जाता है। यदि इनमें एक भी निषेधात्मक वाक्य हो तो निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा। यह वाक्य तीसरे के साथ मिलकर दूसरा सिलोज़िज़्म बनता है। यदि तीसरा वाक्य भी निषेधात्मक हो जाये तो दो आधार वाक्य निषेधात्मक होने से कोई निष्कर्ष न होगा। इसी प्रकार कहीं भी यदि दो निषेधात्मक वाक्य माला में होंगे तो विश्लेषण करने पर वे दोनों एक साथ आ जायेंगे जिनसे कोई निष्कर्ष निकालना असंगत होगा।

यदि सम्पूर्ण माला में एक भी वाक्य निषेधात्मक है तो अन्तिम निष्कर्ष भी निषेधात्मक होगा जिससे इसका साध्य पद सर्वांशी हो जायगा। नियम के अनुसार यह पद आधार वाक्यों में भी सर्वांशी होना चाहिये। पहली माला में यह पद अन्तिम वाक्य में विधेय है और दूसरी माला में पहले वाक्य में। इसलिये यदि सारी माला में केवल एक वाक्य ही निषेधात्मक हो सकता है तो वह एक वाक्य पहली माला में अन्तिम और दूसरी माला में प्रथम हो सकता है।

२—माला का दूसरा नियम यह है कि सम्पूर्ण माला में एक ही वाक्य विशेष हो सकता है, शेष सब सामान्य वाक्य होंगे। इसका प्रमाण भी ठीक ऊपर की भाँति ही है, क्योंकि दो विशेष वाक्यों से मिलकर भी कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

पहली न्यायमाला में पहले वाक्य को छोड़कर सभी वाक्यों के उद्देश्य पदों को हेतु पद बनना पड़ता है। हेतु पद सर्वांशी होना चाहिए जिसके लिए उद्देश्य पदों को भी सर्वांशी होना आवश्यक है। परन्तु इन पदों को सर्वांशी होने के लिए इन वाक्यों का सामान्य होना अनिवार्य है। अतएव पहली माला में पहले वाक्य को छोड़कर सभी वाक्य सामान्य होने चाहियें। अतः सम्पूर्ण माला में केवल पहला वाक्य विशेष हो सकता है।

दूसरी माला में अन्तिम वाक्य का उद्देश्य पद केवल ऐसा है कि उसे हेतु पद का कार्य नहीं करना पड़ता। दूसरे वाक्यों के उद्देश्यों को सर्वांशी होना आवश्यक है इसलिए वे वाक्य भी सामान्य होने चाहिए। अतएव इस माला में केवल अन्तिम वाक्य विशेष हो सकता है।

प्रतिलोम न्यायमाला

किसी दिये हुए सिलोजिज़्म में आधार वाक्यों को सिद्ध करने के लिये दूसरे सिलोजिज़्म का आविष्कार करना होता है। इस प्रकार यदि हम बहुत दूर पीछे तक चले जायें तो एक प्रतिलोम न्यायमाला बन जाती है। यदि हम केवल एक ही आधार वाक्य को सिद्ध करें तो यह एकाकी प्रतिलोम न्यायमाला कहलायेगी। यदि दोनों को सिद्ध किया जाये तो उभय। हम एक सिलोज़िज़्म के एक या दोनों आधार वाक्यों को सिद्ध कर रुक सकते हैं। उस दशा में इसका नाम सरल प्रतिलोम न्यायमाला होगा। यदि इस उपजीव्य सिलोज़िज़्म के आधारों को भी सिद्ध करें तो इसे हम संकुल प्रतिलोम न्यायमाला कहेंगे।

इस प्रकार इस माला के चार रूप हो सकते हैं। १—सरल-एकाकी प्रतिलोम न्यायमाला, २—सरल-उभय, ३—संकुल-एकाकी और ४—संकुल उभय।

इनके निम्नलिखित उदाहरण हैं :—

१—सरल एकाकी

सब क ख हैं
सब अ क हैं
इसलिये सब अ ख हैं

परन्तु सब ग ख हैं
सब क ग हैं
इसलिये सब क ख हैं।

सब महान् पुरुष क्रांतिकारी होते हैं
सब प्रगतिशील व्यक्ति महान् पुरुष होते हैं
इसलिये सब प्रगतिशील व्यक्ति क्रान्तिकारी होते हैं

परन्तु सब अन्याय को न सहनेवाले क्रान्तिकारी होते हैं
सब महान् पुरुष अन्याय को न सहनेवाले होते हैं
इसलिये सब महान् पुरुष क्रान्तिकारी होते हैं।

२—सरल-उभय—ऊपर के उदाहरण में 'सब क ख हैं' इस साध्य वाक्य को उपजीव्य सिलोजिज़्म द्वारा सिद्ध किया गया है। यदि 'सब अ क हैं' इस पक्ष वाक्य को भी इसी प्रकार सिद्ध किया जाये तो यह सरल-उभय प्रतिलोम न्यायमाला का उदाहरण हो जायगा। इसे हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं।

परन्तु, सब वर्त्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट पुरुष महान् पुरुष होते हैं
सब प्रगतिशील व्यक्ति वर्त्तमान परिस्थिति से असन्तुष्ट होते हैं
इसलिये सब प्रगतिशील व्यक्ति महान् पुरुष होते हैं।

३—संकुल एकाकी

सब क ख हैं
सब अ क हैं
इसलिये सब अ ख हैं।

यह उपजीवि सिलोज़िज़्म है। इसके एक वाक्य को सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित उपजीव्य न्याय है :—

सब ग ख हैं
सब क ग हैं
इसलिये सब क ख हैं।

यहाँ फिर 'सब ग ख हैं' इसको सिद्ध करने के लिये निम्नलिखित न्याय दिया जा सकता है।

सब घ ख हैं
सब ग घ हैं

इसलिये सब ग ख हैं।

४—संकुल उभय— इसमें पहले उपजीवि न्याय के दोनों वाक्यों को दो उपजीव्य न्यायों से सिद्ध किया जाता है। फिर इन उपजीव्य न्यायों के आधार वाक्यों को अन्य उपजीव्य न्यायों से सिद्ध किया जाता है। उदाहरण सरल है।

इन न्यायमालाओं में उपजीव्य सिलोजिज़्म को पूर्णतया स्पष्ट उल्लेख करना आवश्यक नहीं होता। कहीं पर आधार वाक्यों में किसी एक को अनुक्त रक्खा जा सकता है। न्यायमाला के नियम साधारण सिलोजिज़्म के नियमों से भिन्न नहीं हो सकते।

सिंहावलोकन

पिछले पृष्ठों में हमने इन प्रश्नों पर विचार किया है : १—विचार क्या वस्तु है ? २—इसके विविध रूप क्या हैं ? ३—विचार की सत्यता का निर्णय किन सिद्धान्तों के अनुसार होना चाहिये ?

१—पहले प्रश्न के उत्तर में हमने कहा है : विचार एक बुद्धि की क्रिया है। इसके द्वारा हम अपने अनुभव को संगठित करते हैं, स्पष्ट और समझने-समझाने योग्य बनाते हैं। हमारा अनुभव चारों ओर घटने वाली घटनाओं और परिवर्त्तनों का अनुभव है। विचार के द्वारा हम इस घटना-चक्र को व्यवस्थित बनाते हैं। अनुभव की व्यवस्था और संगठन—यह विचार का वैज्ञानिक उद्देश्य है। सामान्य-नियमों के आविष्कार से यह व्यवस्था की जाती है। विशेष घटनाओं के निरीक्षण, विश्लेषण, शब्द, तुलना आदि क्रियाओं द्वारा इनके पीछे निहित सामान्य नियम का उद्घाटन किया जाता है। सामान्य नियम की सहायता से विशिष्ट घटनाओं को भी स्पष्ट समझा जाता है। इस प्रकार हम जानते हैं कि विचार बुद्धि की वह क्रिया है जिसके द्वारा हम सामान्य नियमों का आविष्कार और स्थापना करते हैं और सामान्य नियमों की सहायता से विशिष्ट के स्वरूप को समझते हैं। कुछ आधार सामग्री की सहायता से निष्कर्ष की गवेषणा और स्थापना विचार का प्रधान कार्य हैं। २—विचार के दो प्रधान रूप हैं, एक वह जिसमें विशेष घटनाओं के अध्ययन से हम सामान्य-नियम की गवेषणा और स्थापना करते हैं। दूसरे, सामान्य नियम के द्वारा विशेष के स्वरूप का निश्चय करते हैं। पहली क्रिया का नाम आगमन और दूसरी का नाम निगमन क्रिया है। इनके परस्पर सम्बन्ध पर विवाद रहा है। वस्तुतः इन दोनों क्रियाओं में उतना ही घनिष्ठ सम्बंध है जितना सामान्य और विशेष में। विशेष घटना किसी विशिष्ट समय, स्थान और परिस्थितियों में घटित होती है; इसका हम अनुभव करते हैं, निरीक्षण और विश्लेषण द्वारा विशेष घटना में एक सामान्य तत्त्व मिल जाता है जिससे अनेक विशेष घटनायें

नियम बद्ध हो जाती हैं। बुद्धि इस सामान्य तत्त्व को खोजकर निकालती है अथवा निर्माण करती है। सामान्य के बिना विशेष अस्पष्ट और अन्धकारमय रहता है। विशेष के बिना सामान्य निराधार और निर्मूल कल्पना है। विशेष की सहायता से सामान्य की गवेषणा और स्थापना होती है और सामान्य की सहायता से विशेष का स्वरूप स्पष्ट होता है। इसी प्रकार आगमन और निगमन क्रियायें एक दूसरे की सहायक होती हैं।

और भी, विज्ञान की दो समस्यायें हैं; एक गवेषणा, दूसरे, प्रमाणों द्वारा गवेषित विषय की स्थापना। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि इन दोनों कार्यों में आगमन और निगमन दोनों की ही सहायता ली जाती है।

दोनों के मूल सिद्धान्त समान ही हैं। ये सिद्धान्त विचार की आधार-शिला हैं। किसी भी विचार क्रिया में इनका उल्लंघन सम्भव नहीं।

कहा जाता है कि आगमन द्वारा वस्तुगत अथवा वास्तविक सत्य की खोज की जाती है तथा निगमन द्वारा स्वरूप गत सत्य की खोज हो जाती है। वस्तुतः विचार में वस्तु और स्वरूप का यह भेद योरोपीय प्रणाली का अभिशाप है जिसकी कई विद्वानों ने काफ़ी निन्दा की है। यदि इस भेद को स्वीकार भी किया जाये तो भी दोनों क्रियाओं में वस्तु और स्वरूप पर समान रूप से विचार करना होता है। आगमन में निरीक्षित घटनाओं के अनुकूल सामान्य निष्कर्ष निकाला जाता है; निगमन में सामान्य नियम के अनुकूल विशेष निष्कर्ष निकलता है। विचार-विज्ञान दोनों के लिये अनुकूलता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। आधार दोनों ही दशा में हमें स्वीकार करने होते हैं।

आगमन और निगमन का भेद गौण है। केवल ऊपर से ही हम कह सकते हैं कि सामान्य निष्कर्ष की खोज और स्थापना करनेवाली क्रिया को आगमन और सामान्य नियम की सहायता से निष्कर्ष निकालने वाली विचार-क्रिया को निगमन मानते हैं।

कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो 'सामान्य' की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार आगमन-निगमन का यह प्रसिद्ध रूप संगत नहीं। मिल इस विचार-धारा का अग्रणी है। इसके अनुसार केवल अनुभव सत्य और विश्वसनीय है। अनुभव केवल विशेष घटनाओं का सम्भव है। विशेष घटनाओं में

समानता हो सकती है; परन्तु उनमें कोई सामान्य तत्त्व विद्यमान हो, यह बात मान्य नहीं। 'सामान्य' केवल दार्शनिक की कल्पना है। मिल के अनुसार आगमन का रूप केवल अनेक विशेष घटनाओं के निरीक्षण के अनन्तर उनमें एक समान नियम की खोज करना है। इस नियम का उद्देश्य व्यवहार में उपयोगिता है। यह नियम आगे आनेवाली उसी प्रकार की घटनाओं को समझने में सहायक होता है। एक ऐसा सामान्य नियम जो सब समय, सब स्थान और परिस्थितियों में उपयुक्त हो, जो असन्दिग्ध सत्य हो, मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

मिल ने अपने सिद्धान्त की दृष्टि से निगमन की कड़ी आलोचना की है। आगमन द्वारा कुछ लाभदायक ज्ञान मिलता है; परन्तु निगमन व्यर्थ, अशुद्ध और असंगत ज्ञान देता है। निगमन में हम सामान्य नियम को स्वीकार कर उसकी सहायता से विशेष को समझने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु यदि हमें सामान्य नियम का ज्ञान पहले ही से है तो विशेष के ज्ञान से क्या लाभ। साथ ही, सामान्य नियम का ज्ञान बिना विशिष्ट घटनाओं के हुआ कैसे? इसी प्रकार अनुमान में लिङ्ग और साध्य के अव्यभिचरित सम्बन्ध-ज्ञान से हम पक्ष में साध्य को सिद्ध करते हैं। यदि हम पहले से जानते हैं कि जहाँ धूआँ होता है वहाँ आग होती है तो पर्वत पर धूआँ देखकर आग का ज्ञान प्राप्त करना कोई बड़ी बात नहीं है।

निगमन विचार-प्रणाली की यह साधारण समालोचना है। मिल ने सिलोजिज़्म पर विशेष रूप से आक्रमण किया है। इसके आक्रमण के तीन पहलू हैं: १. सिलोजिज़्म को विचार की क्रिया नहीं माना जा सकता। २. यदि इसे विचार-क्रिया मान भी लें तो इसमें आत्माश्रय दोष उत्पन्न हो जाता है। ३. विचार की वास्तविक क्रिया एक विशेष के ज्ञान से दूसरे विशेष का ज्ञान प्राप्त करना है, सामान्य नियम के ज्ञान से विशेष का ज्ञान प्राप्त करना नहीं। हम इन तीनों पहलुओं पर अलग विचार करेंगे।

१. सिलोजिज़्म विचार-क्रिया नहीं है। मिल के अनुसार और साधारणतया भी विचार क्रिया में बुद्धि आधार वाक्यों से चलकर निष्कर्ष को ग्रहण करती है। इस क्रिया में आधार वाक्यों की अपेक्षा निष्कर्ष में नवीनता होनी

चाहिये, जिससे बुद्धि में गति और प्रगति उत्पन्न हो। जहाँ इस प्रकार गति और प्रगति नहीं वहाँ विचार क्रिया सफल नहीं कहलाई जा सकती। सिलोजिज़्म में सामान्य नियम का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। इस नियम से अधिक व्यापक निष्कर्ष निकालना असंगत है। संगति का अर्थ ही यह है कि व्यापक आधार से अधिक व्यापक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। परन्तु इस दशा में आधार में जो कि ज्ञात है निष्कर्ष पहले से ही विद्यमान है। तब तो निगमन और सिलोजिज़्म में निष्कर्ष की नवीनता न होने से बुद्धि में गति और प्रगति उत्पन्न नहीं होती। अतः इसे विचार-क्रिया मानना ठीक नहीं।

इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा चुका है। पहले तो, निष्कर्ष आधार वाक्यों की अपेक्षा बिल्कुल नवीन नहीं हो सकता। यदि एकदम नया निष्कर्ष निकाला जाये तो उसका आधार वाक्यों से सम्बन्ध ही न होगा। वस्तुतः निष्कर्ष आधार वाक्यों में निहित रहने के कारण पुराना ही होता है, विचार-क्रिया द्वारा इसको स्पष्ट किया जाता है; इस दृष्टि से इसे नवीन भी कहा जा सकता है। निष्कर्ष का नवीन और पुराना, दोनों साथ होना ही, विचार-क्रिया की विशेषता है। एकदम नवीनता अथवा पुरानापन दोनों ही असंगत हैं। एक दृष्टि से नवीन और दूसरी से पुरानापन, यह विरोधाभास विचार-क्रिया का लक्षण है। यही बात सिलोजिज़्म में भी विद्यमान है।

दूसरे, सिलोजिज़्म का निष्कर्ष नवीन इसलिये भी है क्योंकि सामान्य नियम के ज्ञान से निष्कर्ष का ज्ञान स्वयं हो जाना सम्भव नहीं। सिलोजिज़्म, स्मरण रहे, दो आधार वाक्यों से मिलकर बनता है, केवल सामान्य नियम से निष्कर्ष नहीं निकाला जाता, क्योंकि निष्कर्ष में विचार का उद्देश्य 'पक्ष' होता है। इस पक्ष के विषय में साध्य की सत्ता अथवा अभाव सिद्ध किया जाता है। यह पक्ष नवीन है और सामान्य-नियम के अन्तर्गत इस पक्ष को बताना एक नवीन बात है। एक डाक्टर अथवा वैज्ञानिक अथवा जज को सामान्य नियमों का ज्ञान तो हो सकता है। परन्तु इसके उपनय अथवा प्रयोग के लिये उसे पक्ष का ज्ञान होना चाहिये जिससे सामान्य नियम का किसी पक्ष के विषय में उपयोग हो सके। सामान्य नियम का उपयोग ही सिलोज़िज़्म है।

उपयोग अथवा उपनय के लिये न केवल सामान्य नियम चाहिये, साथ ही पक्ष और पक्ष में पक्ष धर्मता का ज्ञान भी आवश्यक है।

यहाँ से मिल का दूसरा आक्रमण प्रारम्भ होता है।

२. सिलोजिज्म आत्माश्रय दोष से दूषित है। निष्कर्ष का सत्य आधार वाक्यों के सत्य पर आश्रित होता है। आधार वाक्य स्वतंत्र होने चाहिये। यदि इनका सत्य निष्कर्ष को पहले ही सत्य स्वीकार करने पर आश्रित हो तो यह सारी विचार क्रिया आत्माश्रय दोष से दूषित कहलाती है। सिलोज़िज़्म में, मिल के अनुसार, सामान्य नियम की सहायता से विशेष को सिद्ध करते हैं। विशेष पक्ष सामान्य के अन्तर्गत होता है। परन्तु सामान्य की सिद्धि विशेष घटनाओं पर आश्रित है। यदि हम कहें कि 'सब मनुष्य मरणशील हैं', तो इस कथन की पुष्टि "सोहन मरणशील है, मोहन मरणशील है" इत्यादि विशेष वाक्यों से होगी। जिन विशिष्ट वाक्यों से सामान्य नियम को सिद्ध किया जाता है तथा जिनका ज्ञान सामान्य नियम के अन्तर्गत है, उन्हीं विशेष वाक्यों की सिद्धि सामान्य नियम द्वारा करना अवश्य ही असंगत बात है।

मिल की यह उक्ति निर्भ्रान्त नहीं। यदि हम सामान्य नियम को विशेष का केवल संग्रह मात्र मान लें और सब विशेषों के एकत्रीकरण को सामान्य नियम का जनक कहें तो ऊपर की आलोचना मानी जा सकती है। वस्तुतः सामान्य विशेषों का संग्रह मात्र नहीं। सब मनुष्यों के निरीक्षण के अनन्तर 'सब मनुष्य मरणशील हैं' यह सामान्य नियम नहीं बना। कुछ विशेषों के निरीक्षण, विश्लेषण, तुलना और निराकरण के अनन्तर सामान्य नियम का आविष्कार वैज्ञानिक कल्पना के द्वारा किया जाता है। इसके लिये 'सब' का निरीक्षण अनावश्यक है। साथ ही, यदि हम कोई सामान्य नियम 'सब' के अध्ययन के अनन्तर बनायें भी तो ऐसे नियम का विज्ञान के लिए कोई मूल्य नहीं। 'अन्धकार में उछाल' अर्थात् व्यतीत, अनुभूत, सीमित, विशिष्ट घटनाओं के अध्ययन से अनागत, अननुभूत, असीम सामान्य नियम की कल्पना ही सामान्यीकरण का सार है। अन्त में, केवल उन दशाओं को छोड़कर जहाँ गणना से सीमित 'सब' का निरीक्षण किया जा सके, जैसे इस कक्षा के सब लड़के आदि, शेष दशाओं में 'सब' मनुष्य अथवा जीवधारी का वस्तुतः निरी-

क्षण सम्भव ही नहीं। तब तो सामान्य नियम बनाने के लिए 'सब' का परीक्षण अनावश्यक, अग्राह्य और असम्भव होने से, वास्तविक सामान्य विशिष्ट निष्कर्ष की अपेक्षा अपनी सिद्धि के लिए नहीं रखता। अतः इसमें आत्माश्रय दोष नहीं है।

३. मिल के आक्रमण का तीसरा पहलू इस प्रकार है। यदि सामान्य आधार से विशेष निष्कर्ष निकालना अथवा व्यापक आधार से कम व्यापक निष्कर्ष निकालना व्यर्थ है तो विचार की सही, उपयोगी क्रिया विशेष से विशेष का ज्ञान प्राप्त करना है। वस्तुतः हम इसी प्रकार के विचार का उपयोग करते भी हैं : जैसे, रामू का ज्वर क्विनीन से अच्छा हो गया। श्यामू का ज्वर भी वैसा ही है। इसलिये श्यामू का ज्वर भी क्विनीन से शान्त हो जायगा। यहाँ हमें किसी सामान्य की आवश्यकता नहीं। एक विशेष घटना के अध्ययन से दूसरे का ज्ञान हो जाता है। यही अनुमान की वास्तविक, उपयोगी और निर्दोष क्रिया है।

ऊपर का कथन भ्रान्तिपूर्ण है। 'श्यामू का ज्वर क्विनीन से अच्छा हो जायगा'—इस निष्कर्ष का आधार रामू और श्यामू के ज्वर में समानता है। यह समानता ऊपरी नहीं, गम्भीर होनी चाहिए। इस समानता के अभाव से अथवा समानता के ऊपरी होने से, यह निष्कर्ष असम्भव या असंगत अथवा अविश्वसनीय होगा। विश्वसनीय, संगत और सत्य होने के लिये, रामू और श्यामू का ज्वर वस्तुतः समान होना चाहिए। और, रामू, श्यामू का ही नहीं, मोहन, सोहन आदि जितने भी व्यक्तियों का ज्वर समान होगा, उनकी चिकित्सा क्विनीन से हो जानी चाहिए। इसका तात्पर्य है कि अनेक व्यक्तियों में ज्वर की वास्तविक समानता और एकता ही अनुमान का कारण और आधार है। रामू, श्यामू आदि व्यक्ति भिन्न होते हुए भी ज्वर के अंश में समान हैं। इस प्रकार का ज्वर जहाँ कहीं, जब कभी हो वह क्विनीन से अच्छा हो जाता है यह नियम सामान्य नियम है और यही इस उदाहरण में अनुमान का आधार है। इसलिये बिना सामान्य से विशेष का अनुमान करना असंगत है।

अब हम कह सकेंगे कि विचार के आगमन और निगमन दो रूप सम्भव हैं जिनका प्रयोग विज्ञान में सामान्य नियमों की गवेषणा और स्थापना के

लिये किया जाता है। हमने आगमन और निगमन की अनेक विधियों का यथास्थान उल्लेख किया है। ये विधि विचार की भिन्न-भिन्न शैलियाँ अथवा प्रणालियाँ हैं।

३—अब हम तीसरे प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे।

विचार क्रिया का उद्देश्य और इसके विविध रूप जानने के उपरान्त, इनके सत्यासत्य के निर्णय का प्रश्न है। इसके लिये हमने विचार के मूल सिद्धान्तों का प्रारम्भ में ही उल्लेख किया है। ये नियम मनुष्य को विचारशील प्राणी होने के नाते मानने अनिवार्य हैं। किसी प्रमाण, युक्ति और तर्क का प्रयोग करने में इनकी अवहेलना से असत्य निष्कर्ष निकलेगा। सत्य का स्वरूप अन्त:-संगति और बहि:संगति है। निष्कर्ष और आधार की परस्पर संगति सत्य विचार की कसौटी है। अनुभव के अनुकूल सामान्य नियम की कल्पना, तथा सामान्य नियम के अनुकूल विशेष निष्कर्ष निकालना संगति कहलाता है। संगति से यह भी सिद्ध होता है कि मनुष्य का सम्पूर्ण अनुभव—प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना, भावना और तर्क आदि सभी—एक हैं। एकता ही सत्यता है। इस प्रकार हमने पिछले अध्यायों में इन मूल सिद्धान्तों का उपयोग विविध प्रकार के प्रमाणों और युक्तियों की सत्यता का विवेचन करने के लिये किया है। प्रत्येक निर्दोष युक्ति चाहे वह किसी प्रकार की हो, संगति, एकता, कारण-कार्य आदि मूल नियमों का पालन करती है। इनके उल्लंघन से जो दोष उत्पन्न होते हैं उनका उल्लेख आगे किया गया है।

———

हेतु-दोष

विचार-विज्ञान का उद्देश्य सत्य के स्वरूप का निश्चय करना है। विचार से सत्य की उत्पत्ति होती है और विचार के द्वारा उसकी परीक्षा भी होती है। विचार के अनेक स्वरूपों को हमने प्रमाण, युक्ति, तर्क, हेतु आदि नामों से पुकारा है। सभी प्रमाण सत्य निर्णय देने में समर्थ नहीं होते। ये असमर्थ प्रमाण असत्य होते हैं। सत्य विचार के मूल सिद्धान्तों को मानने से प्राप्त होता है; असत्य इन सिद्धान्तों की अवहेलना से उत्पन्न होता है। सत्य के जिज्ञासु के लिये असत्य के स्वरूप का जानना भी आवश्यक है। केवल सत्य का अभाव ही असत्य नहीं है। विचार-क्रिया हमारे मन की अन्य क्रियाओं में से एक है। इसके अतिरिक्त भावना, कल्पना, इच्छा, प्रवृत्ति, व्यञ्जना, कलात्मक प्रतिभा आदि अनेक मानसिक चेष्टाएँ हैं। मनुष्य इनकी तृप्ति की चेष्टा करता है और अनेक अवसरों पर अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, धारणा तथा अन्य मानसिक जटिलताओं के वश में रहता है। प्रेम, द्वेष, भय, लोभ आदि विवश करने-वाली शक्तियाँ हैं। मन की इन अवस्थाओं में सामान्य सत्य को समझने की शक्ति क्षीण हो जाती है। मनुष्य ऐसे निर्णय निकाल बैठता है जो उसकी रुचि के अनुकूल होते हुये भी सत्य नहीं हो सकते। भाषा के दुरुपयोग से भी अनेक बार असत्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार जब कभी, जाने या अनजाने, मनुष्य सगति के सिद्धान्तों की अवहेलना करता है, तथा भाषा अथवा भावना के दुरुपयोग से ऐसे निर्णयों पर पहुँचता है जिनसे छल, स्वार्थ, मोह, भय, द्वेष, आदि की गन्ध आती है, उस समय उसकी विचार-दृष्टि संकुचित हो जाती है, और, उसके तर्क और हेतु उसे असत्य निर्णय प्रदान करते हैं।

जिन तर्कों से असत्य निर्णय निकलता है उन्हें 'दुष्ट' कहा जायगा। तर्कों के दोषों का इस प्रकार विभाजन किया जाता है। १. विचार के स्वरूप-गत दोष २. भाषा-सम्बन्धी दोष ३. वस्तु-गत दोष। जो दोष विचार के स्वरूप अर्थात् पदों, वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं, जिनमें विचार के मूल

सिद्धान्तों की अवहेलना की गई है, उन्हें स्वरूप-गत कहा जाता है। हेतु पद का अव्यापक होना, किसी असर्वांशी आधार से सर्वांशी निष्कर्ष निकालना, फल के विधान से हेतु का विधान करना, आदि स्वरूप-गत दोष हैं जिनका उल्लेख यथा अवसर किया जा चुका है।

भाषा-सम्बन्धी दोष पदों, वाक्यों, शब्दों के अर्थ और रचना आदि से उत्पन्न होते हैं जिनसे निष्कर्ष असंगत अथवा भ्रान्त हो जाता है। इसके कई प्रकार हैं।

(१) बहुल दोष :—जब कभी ऐसे पदों का प्रयोग तर्क में किया जाता है जिनका एक से अधिक अर्थ सम्भव हो, तथा, जिस बहुल अर्थ के कारण निर्णय में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाये, उस समय यह बहुल दोष उत्पन्न होता है। एकता और संगति के अनुसार एक पूर्ण युक्ति में एक ही अर्थ को व्यक्त करने के लिये किसी शब्द और पद का प्रयोग होना चाहिए। इसकी अवहेलना करके भिन्नार्थक शब्दों के प्रयोग से तर्क दूषित हो जाता है। जैसे :—जल का नाम जीवन है। जीवन आदरणीय वस्तु है; इसलिए जल आदरणीय वस्तु है। यहाँ 'जीवन' शब्द के दो अर्थ हैं जिनमें एक वाक्य में इसका अर्थ 'जल' और दूसरे में प्राणन क्रिया लगाया गया है। संगत विचार में द्वयर्थक पदों से भ्रान्ति उत्पन्न करना ठीक नहीं है।

२—रचना दोष :—यदि निष्कर्ष में भ्रान्ति इसलिये उत्पन्न होती है कि तर्क में वाक्य की रचना से एक से अधिक अर्थ निकाले जा सकते हैं तो इसे रचना दोष कहेंगे। जैसे : ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी। यहाँ एक अर्थ तो ढोल आदि को अलग अलग मान कर निकाला जा सकता है, दूसरा अर्थ गँवार-शूद्र और पशु-नारी को मान कर किया जाता है। शास्त्रों में, वकीलों द्वारा कानून और विधानों के स्पष्टीकरण में, एक ही रचना से कई और विपरीत अर्थ निकाले जाते हैं। परन्तु ऐसा करना संगति-नियम के विरुद्ध है।

३—उच्चारण दोष :—यदि किसी वाक्य में विशेष पद पर भार देने से उसका अभिप्रेत अर्थ बदल जाये, या, इसका उच्चारण इस प्रकर किया जाये कि उसके कई अर्थ प्रतीत होने लगें; वहाँ यह दोष उत्पन्न होता है। जैसे :

वाक्य है : अपने पड़ौसी के विरुद्ध झूठी गवाही न दो। यहाँ 'पड़ौसी' पद पर ज़ोर देने से अर्थ निकलता है कि पड़ौसी के अतिरिक्त किसी और के विरुद्ध गवाही देना बुरा नहीं है। 'विरुद्ध' पद पर ज़ोर देने से इसका अर्थ होगा : यदि पड़ौसी के अनुकूल झूठी गवाही देनी पड़े तो बुरा नहीं है। इसी प्रकार 'झूठी' आदि पदों पर भार देने से इस वाक्य के अनेक अर्थ हो सकते हैं जो वस्तुतः इसका मन्तव्य नहीं है।

इस दोष का एक और रूप भी है। किसी वाक्य का अर्थ अपने स्वाभाविक सन्दर्भ में कुछ हो सकता है। परन्तु उस सन्दर्भ से हटा कर अथवा अन्य किसी सन्दर्भ में रखकर इसका मूल अभिप्राय बदल सकता है। शास्त्रों, भाषणों और वक्तव्यों में से कुछ वाक्यों को लेकर, उनके वास्तविक पूर्वापर सम्बन्धों को छोड़कर, उनके मूल मन्तव्य को बदलने से यह दोष उत्पन्न होता है।

४ - संग्रह दोष :—कुछ बातें अलग-अलग विचार करने से संगत प्रतीत हो सकती हैं, परन्तु उन्हें एक साथ रख देने से असंगति उत्पन्न होती है। ऐसी दशा में संग्रह दोष उत्पन्न होता है। जैसे, एक रुपये में २ सेर चीनी, १ पाव घी, २ सेर आटा, डेढ़ पाव बादाम इत्यादि वस्तुएँ अलग-अलग खरीदी जा सकती हैं। यहाँ यह निष्कर्ष निकालना कि एक ही रुपये में ये सभी वस्तुएँ मिलाकर आ जायँगी संग्रह दोष है। इसी प्रकार, एक विद्यार्थी तर्क करता है : परीक्षा से पूर्व १० दिन में अर्थ-शास्त्र पढ़ा जा सकता है; २० दिन में अंग्रेज़ी की तैयारी हो सकती है; १५ दिन में तर्क-शास्त्र पूरा किया जा सकता है और २० दिन गणित के लिये पर्याप्त होते हैं। इसलिये परीक्षा से, अधिक से अधिक, एक मास पूर्व काम प्रारम्भ करना चाहिये। इसी प्रकार, हमारी सरकार सोन नदी पर बाँध बनाने के लिये १० करोड़ रुपया खर्च कर सकती है। शारदा नदी से नहर निकालने के लिये ५ करोड़ रुपया वह दे सकती है। काश्मीर में एक नई प्रयोगशाला के लिये हम ३ करोड़ रुपये देने को समर्थ हैं। शिक्षा-प्रसार-योजना के लिये १५ करोड़ रुपया देने के योग्य है। इसलिये हमारी सरकार इन सब योजनाओं के लिये मिलाकर ३३ करोड़ खर्च करने के लिये समर्थ है। यहाँ सम्भव है कि सरकार की सामर्थ्य प्रत्येक योजना के लिये निस्सन्देह हो, परन्तु सारी योजनाओं को मिलाकर चलाने की योग्यता न हो।

५—विग्रह-दोष :—यह संग्रह दोष के विलोम होता है। यहाँ हमें जिन बातों पर मिलाकर विचार करना उचित है, यदि उन्हें विभक्त कर दिया जाय तो हम अनुचित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। हम एक ऐसे व्यक्ति को अपराधी ठहरा सकते हैं जिसके पास खून से सने हुये वस्त्र मिले हों, जिसके पास मारने का हथियार आदि हो, जो मृत व्यक्ति का शत्रु हो इत्यादि। यहाँ इन सब बातों पर मिलाकर विचार करने से निष्कर्ष असंगत नहीं प्रतीत होता। परन्तु इनमें से प्रत्येक पर अलग-अलग विचार कीजिए। किसी मनुष्य को जिसके पास खून से सने कपड़े मिलें हम केवल इसी आधार पर हत्यारा नहीं कह सकते। इसी प्रकार केवल शत्रु होने से वह अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। यहाँ मिलाकर इन बातों पर विचार करना उचित है और इनका विभाग अथवा पृथक्करण अनुचित। इसी प्रकार एक सेना को वीर अथवा कायर मिलाकर कहा जा सकता है, परन्तु किसी एक सेना के सिपाही को इसीलिए वीर या कायर मान बैठना असंगत है। सारा वन घना हो सकता है, परन्तु इसी आधार पर प्रत्येक वृक्ष को घना मानना अनुचित है। सारा देश दीन अथवा धनी आदि होना सम्भव है, परन्तु इसी से किसी एक व्यक्ति को दीन अथवा धनी मान बैठना असंगत है। सम्भव है किसी विश्व-विद्यालय के अध्ययन का स्तर ऊँचा हो और किसी का नीचा हो; परन्तु इसी आधार पर किसी एक विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी को दूसरे की अपेक्षा अधिक योग्य मानना अनुचित है।

६—उपाधि-दोष :—प्रत्येक साधारण नियम के लिए अपवाद होते हैं; क्योंकि अनेक बार विशेष परिस्थितियों के कारण साधारण नियम लागू नहीं हो पाता। ये अपवाद नियम को संकुचित बनाते हैं। इसी कारण प्रत्येक साधारण नियम का उपयोग सावधान होकर करना उचित है। यदि हम किसी सामान्य नियम का उपयोग बिना अपवादों और विशेष परिस्थितियों के समझे करते हैं, तो हमारे विचार में यह दोष उत्पन्न हो जाता है। यदि एक व्यक्ति दूसरे को मारता है तो वह हत्यारा माना जाता है। इसी कारण युद्ध में शत्रु को मारनेवाले सैनिक या औपरेशन करते समय मारनेवाले डाक्टर को हत्यारा ठहराना अनुचित है। यहाँ सैनिक और डाक्टर साधारण नियम के अपवाद हैं,

क्योंकि इन्हें विशेष परिस्थिति में काम करना होता है। इसी प्रकार, साधारण नियम है कि व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है। यदि हम कहें कि इसलिए इस क्षय-ग्रस्त रोगी को भी व्यायाम करना चाहिए, तो यहाँ हमने साधारण नियम के अपवाद की अवहेलना की है। इसे अपवाद-दोष भी कहा जा सकता है। अपवाद उसी समय उत्पन्न होता है जब सामान्य नियम का उपयोग करने में हम उसकी विशेष उपाधियों पर विचार न करें। केवल नीरोग व्यक्ति ही व्यायाम से पुष्ट हो सकता है। रोगी होना इस नियम की रोकनेवाली उपाधि है।

७—विलोम उपाधि दोष :—जहाँ अपवाद के ऊपर विचार न करके हम सामान्य निकालते हैं वहाँ उपाधि दोष के विपरीत दोष उत्पन्न होता है। यदि सिपाही युद्ध में मनुष्यों की हत्या करने पर दोषी या अपराधी नहीं ठहराया जाता, इसलिए कोई मनुष्य दूसरे की हत्या करने से अपराधी न माना जाये। यह विशेष की विशिष्टता अथवा अपवाद-रूपता का विचार न करके सामान्य नियम बनाने का दोष है।

८—अलंकार दोष :—भाषा में शब्दों का प्रयोग साधारण और आलंकारिक अर्थ व्यक्त करने के लिए होता है। शब्दों का शाब्दिक अर्थ भी निकलता है; जैसे पंकज का योगरूढ़ि अर्थ तो कमल है, परन्तु इसका शाब्दिक अर्थ 'कीचड़ से उत्पन्न होनेवाला' है। इसी प्रकार शब्दों का लाक्षणिक अर्थ भी हो सकता है। अनेक शब्दों में ऊपरी समानता होते हुए भी भिन्न अर्थ होते हैं। जहाँ पर शब्दों के भिन्न प्रयोगों पर ध्यान नहीं दिया जाता और उनके साधारण और असाधारण अर्थों को न समझकर विचार किया जाता है वहाँ यह दोष उत्पन्न होता है। जैसे, चित्रकार वह व्यक्ति है जो चित्र बनावे, इसलिए चर्मकार वह व्यक्ति है जो चमड़ा बनाये और पत्रकार वह है जो पत्र अथवा खत बनाये।

वास्तविक दोष

सत्य युक्ति में निष्कर्ष के पोषक और उससे सम्बन्ध रखनेवाले आधार वाक्य होने चाहिएँ तथा विचार की सम्पूर्ण क्रिया बुद्धि का समझने के लिए प्रयत्न होना चाहिए, न कि भावना द्वारा किसी उलझन पैदा करने के लिये।

यद्यपि मनुष्य भावनामय प्राणी है और जीवन में अनगिन अवसरों पर प्रेम, द्वेष भय, ईर्ष्या, श्रद्धा आदि से काम लेता है तथापि विज्ञान के क्षेत्र में और उन सब अवसरों पर जब सत्य और असत्य के विवेक का प्रश्न उपस्थित होता है, तब वह मानसिक उद्वेगों से काम लेकर केवल अपने आपको अँधेरे में ले जाता है। स्वतन्त्र बुद्धि उस समय, भावना के बवंडरों को दबाकर, हमें सत्य, सन्मार्ग और प्रकाश की ओर ले जाती है। हमारी अनेक युक्तियों में भावना, अविवेक, बुद्धि की स्वाभाविक सीमा, आत्म-प्रवंचना आदि के कारण दोष उत्पन्न होते हैं। इनका सम्बन्ध न तो भाषा के प्रयोग से, न विचार के मूल सिद्धान्तों से होता है। इन्हें वस्तुगत या वास्तविक दोष कहा जा सकता है।

प्रतिज्ञावहेलना

किसी कारण से मूल प्रतिज्ञा की अवहेलना करना दोष है। जिस निष्कर्ष को हम सिद्ध करना चाहते हैं, योग्य-आधार वाक्यों से उसी को बुद्धि द्वारा समझाना चाहिये। प्रतिज्ञा को छोड़कर इधर-उधर की बातें करना असंगत है। यह प्रतिज्ञा की अवहेलना कई प्रकार से की जाती है। इसके निम्नलिखित प्रकार मुख्य हैं :—

१. निन्दा-जन्य प्रतिज्ञावहेलना :—किसी व्यक्ति के मत को खंडन करने के लिये उपयुक्त तर्क देने के स्थान पर उसके व्यक्तित्व, चरित्र, धर्म, समाज, जाति, आचरण, भावना आदि की निन्दा करना—यह दोष कहलाता है। "तुम जो कुछ कहते हो वह असत्य है, क्योंकि तुम स्वयं झूठे हो, तुम्हारा आचरण, जाति, आदि ऐसे हैं।" इस प्रकार का तर्क अपनी बुद्धि की निर्बलता, अपने पक्ष के निराधार होने से तथा दूसरे व्यक्ति पर आक्रमण करने की इच्छा से उत्पन्न होता है। इसमें बुद्धि द्वारा समझने का प्रयत्न नहीं। इसीलिये यह दोष है। जैसे, हमारे अर्थ-मंत्री की अमुक योजना अमान्य है, क्योंकि वे स्वयं पूँजीपति हैं और पूँजीपति मजदूर वर्ग के लिये योजना बनाने में असमर्थ होता है। धर्म के विषय में हम नेहरू जी का कथन सत्य स्वीकार न करेंगे, क्योंकि उनके स्वयं धार्मिक विश्वास हिन्दू-धर्म के अनुकूल नहीं हैं।

२. सम्मान-जन्य प्रतिज्ञावहेलना :—निन्दा की विपरीत सम्मान भावना

। इसका उपयोग हेतु के निष्कर्ष को सिद्ध करने के लिये करना दोष है । हम ापने पूर्वजों, गुरु-जनों, वेद-शास्त्रों, धर्म नेताओं आदि का सम्मान करते हैं ग्रौर करना उचित भी है । परन्तु इस सम्मान को आधार मानकर किसी कथन ो बिना उपयुक्त तर्क के सत्य स्वीकार करना विज्ञान को अभीष्ट नहीं । विकास-ाद का सिद्धान्त इसलिये सत्य नहीं कि उसका आविष्कारक हमारा श्रद्धा-पात्र डार्विन है; जाति-भेद समाज के लिये इसलिये हितकर नहीं कि उसको हमारे धार्मिक ग्रंथ मानते हैं; और इसलिये अहितकर नहीं कि महात्मा गान्धी जी ने उसे अहितकर ठहराया । हितकर अथवा अहितकर होने के लिये योग्य हेतु होना चाहिये । जैसे, समाज को निर्बल बनानेवाली कोई भी संस्था अहित-कर होती है; जाति-भेद से समाज निर्बल होता है; इसलिये जाति-भेद अहितकर है ।

३. संवेग-जन्य प्रतिज्ञावहेलना :—यदि क्रोध, भय, लोभ आदि संवेग द्वारा प्रतिज्ञा की अवज्ञा करके किसी तर्क के निष्कर्ष को सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाये, तो वहाँ यह दोष उत्पन्न हो जाता है । इन संवेगों का उपयोग अपने संकल्पित विचारों को दृढ़ बनाने के लिये करना चाहिये; परन्तु इनके द्वारा किसी वैज्ञानिक समस्या को सुलझाना, सत्यासत्य का निर्णय करना न्याय-संगत नहीं है । इस प्रकार के दूषित तर्कों का उपयोग आजकल के राजनैतिक नेता, डिक्टेटर, भड़काने वाले लोग, काम, लोभ, भय आदि को उत्तेजित करके विज्ञापन करनेवाले व्यक्ति, अपनी बात को पक्की करने के लिए करते हैं ।

४. बलात् प्रतिज्ञावहेलना :—किसी मत को सत्य स्वीकार कराने अथवा दूसरे मत को असत्य सिद्ध करने अथवा विरोधी युक्ति का तार्किक उत्तर देने के स्थान पर उस पर बलात् प्रयोग करने से यह दोष उत्पन्न हो जाता है । सभाओं में शोर, हुल्लड़, भर्त्सना आदि का प्रयोग न्याय की दृष्टि से दोष है ।

५. अज्ञान-जन्य अवहेलना :—यदि किसी व्यक्ति के तर्क को असिद्ध करने अथवा अपने तर्क को सिद्ध करने के लिये हम विरोधी को अज्ञान समझ उसे पारिभाषिक शब्दों अथवा अपरिचित क्लिष्ट पदों के प्रयोग से दबाना चाहें अथवा उसे प्रभावित करना चाहें, तो वहाँ यह दोष उत्पन्न होता है । बहुधा

डाक्टर लोग जो स्वयं रोग को नहीं समझ पाते, किसी बड़े पारिभाषिक शब्द का प्रयोग कर साधारण मनुष्य को प्रभावित कर देते हैं। पंडित लोग वेद शास्त्रों के उद्धरण से जिनसे साधारण व्यक्ति परिचित नहीं होते जनता पर उनकी अज्ञानता और अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करके उस पर अपने कथन की सत्यता की छाप बैठाते हैं। इन सब स्थलों पर अज्ञान से यह शुद्ध और सत्य तर्क की अवहेलना की जाती है।

आत्माश्रय दोष

सिद्ध आधार वाक्यों से निष्कर्ष को सिद्ध किया जाता है। यदि आधार-वाक्य स्वयं असिद्ध, सन्दिग्ध अथवा असत्य हों तो निष्कर्ष भी असत्य होगा। साथ ही, आधार-वाक्य अपनी सत्यता के लिये निष्कर्ष पर आश्रित न होने चाहिये। यदि ऐसा होता है तो आधार-वाक्यों में निष्कर्ष को सिद्ध करने की योग्यता नहीं। इसका अर्थ है कि आधार-वाक्यों के सत्य का आश्रय निष्कर्ष है और निष्कर्ष के सत्य का आश्रय आधार-वाक्य हैं। यह आत्माश्रय, चक्रक अथवा अन्योन्याश्रय दोष कहलाता है। इसके दो रूप होते हैं:—

क : साधारण :—यदि आधार वाक्य और निष्कर्ष में केवल शब्दों का अन्तर हो, वस्तुतः उनमें कोई अन्तर न हो, उस दशा में आधार-वाक्यों और निष्कर्ष को स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। निष्कर्ष केवल पुनरुक्ति मात्र होगा और आधार में इसे सिद्ध करने की सामर्थ्य नहीं होगी। जैसे : नेहरू संसार के महान् नेता हैं क्योंकि उन्होंने विश्व में महत्त्व प्राप्त किया है। 'महान् होना' और 'महत्त्व प्राप्त करना' इनमें कोई अन्तर नहीं है। अथवा, "सभा के सम्मुख यह प्रस्तुत बिल उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करने के लिये लाभदायक सिद्ध होगा, क्योंकि इस बिल से देश के धन उत्पन्न करने के साधन उन्नति करेंगे।

ख : संकुल :—इसका संकुलित रूप वह है जिसमें दोनों आधार वाक्यों में से प्रथम अथवा द्वितीय वाक्य अपनी सत्यता की सिद्धि के लिये निष्कर्ष की अपेक्षा रखता हो। जैसे : "ईश्वर की सत्ता स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि वेद ईश्वर का उल्लेख करते हैं और वेदों पर हमें विश्वास करना चाहिये क्योंकि वेद ईश्वर के साक्षात् वचन हैं।" यहाँ ईश्वर की सत्ता और वेदों पर विश्वास

एक दूसरे पर निर्भर हैं। इसी प्रकार "यह मनुष्य दिव्य-दृष्टि रखता है और इसके कथन पर विश्वास करना चाहिये क्योंकि दिव्य-दृष्टि रखनेवाला मनुष्य झूठ नहीं बोल सकता।"

संकुलित प्रश्न दोष

वास्तव में प्रश्न का प्रयोजन किसी व्यक्ति से ऐसी बात पूँछना होता है जो उचित हो, और, जिसके विषय में हमारी वास्तविक जिज्ञासा हो। यदि प्रश्न इस प्रकार किया जाये कि उससे प्रश्न-कर्त्ता का मन्तव्य पूँछे जानेवाले व्यक्ति को ऐसी परिस्थिति में रखना हो कि उसके लिये 'हाँ' और 'ना' दोनों प्रकार ही अनुचित और कठिन प्रतीत हों, ऐसी दशा में यह दोष कहा जाता है। प्रसिद्ध संकुलित प्रश्न इस प्रकार है : क्या तुमने अपनी माँ को पीटना बंद कर दिया है? इस प्रश्न के उत्तर में 'हाँ' कहने का मतलब है कि पहले अवश्य पीटता था। 'ना' का मतलब है कि पहले पीटता था और अब भी पीटता है। दोनों बात ही अनुचित हैं। यह अनुचित अथवा अन्याय्य प्रश्न है। इसी प्रकार : तुम मुझे मेरी पुस्तक क्यों वापिस नहीं देते?

विषयान्तरण दोष

वाद-विवाद में किसी विषय को केन्द्र मानकर ही प्रश्नोत्तर किया जाता है। यदि एक विषय में प्रश्न करने पर दूसरे विषय का उत्तर दिया जाये और इस प्रकार विषय-परिवर्त्तन कर दिया जाये तो उक्त दोष माना जाता है। जैसे किसी ने पूँछा : तुम अंग्रेजी में कैसे फेल हो गये? इसका उत्तर दिया जाये : मैंने गणित में अच्छे अङ्क प्राप्त किये हैं। अथवा : तुम मेरे दाम वापिस क्यों नहीं देते? उत्तर : मुझे अमुक व्यक्ति ने वापिस नहीं किये। इत्यादि।

असम्बद्धता दोष

यदि आधार-वाक्य और निष्कर्ष में कोई वास्तविक सम्बन्ध न हो और किसी आधार से कोई निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया जाये तो यह दोष माना जाता है। जैसे : मैं परीक्षा में इसलिये अनुत्तीर्ण हो गया, क्योंकि इस वर्ष मेरे भाग्य में यही लिखा था। अथवा : महायुद्ध के प्रारम्भ की शङ्का है, और इस वर्ष वर्षा पर्याप्त होगी। इसलिये तुलसीदास महान् कवि थे।

प्रश्न और अभ्यास

१—विचार

१—मनुष्य के लिये विचार का क्या महत्त्व है? अपने अनुभव से किसी विचार का उदाहरण दीजिये।

२—विचार का स्वरूप समझाकर लिखिये। उदाहरण की सहायता से इसका विकास-क्रम समझाइये।

३—'विचार विश्लेषण-संश्लेषणात्मक होता है'—आलोचना कीजिये।

४—विचार और अविचार में क्या भेद है? अविचार के क्या कारण होते हैं।

५—भावना, व्यवहार और विचार के परस्पर सम्बन्ध और भेद को समझाइये।

२—विज्ञान

१—वैज्ञानिक दृष्टिकोण से क्या तात्पर्य है? इसके लक्षण सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

२—विज्ञान में 'सत्य' का अर्थ क्या समझना चाहिये?

३—विज्ञान और साधारण ज्ञान में क्या अन्तर है?

३—विचार-विज्ञान

१—विचार-विज्ञान का स्वरूप और स्थान स्पष्ट कीजिये।

२—विचार-विज्ञान की मुख्य समस्यायें क्या हैं, समझाइये।

३—आदर्श और स्वभाव से क्या समझते हैं। विचार-विज्ञान का सम्बन्ध इनमें से किससे है? समझाइये।

४—मूल-सिद्धान्त

१—मूल-सिद्धान्त किसे कहते हैं? इसके क्या लक्षण होते हैं?

२—मूल-सिद्धान्त कहाँ से प्राप्त होते हैं ? क्या हम इन्हें सिद्ध कर सकते हैं ?

५—प्रकृति में एकता का सिद्धान्त

१—प्रकृति की एकता से क्या तात्पर्य है ?

२—विचार-विज्ञान प्रकृति को एक मानने के लिये क्यों विवश है ?

३—"प्रकृति की एकता विचार-विज्ञान का मूल सिद्धान्त है" इसे सिद्ध कीजिये ।

६—स्वभाव या तादात्म्य सिद्धान्त

१—तादात्म्य-सिद्धान्त को स्पष्ट समझाइये । इसके द्वारा सत्य का स्वरूप कैसे निश्चय होता है ?

२—तादात्म्य-सिद्धान्त और सामान्य-सिद्धान्त के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये ।

३—सामान्य-सिद्धान्त विज्ञान के लिये क्यों आवश्यक है ?

४—उदाहरण की सहायता से अन्तःसंवाद अथवा संगति के सिद्धान्त को स्पष्ट समझाइये । संगति और सत्य में क्या सम्बन्ध है ?

५—प्रवृत्ति-साफल्य-सिद्धान्त से सत्य का परीक्षण किस प्रकार होता है ?

७—कार्य-कारण सिद्धान्त

१—विज्ञान के लिये कार्य-कारण सिद्धान्त का क्या महत्त्व है ?

२—वैज्ञानिक दृष्टि से कारण का स्वरूप स्पष्ट कीजिये ।

३—भारतीय दर्शन के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध का स्वरूप क्या है, समझाइये ।

४—'कार्य-कारण घटनात्मक सम्बन्ध है' इसकी समालोचना कीजिये । कारण को शक्ति मानना विज्ञान को क्यों स्वीकार नहीं ?

८—अन्वेषण की रूपरेखा

१—अन्वेषण की मुख्य समस्या समझाइये ?

२—'सामान्यीकरण' किसे कहते हैं ? इसका आधार क्या है ? उदाहरण देकर समझाइये ।

३—आगमन और निगमन विचार प्रणाली को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिये ।

६—निरीक्षण और प्रयोग

१—निरीक्षण का स्वरूप और महत्त्व क्या है ? समझाइये ।

२—दोष-ग्रस्त निरीक्षण से क्या समझते हो ? कितने प्रकार से ये दोष उत्पन्न हो सकते हैं ? उदाहरण देकर समझाइये ।

३—निरीक्षण और प्रयोग के अन्तर और साम्य को स्पष्ट कीजिये ।

१०—कल्पना

१—विज्ञान में कल्पना का क्या महत्त्व और स्वरूप है ? इसका क्या प्रयोजन और उद्देश्य है, समझाइये ।

२—गवेषणा में किन विशेष अवसरों पर कल्पना आवश्यक होती है ? उदाहरण द्वारा स्पष्ट कीजिये ।

३—वैज्ञानिक कल्पना में किन गुणों की आवश्यकता होती है, समझाइये ।

४—वैज्ञानिक कल्पना के भिन्न-भिन्न प्रकार सोदाहरण समझाकर लिखिये ।

५—परिणाम-विधि क्या है ? कल्पना इस विधि में क्या सहायता देती है ?

११—वैज्ञानिक विधियाँ

१ - वैज्ञानिक विधि से क्या समझते हैं ? इनका स्वरूप और महत्त्व समझाइये ।

२—क्या भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक विधियाँ निराकरण के ही विविध प्रकार हैं ? निराकरण के नियमों को समझाइये ।

३—अन्वय-विधि का स्वरूप और महत्त्व और दोष समझाकर लिखिए ।

४—कारण-बहुल सिद्धान्त क्या है ? इसको दूर करने के क्या उपाय हैं ?

५—अन्वय-व्यतिरेक विधि के स्वरूप और महत्त्व को समझाइये ।

६—भेद-विधि को समझाइये । वैज्ञानिक गवेषणा में इसके महत्त्व को समझाइये ।

७—सह-क्रम परिवर्त्तन विधि क्या है ? इसकी क्या विशेषता है, समझाइये ।

८—शेष-विधि का वैज्ञानिक महत्त्व क्या है ? क्या इसे आगमन की विधि कहा जा सकता है ?

९—वैज्ञानिक-विधियों का मूल्याङ्कन कीजिए ।

१२—उपमान-विधि १३—सहायक विधियाँ १४—विज्ञानों में गवेषणा पद्धति

१—विज्ञान में 'समानता' का क्या उपयोग होता है। इसका स्वरूप समझाइये। क्या 'समानता' के आधार पर वैज्ञानिक निष्कर्ष निकाला जा सकता है?

२—गवेषणा के लिए 'गणना' का महत्त्व समझाइये।

३—वर्गीकरण का स्वरूप क्या है? इसके वैज्ञानिक महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

४—भौतिक शास्त्र, इतिहास और जीव विज्ञान की विशेष पद्धतियों का विशद वर्णन करो।

१५—परीक्षण की समस्या

१—विज्ञान में परीक्षण की समस्या कैसे उपस्थित होती है? इसके क्या सिद्धान्त हैं?

१६—भाषा और विचार

१—विचार-विज्ञान के लिए भाषा का क्या महत्त्व है?

२—पद और वाक्य की परिभाषा कीजिए। इनके भेदों को समझाइये।

३—पदों के गुण और निर्देश से क्या समझते हैं? गुण और निर्देश के सम्बन्ध पर प्रकाश डालिए।

४—मिल के सिद्धान्त को विशद कीजिये। क्या आप इससे सहमत हैं?

५—अरस्तू और पोरफरी के वाच्य-धर्म सिद्धांतों को समझाइये।

६—निम्नलिखित वाक्यों का रूपान्तरण कीजिए :—

(क) केवल नास्तिक ही अनीश्वरवादी होते हैं।

(ख) जिसके पैर न फटी बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई।

(ग) सभी हंस मोती नहीं चुगते।

(घ) वीरभोग्या बसुन्धरा।

(ङ) ईश्वर के विषय में कुछ लोग सन्देह करते हैं।

(च) लगभग कोई भी साहित्यिक इस बात से सहमत न था।

(छ) राम को छोड़कर सभी राजा की आज्ञा को तिरस्कार-योग्य समझते थे।

(ज) तुलसी तहाँ न जाइये जहँ कंचन बरसे मेह।

(झ) तुम्हीं यह काम कर सकते हो ।
(ञ) ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे ।
(ट) कभी-कभी दीनों को भोजन भी नहीं मिलता ।
(ठ) भारतवर्ष का विधान धर्म-निरपेक्ष है ।
(ड) कुछ मनुष्य भावुक नहीं होते ।
(ढ) साधारणतया पंखवाले जीवधारी पक्षी होते हैं ।
(ण) बहुधा वर्षा-ऋतु में नदियों में बाढ़ आती है ।

१७—परिभाषा और विभाग

१—परिभाषा का वैज्ञानिक रूप और महत्त्व क्या है, समझाइये ।
२—विज्ञान में परिभाषा को किन दोषों से मुक्त होना चाहिये ।
सोदाहरण समझाइये ।
३—निम्नलिखित परिभाषाओं की परीक्षा कीजिये :—
(क) जल ही जीवन है ।
(ख) अनुकूल वेदना का नाम सुख और प्रतिकूल वेदना का नाम दुःख है ।
(ग) जो निरन्तर चलता रहे उसी का नाम जगत् है ।
(घ) सूर्य वह तारा है जो दिन में प्रकाशमान् होता है ।
(ङ) भारतवर्ष में रहनेवाले को भारतवासी कहते हैं ।
(च) साहित्य जीवन का दर्पण है ।
(छ) जीवन मनुष्य की प्रकृति है और मृत्यु केवल विकृति का नाम है ।
(ज) सत्य जीवन की सुगन्ध है और असत्य जीवन की दुर्गन्ध ।
(झ) काग़ज़ों पर छपी या लिखी वस्तु को पुस्तक कहते हैं ।
४—वैज्ञानिक विभाग का स्वरूप निश्चित कीजिये । इसके क्या नियम हैं ?
सोदाहरण समझाइये ।
५—परिभाषा और विभाग का भेद स्पष्ट कीजिये ।
६—निम्नलिखित विभागों की परीक्षा कीजिये :—
(क) मनुष्यों को अच्छे, बुरे, काले, यूरोपियन, ईसाई लोगों में ।
(ख) नाटकों को सुखान्त, दुःखान्त, प्राचीन और सामाजिक नाटकों में ।

(ग) सरकार को न्याय, विधान और कार्य-कारिणी भागों में।
(घ) उपन्यासों को सामाजिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और जासूसी वर्गों में।
(ङ) भूमि को उर्वरा, जंगल, चरने के स्थान, सिचाईवाले भागों में।
(च) विद्यार्थियों को चतुर, दीन और अच्छे चरित्रवाले वर्गों में।
(छ) पुस्तकों को एक बार पढ़ने योग्य, बार-बार पढ़ने योग्य और न पढ़ने योग्य वर्गों में।
(ज) पुष्पों को सुगन्धि, सुरंग और सुरूप में।
(झ) जीवों को उद्भिज, अंडज, पिण्डज, स्वेदज में।
(ञ) डाक्टरों को वैद्य, हकीम, एलोपेथ और होमियो पेथ में।
(ट) विद्यालयों को स्कूल, पाठशाला, मकतब और विश्वविद्यालय में।
(ठ) मनुष्यों के समूह को समाज कहते हैं।
(ड) जल के प्रवाह का नाम नदी है।
(ढ) विद्या मनुष्य का आभूषण है।
(ण) जीवधारी काल के खिलौने हैं।
(त) आत्मा अभौतिक है।
(थ) सूर्य विश्व का नेत्र है।

१८—प्रमाण और इसके विविध आकार

१—संगति और व्यापकता-नियम को विशद रूप से समझाइये। सत्य और संगति में क्या सम्बन्ध है?

२—वाक्य-विरोध से क्या तात्पर्य है? इसके नियमों को सिद्ध कीजिये।

३—परिवर्त्तन और प्रतिवर्त्तन के नियमों को सोदाहरण समझाइये।

४—निम्नलिखित में से, संगति के नियमानुसार, सब निष्कर्ष निकालिये:—

(क) सभी राजकीय नियमों का पालन उचित है।
(ख) कुछ कवि समालोचक होते हैं।
(ग) कुछ धनी विचारशील नहीं होते।
(घ) कोई मनुष्य स्वभाव से दुष्ट नहीं होते।

१६—परम्परानुमान

१—सिलोजिज़्म की परिभाषा कीजिये। इसके नियमों को संगति-सिद्धांत की सहायता से स्पष्ट कीजिये।

२—सिद्ध संयोग और आकार से क्या तात्पर्य है? प्रथम और दूसरे आकारों के नियमों को सिद्ध कीजिये।

३—अरस्तू के डिक्टम की व्याख्या कीजिये। इसकी सहायता से सिलोज़िज़्म के नियमों को समझाइये।

४—रूपान्तरण क्रिया का सिलोज़िज़्म के लिये क्या महत्त्व है? रूपान्तर करण के स्वरूप को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

५—हेतु फलाश्रित और वैकल्पिक सिलोज़िज़्म के नियमों को स्पष्ट कीजिये।

६—उस सिलोज़िज़्म के सिद्ध संयोग और आकार को निश्चित कीजिये। जिसमें (क) केवल दो पद व्यापक हों और दोनों एक बार (ख) केवल एक पद व्यापक हो, वह भी दो बार (ग) तीनों पद व्यापक हों, प्रत्येक एक बार।

७—सिद्ध कीजिये कि सिलोज़िज़्म में तीनों पद सब स्थानों पर व्यापक नहीं हो सकते।

२०—अनुमान

१—अनुमान की परिभाषा कीजिये। इसके अवयव, पद आदि की स्पष्ट व्याख्या कीजिये।

२—सिलोज़िज़्म और अनुमान की तुलना कीजिये।

३—अनुमान के भेदों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

४—हेत्वाभास किसे कहते हैं, समझाइये। इनमें (क) सव्यभिचार, (ख) असिद्ध, (ग) सत्प्रतिपक्ष दोषों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

५—सत्प्रतिपक्ष और विरुद्ध दोषों में क्या अन्तर है? असिद्ध और सव्यभिचार में क्या अन्तर है?

२१—उभयतःपाश

१—उभयतःपाश के स्वरूप और भेदों का निश्चय कीजिये।

२—क्या उभयतःपाश वस्तुतः अपना निष्कर्ष सिद्ध करने में सफल होता है? समझाइये।

२२—संक्षिप्त और संयुक्त न्याय

१—संक्षिप्त न्याय के भेदों को स्पष्ट समझाइये।

२—अनुलोम न्यायमाला के नियमों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

३—प्रतिलोम न्यायमाला के भेद और नियमों को सिद्ध कीजिये।

२३—सिंहावलोकन

१—आगमन और निगमन की तुलना कीजिये। इनका परस्पर सम्बन्ध और अन्तर समझाइये।

२—सिलोजिज़्म की समालोचना कीजिये तथा इसके वास्तविक महत्त्व को स्पष्ट कीजिये।

२४—हेतु-दोष

१—विचार-विज्ञान के लिये हेतु-दोष का क्या महत्त्व है? इसका स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

२—निम्नलिखित दोषों की सोदाहरण परिभाषा कीजिये :—

(क) आत्माश्रय दोष, (ख) प्रतिज्ञावहेलना, (ग) उच्चारण दोष, (घ) संग्रह और विग्रह दोष (ङ) उपाधि दोष।

३—निम्नलिखित हेतुओं की परीक्षा कीजिये और यदि इनमें कोई हेतु-दोष हो तो कारण सहित समझाइये।

(१) सभी दार्शनिक कवि नहीं होते। अरविन्द एक दार्शनिक थे इसलिये वे कवि नहीं हो सकते।

(२) जो एक मनुष्य कर सकता है, वह दूसरा मनुष्य भी कर सकता है। गांधी जी ने राज्य-क्रान्ति उत्पन्न की; इसलिये तुम भी वही कर सकते हो।

(३) एक दिन बाज़ार में दूकान बन्द करने से दुकानदार की हानि होती है; इसलिये यदि सप्ताह में एक दिन सारा बाज़ार बन्द रहे तो भारी हानि होगी।

(४) केवल दीन को ही स्वर्ग का राज्य मिलता है। मैं दीन हूँ; इसलिये मैं स्वर्ग के राज्य का अधिकारी हूँ।

(५) इस विधान से सामाजिक चरित्र में अवश्य उन्नति होगी क्योंकि इसका उद्देश्य नागरिक के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाना है।

(६) जिनको भगवान् के दर्शन होते हैं वे असत्य नहीं बोलते। कमलनाथ को इसलिये अवश्य ही दर्शन हुए हैं क्योंकि वह स्वयं ही इस बात को बताते हैं।

(७) यदि युद्ध में साम्यवाद की विजय होती है तो साम्यवाद का प्रचार होगा; यदि पूँजीवाद की विजय होती है तो और ग़रीबी और भुखमरी बढ़ने से साम्यवाद का प्रचार होगा। इसलिये साम्यवाद का प्रचार अनिवार्य है।

(८) भारतवर्ष की पंचवर्षीय-योजना अवश्य सफल होगी क्योंकि इसके बनानेवाले बहुत योग्य अर्थशास्त्र के ज्ञाता हैं।

(९) जिस प्रकार व्यायाम से शरीर पुष्ट होता है, उसी प्रकार युद्ध से राष्ट्र की शक्ति बढ़ती है।

(१०) यदि समाज में प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है तो अवश्य ही सभी समाज सर्व-साधारण के सुख को चाहता है।

(११) यदि सब मनुष्य स्वभाव से ही सुख चाहते हैं, तो सुख ही मानव जीवन में वांछनीय पदार्थ है।

(१२) भारतवर्ष एक दीन देश है। हैदराबाद के नवाब एक भारतीय हैं इसलिये वे दीन हैं।

(१३) नेहरु अवश्य ही देशभक्त हैं, क्योंकि केवल निस्वार्थ व्यक्ति ही देश-भक्त होते हैं।

(१४) यदि कोई मनुष्य अपराधी होता है तो उसे दण्ड दिया जाता है। यह मनुष्य अपराधी नहीं है; इसलिये इसे दंड न मिलेगा।

(१५) आज निर्मल आकाश में अवश्य ओस पड़ेगी।

(१६) तुमने अपना मत कांग्रेस को क्यों दिया ?

(१७) तुमने उस व्यक्ति को मारकर छुरा कहाँ छिपाया था ?

(१८) तुम पूछते हो कि मैं शरीर से इतना दुर्बल क्यों हूँ। क्या तुम नहीं जानते कि मैं कितना बुद्धिमान् हूँ ?

(१९) मैं हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने का पुराना पोषक हूँ। इसलिये हिंदी में लिपि-सुधार के विषय में मेरा मत ही मानना चाहिए।

(२०) हमारे देश का शास्त्रीय संगीत बहुत ही उदात्त है। इसलिये फिल्म-संगीत में हमें अरुचि होनी चाहिये।

(२१) वेदों में ब्रह्म को 'कवि' कहा है। तुम कवि हो। इसलिये तुम्हें ब्रह्म कहा जा सकता है।

(२२) दुःखी मनुष्य पाप की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिये दुःख ही पाप का मूल है।

(२३) पुण्यात्मा सुखी होते हैं। सुखी स्वस्थ होते हैं। स्वस्थ संयमी होते हैं। इसलिये संयमी पुण्यात्मा होते हैं।

(२४) शास्त्रों के अनुसार राजा ईश्वर का अंश होता है। बड़ौदा का शासक राजा है। इसलिये वह ईश्वर का अंश है।

(२५) मैं तुमसे भिन्न हूँ। मैं मनुष्य हूँ। इसलिये तुम मनुष्य से भिन्न हो।

(२६) तुम्हारे पिता मनुष्य हैं। मैं मनुष्य हूँ। इसलिये मैं तुम्हारा पिता हूँ।

(२७) लोक-सभा ने संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ़्तार करने का नियम बनाया है। तुम लोक-सभा के सदस्य हो। इसलिये तुमने संदिग्ध व्यक्तियों को गिरफ़्तार करने का नियम बनाया।

(२८) इस समिति का प्रत्येक सदस्य योग्य है। इसलिये यह समिति बहुत ही योग्य है।

(२९) सभी काल्पनिक वस्तु मिथ्या होती है। सभी कवि काल्पनिक होते हैं। इसलिये सब कवि मिथ्या होते हैं।

(३०) यह मनुष्य अपराधी नहीं है, क्योंकि यदि हम प्रत्येक उन परिस्थितियों पर जिनके कारण इसे अपराधी ठहराया है अलग-अलग विचार करें, तो वे इतनी अनावश्यक सिद्ध होंगी कि उनसे अपराध सिद्ध नहीं हो सकता।

(३१) गुरखे निर्भय होते हैं। रणवीर गुरखा है इसलिये वह निर्भय है।

(३२) प्रत्येक परमाणु इतना छोटा होता है कि उसे देखा नहीं जा सकता। प्रत्येक भौतिक पदार्थ परमाणुओं से बना है; इसलिये किसी भौतिक पदार्थ को देखा नहीं जा सकता।

(३३) प्रत्येक दुर्बल व्यक्ति को स्वास्थ्य के लिये व्यायाम करना चाहिये। रामनाथ टी० बी० के कारण दुर्बल है। इसलिये स्वास्थ्य के लिये उसे व्यायाम करना चाहिये।

(३४) दान देना मनुष्य का कर्त्तव्य है, क्योंकि दीनों की सहायता करना मनुष्य के लिये उचित है।

(३५) तुम बड़े निर्बुद्धि हो, क्योंकि तुममें समझने की शक्ति नहीं है।

(३६) जो वस्तु है वह किसी न किसी स्थान पर अवश्य है। आत्मा है; इसलिए वह किसी न किसी स्थान पर अवश्य है।

(३७) आत्मा या भौतिक है या अभौतिक। आत्मा अभौतिक है। इसलिए वह भौतिक नहीं है।

(३८) हमें दुखियों की सहायता करनी चाहिए। जेल में पड़े व्यक्ति दुःखी होते हैं। इसलिए हमें उन्हें जेल से निकलने में सहायता देनी चाहिए।

(३९) धन की उत्पत्ति के लिए 'श्रम' आवश्यक है। इसलिए सम्पूर्ण सम्पत्ति श्रमिकों को मिलनी चाहिए।

(४०) समाज से बाहर मनुष्य या तो पशु होगा य देवता। परन्तु वह न पशु है न देवता।

(४१) यदि किसी देश की जन-संख्या बढ़ती है, तो वहाँ मज़दूरी कम होती जाती है। हमारे देश में मज़दूरी कम है, इसलिए यहाँ जन-संख्या बढ़ रही है।

(४२) काश्मीर भारतवर्ष का भाग है; इसलिये काश्मीर को भारतवर्ष के अधिकार में रहना चाहिए।

(४३) आत्मा का स्थान शरीर में कहाँ है? हृदय या मस्तिष्क?

४--निम्नलिखित हेतुओं की परीक्षा कीजिए और इनका विश्लेषण करके इनमें दोषों को स्पष्ट समझाइये।

(अ) आगमनात्मक युक्ति बनाइये जिसका निष्कर्ष हो : (१) युवकों के चारित्रिक पतन का कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव है। (२) तम्बाकू का प्रयोग हानिकर होता है। (३) अधिक पढ़ने से आँखें दुर्बल हो जाती हैं। (४) दूध के अभाव से बच्चे निर्बल होते हैं। (५) वनस्पति तेल स्वास्थ्य के लिये हानिप्रद है।

(आ) मंगल ग्रह में भी पृथ्वी की भाँति वायुमंडल, जल, वनस्पति आदि हैं। परन्तु पृथ्वी पर जीवी-सृष्टि भी है, इसलिये मंगल में भी जीवी-सृष्टि होनी चाहिए।

(इ) तुम्हारी आकृति अपने भाई से मिलती है। परन्तु तुम्हारा भाई चतुर है; इसलिये तुम भी चतुर होगे।

(ई) सब धर्म ईश्वर की ओर जाने के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। देखो, सभी नदियाँ समुद्र में जा मिलती हैं।

(उ) अगस्त ४, १९५२ हिन्दुस्तान टाइम्स में छपा : "एक २८ वर्ष की अँगरेज युवती डाक्टर के पास गई, क्योंकि उसका रंग पीला पड़ने लगा। उसने बिना किसी विश्वास के बताया कि सम्भवतः वह बहुत अधिक गाजर खाती है। उसको निरीक्षण के लिये अस्पताल भेजा गया और गाजर बिल्कुल बन्द कर दिये गये। उसको फिर अपना स्वाभाविक रंग प्राप्त हो गया। उसने बताया था कि एक वर्ष तक उसने प्रतिदिम १ पौंड गाजर खाई थी।"

(ऊ) अगस्त ४, १९५२ हि० टा० : "एक ब्रिटिश मेडीकल जरनल ने बताया कि एक व्यक्ति की सिर-पीड़ा स्थायी सी हो गई थी और सभी डाक्टर विस्मित थे। कुछ समय पश्चात् मालूम हुआ कि वह व्यक्ति बहुत सख्त 'कॉलर' पहनता था।"

(ए) अगस्त २८, १९५१ हि० टा० "यू० पी० एसेम्बली में रेवन्यू मंत्री ने कहा कि बच्चों की पैदावार को रोकने से (बर्थ कन्ट्रोल) नदियों में बाढ़ को रोका जा सकता है। पहाड़ी प्रदेशों में जन-संख्या के शीघ्र बढ़ने से वनों में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं और ज़मीन की बहुत माँग बढ़ गई है जिसके कारण वनों को काट डाला गया है। इस

कारण मैदानों में प्रतिवर्ष भयंकर बाढ़ आती है। इसलिये बाढ़ का नियंत्रण और जन-संख्या का नियंत्रण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।"

(ऐ) अक्टूबर २६, १९५१ हि० टा० : "५० व्यक्ति जिनमें पुरुष, स्त्री और बच्चे भी शामिल हैं कल संध्या को भोजन करने के बाद पागलों की तरह व्यवहार करने लगे। कुछ ने अपने कपड़े फेंक दिये और नंगे घूमने लगे। दूसरे आधी रात हल चलाने लगे और कुछ लोग बड़े स्वाद से मिट्टी खाने लगे......सन्देह किया जाता है कि जो आटा उन्होंने खाया था उसमें कोई विष था। जिस मिल से आटा मिला, था उसे बन्द कर दिया गया है।"

(ओ) अक्टूबर १०, १९५१, को गृह-मंत्री ने प्रेस-बिल पर बोलते हुए कहा, "जो वस्तु अपराध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है, वह अपराधी से भी अधिक दण्डनीय है।......हम लोग हथियार को दण्ड नहीं देते, किन्तु उसके प्रयोग करनेवाले को दंड का भागी समझते हैं। हम उस धनी व्यक्ति को दण्ड देते हैं जो किसी किराये के आदमी से धन देकर अपराध कराता है। समाचार-पत्रों से अपराध के लिये प्रोत्साहन अधिक भयंकर है, क्योंकि इसका प्रचार बहुत अधिक होता है।"

औ—अक्टूबर १०, १९५१ हि० टा० : प्रेस-बिल पर बोलते हुए गृह-मंत्री का वक्तव्य "प्रेस-एसोसिऐशन का कथन है कि प्रेस के विषय में कोई अलग नियम नहीं होने चाहियें और उसके साथ साधारण नागरिक जैसा ही व्यवहार करना चाहिए...मैं इस कथन से सहमत नहीं... हम सड़क पर चलने वाली बैलगाड़ी के लिये कोई नियम नहीं बनाते। परन्तु तेज़ चलने वाले यानों के आने से (मोटरकार आदि) हम कठोर नियम बनाने को बाध्य होते हैं, यद्यपि कोश के अनुसार बैलगाड़ी और मोटरकार दोनों ही 'यान' कहलाते हैं। इसी प्रकार हम परमाणु बम्ब और लाठी के लिये समान नियम नहीं बनाते, यद्यपि दोनों ही हथियार हैं।"

(अं) अमेरिका में परमाणु बम्ब विस्फोट के कई प्रयोग किये गये। इसके अनन्तर ही आल्पस पर्वत पर भयंकर वर्षा हुई जिससे उत्तर इटली

में बाढ़ आई। एक वैज्ञानिक का विचार है कि यह विस्फोट ही अत्यधिक वर्षा का कारण है।

(अः) सन् १९५१ में सरकार ने ज़मींदारी प्रथा को तोड़ दिया और इसी वर्ष वर्षा कम होने से खेती को हानि हुई। एक व्यक्ति ने अनुमान लगाया कि ज़मींदारी तोड़ना ही इस हानि का कारण है।

(क) आसाम में कुछ लोगों ने बताया कि एक रात को उन्होंने अत्यन्त भयंकर गर्जना पर्वतों से आती हुई सुनी। इसके अनन्तर ही उन्होंने देखा कि पृथ्वी फट गई और चारों ओर पानी भर गया। यह भयंकर शब्द ही पृथ्वी के फटने का कारण है।

(ख) अगस्त ३१, १९५२ : "डा० राय किंग, दर्शन के आचार्य ने कहा कि एक निरन्तर दोष निकालने वाली पत्नी अपने पति को मद्यप बना सकती है। उसने बताया कि मद्यपान का सबसे बड़ा कारण पलायन की इच्छा है। विनोद के अन्य साधनों की भाँति ही मद्यपान भी पलायन का साधन है।"

(ग) अगस्त ३१,१९५२, "डा० जे० एम० हरमन ८४ वर्ष की अवस्था में स्वास्थ्य-विभाग की अफसरी से कार्य-मुक्त हुए। उन्होंने अपने प्रशंसकों को विदाई के अवसर पर बताया—सारे जीवन भर, प्रतिदिन, प्रत्येक स्वास्थ्य के नियमों को तोड़ते रहो। मैंने जीवन भर यही किया है।"

(घ) इंगलैंड के कुछ जीव-विज्ञान-वेत्ताओं ने मेढकों के जीवन का विशेष अध्ययन प्रारम्भ किया है। उनका विश्वास है कि उनकी आदतों के ज्ञान से सड़क पर होनेवाली आकस्मिक घटनायें कम हो जायँगी। अपने प्रिय स्थानों को जाते हुए मेढकों के कुचल जाने से कारें बहुधा फिसल जाती हैं।

(ङ) सन् १९४७ में ज्यों ही अंग्रेजी सेना और शासन भारत से गया त्यों ही यहाँ बहुत रुधिर-पात हुआ। अतः अंग्रेजी शासन ही यहाँ शान्ति रखने में समर्थ था।

(च, पाकिस्तान मुसलमानी राष्ट्र है और काश्मीर में अधिक संख्या मुसलमानों की है। इसलिये काश्मीर पाकिस्तान का भाग है।

(छ) हमारे प्रदेश में ज्यों ही खाद्य-पदार्थों से प्रतिबन्ध हटाया गया, इनके मूल्य में वृद्धि होने लगी। इसलिये प्रतिबन्ध हटाना ही मूल्य-वृद्धि का कारण है।

(ज) भारत में अंग्रेज़ी राज्य से पहले सड़कें कम थीं और लोग बहुत कम यात्रा करते थे। पिछली शताब्दि के मध्य से सड़कें और रेलें प्रारम्भ हुई और यात्रा की प्रवृत्ति भी बढ़ने लगी। बीसवीं शताब्दि के प्रारंभ में तो यातायात और रेलों, सड़कों और कई प्रकार के यानों में साथ ही बहुत वृद्धि हुई। और, इस समय तो जितने अधिक साधन हो गये हैं, उनसे भी अधिक इनके लिये माँग है। अधिक साधन होने से और भी यातायात बढ़ेगा। यह सिद्ध होता है कि यातायात के साधनों में वृद्धि के कारण यातायात में बहुत वृद्धि होती है।

(झ) हमारे देश की जन-संख्या १८७१ में इस समय से आधी थी। इसके बाद प्रतिदशाब्दि में जन-संख्या की वृद्धि कुछ करोड़ होती रही। सन् १६११ में यहाँ प्रतीत हुआ कि कुछ लोग भुखमरी से ग्रस्त हैं। बेकारी, भुखमरी, स्वास्थ्य भी धीरे-धीरे गिरता रहा। १६२६ में साइमन कमीशन ने पता लगाया कि यहाँ दूध पीनेवाले बच्चे प्रतिशत एक भी नहीं हैं। हमारे समय तक जन-संख्या दूनी और साथ ही वस्तुओं के मूल्य में, बेकारी और भुखमरी में वृद्धि हुई, स्वास्थ्य भी पहले की अपेक्षा गिर गया है। जन-संख्या की वृद्धि ही इन सब का कारण है।

(ञ) फ्रायड ने देखा कि उसकी दवाई का रोगी के ऊपर बहुत समय तक कोई प्रभाव नहीं हुआ। एक दिन उसने रोगी से उसके दुःख की बातें पूछीं और कोई दवाई नहीं दी। अगले दिन उसे पहले की अपेक्षा स्वस्थ देखकर फ्रायड को आश्चर्य हुआ।

(ट) हिन्दुस्तान टाइम्स-अक्टूबर १३,'५१--"गुलाब के ऊपर कृत्रिम खादों

का प्रभाव जानने के लिये कुछ प्रयोग किये गये हैं। फल-स्वरूप पता लगा है कि एमोनियम सल्फेट अकेला या किसी अन्य खाद से मिलकर गुलाब को सबसे अधिक पुष्ट बना देता है। प्रयोगों में इसकी परीक्षा के लिये छः खेत लिये गये। भाँति-भाँति के खाद गुलाब के समान आयु के पौधों के लिये लगाये। एमोनियम सल्फेटवाले खेत में गुलाब की उपज २८ मन प्रति एकड़ हुई। एमोनियम सल्फेट और साधारण गोबर के खादवाले खेत में २४ मन प्रति एकड़ उपज हुई। शेष ४ खेतों में सुपर फोस्फेट, पोटेशियम नाइट्रेट, एमोनियम सल्फेट और सुपर फोस्फेट मिलाकर, और नाइटर और साधारण खाद का प्रयोग किया गया जिसके फलस्वरूप पैदावार १८ और २३ मन प्रति एकड़ के बीच हुई।

(ठ) चमेली के फूलों पर भिन्न-भिन्न खादों के प्रभाव को जानने के लिये किसी आगमन-विधि के अनुसार प्रयोग बताइये।

(ड) कुछ छोटे बच्चों को मक्खन निकले दूध पर रक्खा गया और देखा कि पहले की अपेक्षा जब वे मक्खन समेत दूध पीते थे अब उनका पाचन अच्छा है। क्या दूध में मक्खन का अंश पाचन के लिये हानिकारक तो नहीं होता।

(ढ) डार्विन ने दो पास पास क्यारियों में भाँति-भाँति के फूल लगाये। एक को जाल से इस प्रकार ढक दिया कि उसको वायु, धूप मिल सकें, परंतु कोई जीव तितली-मक्खी आदि न जा सके। कुछ काल के अनन्तर उसने देखा कि जिस क्यारी पर जाल लगा था, उसमें दूसरी क्यारी की अपेक्षा कम बीज प्राप्त हुए।

(ण) डार्विन ने देखा कि एक वन के चारों ओर के पेड़ छोटे, कम पत्ते वाले, और गहरी जड़ वाले हैं। यहाँ बकरी, गाय आदि जानवर चरते हैं। वन के मध्य भाग में पेड़ ऊँचे, घने पत्ते वाले और सुन्दर हैं। वहाँ ये जीव चरने के लिये नहीं जाने पाते। उसने अनुमान किया कि इन जानवरों का भय ही वनों के दो भागों में वृक्षों के अंतर होने का कारण है।

(त) डार्विन ने अनेक जीवों के नाड़ी-तंत्र, मस्तिष्क, आदि का अध्ययन किया और देखा कि ज्यों-ज्यों ये अधिकाधिक जटिल होते जाते हैं त्यों-त्यों जीवों में अधिक बुद्धि पाई जाती है। उसने निश्चय किया कि नाड़ी-तंत्र की जटिलता ही मनुष्य आदि जीवों में विशेष बुद्धि का कारण है।

(थ) एक चिम्पांज़ी बन्दर को एक रस्सी से बाँध दिया गया और उसकी पहुँच के बाहर कुछ ऊँचाई पर एक केला लटका दिया गया। उसके पास एक बाँस का टुकड़ा रक्खा जिससे वह उस केले को ले सके। प्रयोग से सिद्ध हुआ कि जब उसे बाँस से केला उतार कर दिखा दिया गया तो उसने केला अनुकरण करके उतार लिया और बिना दिखाये वह केले को बाँस से न उतार सका। यह प्रयोग कई बन्दरों पर किया गया। इससे सिद्ध हुआ कि बन्दर अनुकरण द्वारा सीखने में समर्थ होते हैं।

(द) एक व्यक्ति ने दो स्त्रियों से विवाह किया जिनमें से एक पागल और निर्बल थी तथा दूसरी चतुर, शान्त और अच्छे चरित्र वाली थी। इन दोनों स्त्रियों से दो वंश चले। पहले वंश के इस समय कई सौ आदमी हैं जिनमें से अधिकांश चोर, उचक्के, जेबकट, भिखारी हैं। दूसरे वंश के बहुत मनुष्य वकील, डाक्टर और लेखक हैं। इससे सिद्ध हुआ कि वंश के गुण क्रमागत रूप से सन्तान को प्राप्त होते हैं।

(ध) तीन गवाहों ने बताया कि उन्होंने अमुक व्यक्ति को चोरी करते देखा था। परंतु अभियुक्त ने कहा कि वह ऐसे तीस गवाह ला सकता है जो यह कह सकते हैं कि उन्होंने उसे चोरी करते नहीं देखा।

न—छोटे पौधे को रक्षा की आवश्यकता होती है, पेड़ को नहीं। अपने शिशु-राष्ट्र की रक्षा के हित हमारे लिये भी यह 'सिक्योरिटी बिल' अनिवार्य है।

प—आँखों देखी वस्तु का विश्वास किया जाता है। हम सूर्य का आकाश में घूमना आँखों से देखते हैं। इसलिये हम विश्वास करते हैं कि सूर्य आकाश में घूमता है।

फ—जब बीज नष्ट हो जाता है तब इससे पौधा उत्पन्न होता है। इसी प्रकार विनाश से उत्पत्ति है और यह सारा विश्व भी इसी भाँति शून्य से उत्पन्न हुआ है।

ब—काल-चक्र के अनुसार यदि भयंकर शीत आया है तो इसके अनन्तर शीघ्र ही सुहावना वसंत भी आवेगा। हमारे देश की विपत्ति भी, हम आशा करते हैं, दूर होने वाली है क्योंकि विपत्ति के अनन्तर सम्पत्ति अवश्य आती है।

भ—एक मनोवैज्ञानिक ने संसार के प्रतिभाशाली व्यक्तियों के जीवन का अध्ययन किया और पता लगाया कि चाहे वे कवि, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि कोई भी हुए हों, प्रत्येक में या तो चारित्रिक दोष, संकल्प की दुर्बलता, सनक या विक्षिप्तता अथवा कोई मानसिक व्याधि अवश्य थी। उसने निष्कर्ष निकाला कि यह मानसिक दुर्बलता ही प्रतिभा की उत्तेजक होती है।

म—जो मनुष्य स्वस्थ देखे जाते हैं वे बहुधा प्रसन्न-चित्त पाये जाते हैं। जो मनुष्य प्रायः अस्वस्थ रहते हैं, वे किसी न किसी मानसिक उद्वेग से ग्रस्त पाये जाते हैं। अतएव मानसिक उद्वेग ही अस्वास्थ्य का कारण है।

य—सितंबर ६, १९५२ हि० टा० "बच्चे बड़ों की अपेक्षा अधिक ईमानदार होते हैं। दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी में पढ़नेवालों के आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकलता है। एक वर्ष में १,२२,२६० पुस्तकें पाठकों को उधार दी गईं, जिनमें से कई बार स्मरण दिलाने पर ७ बड़े लोगों ने पुस्तकें नहीं लौटाईं; परन्तु बच्चों ने उधार ली हुई सब पुस्तकें लौटा दीं। केवल २६ लड़कों को साधारण रूप से स्मरण दिलाने की आवश्यकता हुई।"

पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी रूपान्तर

अन्तःसंवाद सिद्धान्त (संगति)	Law of Consistency
अनुविपरीत	Sub-contrary
अभावात्मक	Negative
अन्वेषण	Investigation
अ-निरीक्षण	Non-observation
अनन्तरानुमान	Immediate Inference
अन्वय विधि	Method of Agreement
अन्वय-व्यतिरेक विधि	Joint method of Agreement and Difference
अन्वय-साहचर्य	Co-presence
अनुलोम	Progressive
अलंकार दोष	Fallacy of Figure of Speech
अज्ञान-जन्य प्रतिज्ञावहेलना	Argumentum ad Ignorantiam
असम्बद्धता दोष	Non-sequitur
आधार वाक्य, आश्रय	Premises
आदर्श	Norm, Ideal
आकस्मिक गुण	Accident
आगमन	Induction
आकृति	Figure
आत्माश्रय दोष	Petitio Principii
'इसके अनन्तर, इसलिये इस कारण' दोष	Post hoc ergo Propter hoc

उद्देश्य	Subject
उपादान कारण	Material Cause
उत्तेजक कारण	Exciting Cause
उत्तरवर्त्ती घटना	Consequent event
उपनय	Application
उभयतःपाश	Dilemma
उच्चारण दोष	Fallacy of Accent
उपाधि दोष	Fallacy of Accident
एकता-सिद्धान्त	The Principle of Unity of Nature
औपन्यासिक कल्पना	Gratuitous hypothesis
कल्पना	Hypothesis
कारण-बहुल सिद्धान्त	The Doctrine of Plurality of Causes
कारण-सहयोग	Conjunction of Causes
कार्य-विमिश्रण	Intermixture of Effects
कारण-कार्य सिद्धान्त	The Principle of Causation
गणना-विधि	Method Enumeration
गुणबोधक पद	Abstract Term
चेतन कारण	Efficient Cause
चरम कारण	Final Cause
जाति	Genus
तादात्म्य सिद्धान्त	Law of Identity
द्विधा विभाजन	Division by Dichotomy
निष्कर्ष	Conclusion
निरीक्षण	Observation
निरपेक्ष	Absolute

निषेध	Negation
निगमन	Deduction
न्याय वाक्य	Syllogism
निग्रह	Catching the Dilemma by the Horns
निर्गमन	Esceping the Dilemma between the Horns
निश्चायक घटना	Crucial Instance
निराकरण	Elimination
निन्दा-जन्य प्रतिज्ञा ग्रहेलना	Argumentum ad Hominеum
पद	Term
परिभाषा	Definition
परतः संवाद सिद्धान्त	Material Consistency
प्रवृत्ति-साफल्य सिद्धान्त	Prgamatism
पूर्ववर्त्ती घटना	Antecedent event
परीक्षण	Examination
प्रयोग	Experiment
परिवर्त्तन	Conversion
प्रतिवर्त्तन	Obversion
परिवर्त्तित प्रतिवर्त्तन	Contraposition
परम्परानुमान	Mediate Inference
पक्ष	Subject-minor Term
प्रतिक्षेपक तर्क	Counter Dilemma
परिणाम विधि	The method of Hypoth-esis
प्रतिक्षेप	Rebuttal
प्रतिलोम	Regressive

प्रतिज्ञावहेलना	Ignoratio Elenchi
बहुल दोष	Ambiguity
बलात् अवहेलना दोष	Argumentum ad Baculum
भावात्मक	Positive
भ्रान्त निरीक्षण	Mal-observation
मूल-सिद्धान्त	Postulate
युक्ति	Argument
युक्तिमाला	Chain of Reasoning
रचना-दोष	Equivocation
रूपान्तरकरण	Reduction
लुप्तावयव अनुमान	Enthymeme
विचार का स्वरूप	Nature of Thought
विश्लेषण	Analysis
विश्लेषण-संश्लेषणात्मक	Analytic-synthetic
वास्तविक-वस्तुगत	Material
विचार के आकार-प्रकार	Forms of Reasoning
विशेष, विशिष्ट	Particular
विधेय	Predicate
वस्तुबोधक	Concrete
वदतोव्याघात	Self-contradiction
विधान	Affirmation
वैकल्पिक	Disjunctive
वाच्य-धर्म	Predicables
व्यावर्त्तक गुण	Differentia
विभाग	Division
वर्गीकरण	Classification
व्याघात	Contridiction
विपरीत	Contrary

विपर्यय	Inversion
विघातक	Destructive
विधायक	Constructive
विग्रह दोष	Fallacy of Division
विलोम उपाधि दोष	Converse fallacy of Accident
विषयान्तर दोष	Fallacy of Shifting the Ground
संश्लेषण	Synthesis
सामान्य नियम	General Laws
स्वभाव	Nature
सामान्य	Universal
सामान्य-सिद्धान्त	Uniformity of Nature
सापेक्ष	Relative
सहज गुण	Property
समावेश	Sub-alternation
स्वरूप कारण	Formal Cause
संस्थान	Collocation
सामान्यीकरण	Generalization
सिद्ध-संयोग	Mood
साध्य	Predicate, Major Term
सरल	Simple
संकुल	Complex
संश्लिष्ट	Complex
संग्रह दोष	Fallacy of Composition
सम्मान-जन्य प्रतिज्ञावहेलना	Argumentum ad verecandium
संवेग-जन्य प्रतिज्ञावहेलना	Argumentum ad Populum

संकुलित प्रश्न दोष	Fallacy of Complex Question
हेतु-दोष	Fallacy
हेतु-पद	Middle term
हेतु-फलाश्रित	Disjunctive